हेमचन्द्र-मोदी-पुस्तकमाला

प्रथम पुष्प

भारतीय संस्कृति और अहिंसा

मूल लेखक

स्व० धर्मानन्द कोसम्बी

पं० विश्वनाथ दामोदर शोलापुरकर

प्रकाशक

हेमचन्द्र-मोदी-पुस्तकमाला ट्रस्ट

प्रकाशकीय

अध्यापक कोसम्बीजीने काशी-विद्यापीठमें रहते हुए 'हिन्दी संस्कृति और अहिंसा' को लिखा था। काशी विद्यापीठके प्राण, असाधारण विद्याप्रेमी और देशभक्त स्व० बाबू शिवप्रसाद गुप्तकी प्रबल इच्छा थी कि उक्त मराठी पुस्तक हिन्दी भाषा-भाषियोंके लिए भी सुलभ हो जाय, इसलिए उन्होंने पं० विश्वनाथ दामोदर शोलापुरकरसे उसका यह हिन्दी अनुवाद, सन् १९३७ के लगभग करा लिया था। परन्तु गुप्तजीकी असाध्य और लम्बी बीमारी और अन्य कई कारणोंसे यह यों ही पड़ा रहा। अन्तमें कोसम्बीजीने जब कि वे सरयूतट दोहरीघाटपर अनशन लेने जा रहे थे, इसे पं० सुखलालजीके द्वारा मेरे पास प्रकाशित करनेके लिए भेज दिया और अब मैं अपने स्वर्गीय पुत्र हेमचन्द्रकी स्मृतिमें इसे पाठकोंके समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ।

स्वर्गीय गुप्तजी, अनुवादक पं० विश्वनाथजी, दिवंगत कोसम्बीजी और श्रद्धेय पं० सुखलालजीका मैं कृतज्ञ हूँ जिनके पारस्परिक पूरक प्रयत्नसे अन्तमें यह पुस्तक इस रूपमें प्रकट हो रही है।

जून, १९४८ —नाथूराम प्रेमी

पुनश्च—लगभग ९ वर्ष बाद यह दूसरी आवृत्ति ज्योंकी त्यों प्रकाशित हो रही है। इस बीच स्व० कोसम्बीजीका 'भगवान् बुद्ध' हिन्दीमें प्रकाशित हो चुका है जिसकी हिन्दी संसारमें काफी चर्चा हुई है और 'पार्श्वनाथका चातुर्याम धर्म' इस मालाके नौवें पुष्पके रूपमें प्रकाशित हो रहा है। आशा है कि कोसम्बीजीके साहित्यकी ओर पाठकोंकी रुचि बढ़ेगी।

१५-८-५७

प्रस्तावना

सामान्य मनुष्यके अन्तःकरणको भगवान् बुद्धने अरक्षित शाल-वनकी उपमा दी है। उन्होंने कहा है, "भिक्षुओ, समझ लो कि किसी गाँव या नगरके पास एक शालवन एरण्ड वृक्षोंसे आच्छादित हो रहा है। अब यदि कोई मनुष्य उसकी सुधारणा और अभिवृद्धि करना चाहता है, तो वह पहले उस वनके बाँके-टेढ़े विनाशक वृक्षोंको निकाल बाहर करेगा और जंगल साफ करके शाल-वृक्षोंके सीधे पौधोंको बढ़ने देगा। इससे वह शालवन कुछ समयमें वृद्धिंगत हो जायगा। उसी तरह हे भिक्षुओ, तुम अकुशल विचारोंको अलग कर दो और कुशल विचारोंकी बढ़ती करनेके लिए प्रयत्न करो। इससे तुम्हारी अभ्युन्नति होगी।" —मज्झिमनिकाय, ककचूपम सुत्त।

इस उपमाके एरण्डाच्छादित शालवन जैसी अवस्था ही भारतीय संस्कृतिकी हो रही है। सैकड़ों बरसोंकी लापरवाहीसे इसमें कुसंस्कारोंका जंगल बढ़ गया है और उसे उखाड़ फेंके बिना सुसंस्कारोंका विकास नहीं हो सकता। इसके संशोधन कार्यमें यदि भावी संशोधकों या खोज करनेवालोंको इस पुस्तकका थोड़ा-सा भी उपयोग हुआ, तो मेरा परि-श्रम सार्थक हो जायगा।

चार पाँच वर्षसे इस पुस्तकको लिखनेका विचार हो रहा था; परन्तु अनेक अड़चनोंके कारण उसे मूर्त्त स्वरूप न दे सका था। अन्तमें कुछ आप्त-मित्रोंसे आर्थिक सहायता लेकर मैंने काशीवास स्वीकार किया और यहाँ काशी विद्यापीठके संचालकोंने मेरे रहनेकी सुन्दर व्यवस्था कर दी। इससे यह काम अनायास ही पूरा हो गया। अतएव आर्थिक सहायता देनेवाले आप्त मित्रों और विद्यापीठके संचा-लकोंका मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

काशी विद्यापीठ
५–१२–१९३५

—ग्रन्थकर्ता

विषय-सूची

आधारभूत ग्रन्थोंकी सूची

१ ऋ० = ऋग्वेद

२ महाभारत, औंध, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा अनुवादित और प्रकाशित, शक संवत् १८४५—१८५४ ।

३ महाभारत, कुम्भकोण, सम्पादक टी. आर. कृष्णाचार्य और टी. आर. व्यासाचार्य, निर्णयसागर प्रेस, सन् १९०६—१९०९ ।

४ बृहत्संहिता, वराहमिहिरकृत, लक्ष्मीवेंक्टेश्वर प्रेस, बम्बई, संवत् १८४८ ।

५ मञ्जुश्रीमूलकल्प, प्रथम भाग (Imperial History of India, by K. P. Jayaswal. Lahore 1934.)

६ श्री काललोकप्रकाश, विभाग ३-४, श्री जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर, सन् १९३४ ।

७ तत्त्वसंग्रह, बड़ौदा, सन् १९२६ ।

८ तिपिटक, सयामराष्ट्रीय संस्करण, बौद्धवर्ष २४७० ।

९ जातक-अट्ठकथा (Edited by V. Fausboll. London. 1877—1896.)

१० कबीरसाहबका बीजक, वेंकटेश्वर प्रेस, शक संवत् १८२६ ।

११ तुकारामची गाथा, निर्णयसागर प्रेस, सन् १९२७ ।

१२ A History of Sumer and Akkad, by L. W. King. London 1916.

१३ A History of Babylon, by L. W. King. London 1915.

१४ Myths of Babylonia and Assyria, by Donald A. Mackenzie. London.

१५ Buddhist Records of the Western world (Si-Yu-Ki) Translated by Samuel Beal. London 1906.

१६ Alberuni's India. Translated by E. C. Sachau. London 1910.

१७ The Early History of India. by Vincent A. Smith. Oxford 1924.

१८ Political History of Ancient India, by Hemchandra Raychaudhuri. Calcutta 1927.

१९ Ancient India, by Krishnaswami Aiyangar. London 1911.

२० Mediaeval India, by S. Lane-Poole. London 1926.

२१ Vaishnavism Shaivism And Minor Religious Systems, by Sir R. G. Bhandarkar. Poona 1928.

२२ A Peep into the Early History of India, by Sir R. G. Bhandarkar, Taraporevala Sons. Bombay 1930.

२३ The Outline of History, by H. G. Wells. London.

नोट—वि० अर्थात् विभाग (पुस्तकका)

अवलोकन

लेखक, **प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी संघवी**

स्वर्गीय पं० धर्मानन्द कोसम्बी अब इस दुनियामें नहीं हैं। जब सन् १९३५ में उन्होंने काशी विद्यापीठमें रहते हुए 'हिन्दू संस्कृति आणि अहिंसा' लिखना शुरू किया था, तब मैं हिन्दू विश्वविद्यालयमें अध्यापक था। उन दिनों वे प्रायः प्रतिदिन ही मिला करते और अपने विचारित विषयपर चर्चा किया करते थे। इससे मैं इस पुस्तकके विचारोंसे बहुत कुछ परिचित हो गया था।

मराठी पुस्तक प्रकाशित हो चुकनेके बाद जब इसका गुजराती अनुवाद कराया गया और वह प्रकाशित होने लगा, तब कोसम्बीजीने मुझे लिखा कि मैं उसके प्रारम्भमें कुछ अवलोकन रूपमें लिख दूँ। यद्यपि मैं अपना अनधिकार स्पष्ट जानता था, परन्तु उनके साथ मेरा जो चिरकालका विद्या-सम्बन्ध था, साथ ही सौहार्द भी, उसके कारण अन्तमें मुझे उनके आदेशको शिरोधार्य करना पड़ा। मैं उस समय गर्मियोंमें आबू देलवाड़ा गया था, वहीं एकान्तमें बैठकर मैंने यह 'अवलोकन' लिखवा दिया। परन्तु जब किसी कारणसे उस गुजराती अनुवादके साथ यह प्रकाशित न हो सका तब कोसम्बीजीने मुझे लिखा कि मैं इसे कहीं किसी पत्रमें प्रकाशित करा दूँ, परन्तु फिर यह पड़ा ही रह गया और मेरी स्मृतिसे भी उतर गया।

कोसम्बीजीकी अन्तिम इच्छाके अनुसार जब यह हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होने लगा, और प्रेमीजीने भी मुझसे अनुरोध किया कि मैं इसकी प्रस्तावना लिख दूँ तब मुझे आबूमें लिखे हुए अपने उस अवलोकनकी याद आ गई, जिसकी कि कापी सौभाग्यसे मेरे मित्र पं० दलसुख मालवणिया (हिन्दू विश्वविद्यालयके जैन-दर्शनाध्यापक) ने सँभालकर रख छोड़ी थी। मैंने उसे मँगा लिया और एक बार फिर सावधानीसे सुन गया। मुझे उसमें विशेष परिवर्तनकी जरूरत नहीं मालूम हुई, बहुत मामूली हेर-फेर और कुछ जरूरी वृद्धि करके ही मैंने इसे प्रेमीजीको प्रस्तावनाके रूपमें प्रकाशित करनेके लिए दे दिया।

देते समय यह खयाल मुझे जरूर हुआ कि स्व० कोसम्बीजी अब इस संसार में नहीं हैं और अवलोकनमें उनकी विचारसरणिकी कहीं-कहीं समालोचना की गई है। वे स्वयं अपने विचार पूर्ण स्वतन्त्रतासे प्रकट करते थे और दूसरोंको भी प्रकट करनेका अवसर देते थे, इसलिए उनके विद्यमान रहते तो हिचकिचाहटका कोई कारण नहीं था। पर इस समय वह बात नहीं रही, इसलिए मैं रुक गया और मैंने यह अवलोकन दो-तीन उन सुयोग्य और तटस्थ मित्रोंको पढ़नेके लिए दिया जो कोसम्बीजीके प्रति अनन्य आदरशील और विचारशील हैं। जब उन सबकी राय हो गई कि इसके प्रकाशित करनेमें कोई संकोच न होना चाहिए, तब कहीं जाकर मैं निश्चिन्त हो सका।

मानवोंकी सामान्य मनोदशा अधिकांशमें एकतरफा झुकावकी होती है। अनेक लोग ऐसे देखे जाते हैं जो परापूर्वसे चली आनेवाली बातोंसे अक्षरशः चिपके रहकर उनमें सरासर दिखाई देनेवाली असंगति या असत्यताको भी अलग छाँटकर नहीं देख सकते और दूसरे कुछ ऐसे होते हैं कि जो किसी बातका एक अंश यदि असंगत या असत्य मालूम होता है तो उस सारी ही बातको असत्य मानकर उसमेंसे सत्य या सारको अलग नहीं छाँट पाते। और जब 'धार्मिक' जैसा नाजुक विषय होता है तब तो उक्त मनोदशा समझदार और पढ़े-लिखे समझे जानेवाले लोगोंतकमें अक्सर देखी जाती है। पर ये दोनों एकान्त हैं। सत्य जाननेका रास्ता बीचका है। पाठकोंसे अनुरोध है कि वे इस पुस्तकको पढ़ते समय विवेकसे काम लें। कोसम्बीजीकी तीव्र आलोचनासे भड़ककर उनके सत्य कथन और सत्य दृष्टिकोणकी उपेक्षा न करें। इसी तरह मेरे अवलोकनगत विचारोंको अपने अनुकूल पाकर केवल उन्हींके बलपर अपनी समग्र मान्यताका समर्थन न करें। वे सब बातोंपर शान्तिसे विचार करें और एकमात्र सत्य समझनेका आग्रह रखें।

ऐतिहासिक युगसे हजारों वर्ष पहलेसे अबतकके दीर्घतम काल-पटपर सतत बहती हुई भारतीय संस्कृतिके अनेक छोरोंको स्पर्श करनेवाले विविध अध्ययन और चिन्तनसे परिपूर्ण इस पुस्तकके विषयमें अधिकार-

पूर्वक कुछ लिखनेके लिए कमसे कम मूल लेखकके जितना अध्ययन, अवलोकन और चिन्तन होना चाहिए। परन्तु इस समय मेरे पास जो स्वल्प साधन-सामग्री है, उसीसे यह कार्य पूरा करना है। यह संभव नहीं कि मैं मूल लेखकको और पुस्तकमें प्रतिपादित विषयोंके साथ सीधा सम्बन्ध रखनेवाले करोड़ों वैदिकों, बौद्धों और लाखों जैनोंको,—अपनी अति परिमित शक्तिके बलपर उचित और पूरा न्याय दे सकूँ। यह काम तो किसी समर्थतम व्यक्तिको करना चाहिए। मेरा कार्य तो इस दिशामें एक प्राथमिक और अधूरा पदसंचार करने जैसा गिना जाना चाहिए।

नामके अनुसार पुस्तकका प्रतिपाद्य विषय 'भारतीय संस्कृति और अहिंसा' है। इस मुख्य विषयके लेखकने पाँच विभाग किये हैं। प्रत्येक विभागमें दूसरे अनेक गौण और अवान्तर शीर्षकोंके नीचे अनेक विषयोंकी चर्चा की गई है। परन्तु प्रत्येक चर्चा प्रत्येक मुख्य विभागके साथ और अन्तमें पुस्तकके मुख्य प्रतिपाद्य विषयके साथ पूर्ण संगत हो जाय, इसपर पूरा ध्यान रखा गया है। वैदिक संस्कृति, श्रमण संस्कृति, पौराणिक संस्कृति, पाश्चात्य संस्कृति तथा संस्कृति और अहिंसा ये पाँच विभाग मुख्य हैं। भारतीय संस्कृतिसे लेखकको वस्तुतः ब्राह्मण और श्रमण ये दो संस्कृतियाँ विवक्षित हैं। ब्राह्मण संस्कृतिमें वैदिक और पौराणिक संस्कृतिका समावेश हो जाता है। श्रमण संस्कृतिमें जैन और बौद्ध इन दो संस्कृतियोंको गिननेपर भारतीय संस्कृति शब्दसे विशाल अर्थमें वैदिक संस्कृति, बौद्ध और जैन संस्कृति भारतकी ये मुख्य तीनों संस्कृतियाँ आ जाती हैं। लेखकके मतानुसार बाबिलोनियासे सप्तसिंधु प्रदेशमें आये हुए आर्य और इसी प्रदेशमें पहलेसे रहनेवाले और पीछेसे आर्योंके द्वारा पराजित दास, इस प्रकार आर्यों और दासोंके मिश्रणसे जो एक प्रकारकी विशिष्ट संस्कृति उद्‌भूत हुई, वही मूलमें वैदिक संस्कृति है। इस संस्कृतिमें जहाँतक दासोंके प्राधान्यका सम्बन्ध है वहाँतक उसमें गो-पालन और गो-दया जितनी अहिंसा पहलेसे ही थी। दासोंके राजकीय पराजयके साथ जब उनका नैतिक पराजय भी हुआ और जैसे-जैसे आर्योंका बल तथा प्राधान्य बढ़ता गया वैसे वैसे

धीरे-धीरे यज्ञ-यागादि कर्मके आसपास धार्मिक दिखाई देनेवाली हिंसा भी विस्तृत होने लगी। काल-क्रमानुसार कभी अहिंसाके तत्त्वने प्रदेश विशेषमें प्राधान्य पद प्राप्त किया तो कभी अल्प या अधिक प्रदेशमें हिंसाप्रधान यज्ञ-यागादि धर्मने प्राधान्य पद प्राप्त किया। लेखकके मन्तव्यानुसार परीक्षित और जनमेजयके पहलेके समयमें हिंसाप्रधान यज्ञ यागादि धर्मका अस्तित्व होनेपर भी उसका प्राधान्य नहीं था। परीक्षित और जनमेजयने, जिनका समय लेखकने बुद्धके पहले तीन सौ वर्षका ही माना है, हिंसाप्रधान यज्ञ-यागादि धर्मको अधिकाधिक वेग और उत्तेजन दिया। इस प्रकार यज्ञ-यागादिमें हिंसाका प्राधान्य बढ़ते ही दूसरी ओरसे जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथके द्वारा हिंसाका विरोध और अहिंसाका प्रतिष्ठापन शुरू हुआ। जिस समय एक ओरसे हिंसाप्रधान यज्ञ-यागादि धर्मका सबल प्रचार और दूसरी ओरसे उसका विरोध तथा अहिंसाका बलवत् प्रतिपादन, दोनों चलते थे, उस समय जैन तीर्थङ्कर महावीर और तथागत बुद्ध दोनों हुए और इन दोनोंने अपनी-अपनी रीतिसे परन्तु प्रबल बलपूर्वक धार्मिक हिंसाका विरोध किया। दास लोगोंमेंसे उनके पराजयके बाद जो अहिंसा लुप्त हो गई थी और जिसका स्थान हिंसाने ले लिया था, वही अहिंसा पीछे दूने वेगसे और व्यापक रीतिसे दास तथा आर्यजातिके मिश्रणसे उत्पन्न तथा विकसित हुए वंशोंमें क्रमशः विकसित तथा स्थिर हुई। अशोक जैसे धार्मिक सम्राट्के पूर्ण पीठबलके कारण अहिंसाने धार्मिक हिंसाको ऐसा पछाड़ा कि उसके बाद उसने कभी-कभी ही सिर ऊँचा किया परन्तु अन्तमें वह केवल शास्त्र और ग्रन्थोंका ही विषय बनकर रह गई। लेखक-ने इस प्रकार धार्मिक हिंसा और अहिंसाके पारस्परिक द्वंद्वका चित्र खींचा है। उससे आगे बढ़कर अन्तमें स्थूल हिंसा अहिंसाके प्रदेशको छोड़कर सूक्ष्म और सूक्ष्मतर हिंसा-अहिंसाके प्रदेशको लेखकने स्पर्श किया है। इसे स्पर्श करते समय लेखकने एक समयके धार्मिक हिंसाके विरोधी और अहिंसाके समर्थक ज्ञात-पुत्र महावीरके तथा शुद्धोदन-पुत्र बुद्धके श्रमण शिष्योंकी पूरी खबर ली है। लेखकका कहना है और वह ठीक है

कि इन श्रमणोंने यज्ञीय हिंसाका तो विरोध किया, ऊपर-ऊपरसे देखनेपर उन्होंने अहिंसा-धर्मका पालन करना भी जारी रखा; परन्तु उन्हीं अहिंसक गिने जानेवाले श्रमणोंके जीवनमें पिछली ओरसे सूक्ष्म हिंसा—परिग्रह, आलस्य, परावलम्बन और खुशामदके रूपसे—प्रविष्ट हो गई। इसी हिंसासे श्रवण निर्वीर्य बने और अन्तमें उनको धर्म और राज्य दोनों सत्ताओंसे हाथ धोना पड़ा। धार्मिक हिंसा बंद होनेपर या कम होनेपर भी ब्राह्मण वर्गमें श्रवणोंके जितनी ही, और कदाचित् उससे भी अधिक, परिग्रह, खुशामद, पराश्रय और पारस्परिक ईर्ष्याकी सूक्ष्म हिंसा थी। श्रमण भी इस बाबत में च्युत हो गये, इसलिए अहिंसाके तत्त्व-को बराबर विचारकर उसके द्वारा राष्ट्र और जातिका उत्थान करे, ऐसा कोई महापुरुष लम्बे समयतक इस देशमें पैदा नहीं हुआ। पश्चिमकी पहलेसे ही जड़पूजक और हिंसाप्रिय संस्कृतिमें तो अहिंसा तत्त्वको अपनाकर उसके द्वारा मनुष्य जातिका व्यापक उत्कर्ष सिद्ध करनेके लिए किसी समर्थतम पुरुषके होनेका बहुत ही कम सम्भव था। इतनेमें ही अन्तमें महात्मा गाँधी हिन्दुस्तानकी, वस्तुतः विश्वकी, रंगभूमिके ऊपर अहिंसाका तत्त्व लेकर आये और उन्होंने इस तत्त्वके सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों अर्थका व्यापक रूपसे उपयोग करके उसके द्वारा केवल हिन्दुस्तानकी ही नहीं परन्तु वस्तुतः समग्र विश्वकी जटिल समस्या सुलझानेके लिए तथा समग्र मानव-जातिके पारस्परिक सम्बन्धोंको मधुर तथा सुखद बनानेके लिए जगत्‌ने पहले कभी नहीं देखा, ऐसा प्रयोग प्रारम्भ किया है। लेखककी अहिंसा-तत्त्वके प्रति पुष्ट श्रद्धा है, वह गाँधीजीके अहिंसाप्रधान प्रयोगकी मुक्तकंठसे प्रशंसा भी करता है। परन्तु साथ-ही-साथ लेखक यह भी मानता है कि इस अहिंसा तत्त्वके साथ प्रज्ञाका तत्त्व मिलना चाहिए, जिस तत्त्वकी कुछ कमी वह गाँधी-जीमें देखता है और जिस तत्त्वका विशिष्ट अस्तित्व वह साम्यवादके पुरस्कर्ताओंमें—खास करके कार्ल मार्क्स जैसोंमें—देखता है। साम्य-वादियोंकी प्रज्ञा और गाँधीजीकी अहिंसा इन दोनोंके मिश्रणसे जगत्‌के उद्धारकी पूरी आशाके साथ लेखक पुस्तक समाप्त करता है। मेरी

समझके अनुसार समग्र पुस्तककी प्रतिपाद्य वस्तु संक्षेपमें इतनी ही है।

निकटतम परिचयके कारण श्रीयुत कोसंबीजीकी चार शक्तियोंकी मुझपर गहरी छाप है, जिनको इस पुस्तकका प्रत्येक वाचक पद-पदपर और प्रत्येक प्रसंगके समय देख सकेगा। अभ्यास, अवलोकन, कल्पना सामर्थ्य और निर्भयता ये चार शक्तियाँ हैं। इनका मुख्य और तलस्पर्शी अभ्यास बौद्ध पिटकों और पाली वाङ्मयका है, जिसकी दृढ़ प्रतीति किसी भी विषय-चर्चाके समय, जब वे पाली वाङ्मयमेंसे मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण उद्धरण उद्धृत करते चलते हैं और उनका अर्थ समझाते हैं, तब हो जाती है। इनका अवलोकन केवल धर्म साहित्य या पंथ-साहित्यतक ही सीमित नहीं है। इन्होंने दुनियाके लगभग प्रसिद्ध सम्प्रदायोंके विषयमें कुछ-न-कुछ पढ़ा है। इसके अतिरिक्त जुदी-जुदी जातियों, जुदे-जुदे देशोंके रीति रिवाजों, राज्य-संस्थाओं, सामाजिक नियमों, उनकी उन्नति-अवनतिके प्रसंग आदि अनेक विषयों सम्बन्धी उनका वाचन और प्रत्यक्ष अवलोकन अति विशाल है। उनकी कल्पनाशक्ति देखकर कवि या उपन्यासकार भी आश्चर्यचकित हो जाता है, जिसके साथ उनकी विनोद-शैली भी ओतप्रोत है। उनकी निर्भयता तो उनकी ही है। यदि वे कुछ कहना चाहते हैं तो फिर सामने चाहे जो, उसका थोड़ा भी अनुसरण किये बिना या उससे दबे बिना प्रियभाषित्वकी परवा किये बिना ही उसे कह देते हैं। इनके ये चार गुण वाचक जान लें, तो फिर यह पुस्तक पढ़ते समय उनके मनमें उठनेवाले बहुत-से प्रश्नोंका समाधान एक या दूसरी रीतिसे हो ही जायगा।

आजकल जो शास्त्रीय पुस्तकें लिखी जाती हैं वे बहुधा ऐतिहासिक अथवा वैज्ञानिक इन दो दृष्टियोंका या उनमेंकी एक दृष्टिका अवलम्बन लेकर लिखी जाती हैं, क्योंकि ये दोनों दृष्टियाँ अपने गुण और यथार्थताके बलसे प्रतिष्ठाको प्राप्त हो गई हैं। कोसंबीजीने इस पुस्तकमें प्रारम्भसे ही ऐतिहासिक दृष्टिका आश्रय लिया है और अपना वक्तव्य या मन्तव्य सिद्ध तथा सबल बनानेके लिए अपनी उक्त चारों

शक्तियोंका अधिकसे अधिक उपयोग किया है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिका आश्रय लेकर प्रवृत्त होना और सच्चा इतिहास ढूँढ़कर पेश करना, इन दोनोंके बीच, महदन्तर है। जब ऐतिहासिक युगकी सर्व-विदित सैकड़ों घटनाओंका निर्विवाद ऐतिहासिक खुलासा करना भी बहुत ही कठिन तथा दुःसाध्य समझा जाता है, तब ऐतिहासिक युगसे पहलेके सैकड़ों नहीं, परन्तु हजारों वर्षोंकी गहरी और अँधेरी काल-गुफामें इतिहास कहे जा सकें ऐसे विधान करनेका काम तो लगभग असंभवित ही है। इसीलिए इतने प्राचीन कालके विषयमें लिखते समय कोसंबीजी, 'ऐसा होगा,' 'ऐसा होना चाहिए,' 'ऐसा संभव है' इत्यादि शब्दोंमें केवल कल्पनात्मक विधान ही करते हैं। इसे कोई इतिहास नहीं कह सकता है। वे भी ऐसी घटनाओंको इतिहास रूपमें संगृहीत करनेका आग्रह नहीं रखते हैं। मनुष्य जिज्ञासाकी मूर्ति है। कामका हो या बिना कामका, वर्तमान हो, भूतकालीन हो या भावी हो, नजदीकका हो या दूरका हो, मनुष्य—जाग्रत मनुष्य—सबके विषयमें सच्ची हकीकत जानने-के लिए उद्यत रहता है। वह केवल कल्पनाओंमें अंतिम सन्तोष नहीं प्राप्त कर सकता है तथा सच्ची हकीकत नहीं जाननेपर कल्पना करनेका काम भी छोड़ नहीं सकता है। वह प्रारम्भमें साधन और शक्तिके अनुसार अस्पष्ट-स्पष्ट, सच्ची-झूठी और मिश्रित कल्पनाएँ करता ही जाता है और सत्य जिज्ञासाके आश्रयसे कभी वह सत्यकी किसी भूमिकाके ऊपर या उसके नजदीक पहुँचता है। मनुष्य-स्वभावका यह तत्व यहाँपर भी लागू करके कहना चाहिए कि कोसंबीजीने पूरे साधन और पूरे प्रमाणोंके अभावमें उपलब्ध साधन और प्रमाणके अनुसार भूत-कालके विषयमें जो जो कल्पनाएँ की हैं, उन सबको अक्षरशः सत्य या अक्षरशः असत्य नहीं मानकर उनपर विचार करनेका और उसमें संशोधन करनेका काम अध्ययनशील वाचकोंका है। कोसंबीजीकी सभी कल्पनाएँ अन्यथासिद्ध होवें, तो भी उन्हें जरा भी बुरा न लगना चाहिए। इसके पीछेका सत्य है तो केवल यही कि सभी वस्तुओंका विचार मुक्त मनसे और वहम-मुक्त मानससे करना सीखना चाहिए। ऐतिहासिक

दृष्टिका यही रहस्य है। यह रहस्य ध्यानमें रखकर वेदों और उन जैसे दूसरे अतिप्राचीन धर्मशास्त्रोंका विचार होगा, तभी लेखकके प्रयत्नका आंशिक फल सिद्ध होगा। कोसंबीजीने स्वयं कहा है कि वे बाबिलोनियन साहित्यके विषयमें अधिक नहीं जानते हैं। वैदिक साहित्य उन्होंने अपने काम लायक पढ़ा और विचारा है, फिर भी वे उस साहित्यके मुख्य अभ्यासी नहीं कहे जा सकते। इसलिए प्राचीन वैदिक संस्कृतिका बाबिलोनियन संस्कृतिके साथ उन्होंने जो सम्बन्ध बैठाया है वह अभी कल्पनाका ही विषय है। इस विपयके अभ्यासका अभी हमारे यहाँ पद-संचार ही नहीं हुआ है।

वेदोंको और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले साहित्यको ईश्वरीय या अपौरुषेय माननेकी हजारों वर्षकी उत्तराधिकारसे प्राप्त श्रद्धा करोड़ों मनुष्योंके हृदयमें रूढ़ है। इसके विरुद्ध खुद वेद-भक्तों और वेदाभिमानी विचारकोंका भी ध्यान आकर्षित होने लगा है। लोकमान्य तिलक जैसोंने भी वेदोंको ऐतिहासिक दृष्टिसे देखना-विचारना पसंद किया था, यह इस ऐतिहासिक दृष्टिकी प्रतिष्ठाका ही परिणाम है। इस प्रकार ईश्वरीय वाणी और अपौरुषेय वाणीके रूपमें वेदोंकी मान्यता कम होने लगी है। ऐसी स्थितिमें पूर्ण सावधानी और मुक्त मनसे वेदोंका ऐतिहासिक दृष्टिसे अभ्यास होने लगे, तो इससे वेदोंकी प्रतिष्ठामें कमी नहीं बल्कि वृद्धि ही होगी। सायण इत्यादिके जो वेद-भाष्य या दूसरे ऐसे प्राचीन टीकाग्रन्थ हैं, उन सबपर पुनः अति सावधानीके साथ ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेका समय आ गया है। कोसंबीजीकी इस सम्बन्धी कल्पनाएँ भले ही केवल कल्पनाएँ ही हों, तो भी कितने ही स्थलोंपर उनके द्वारा फेंका हुआ प्रकाश ऐतिहासिकोंके लिए बहुत उपयोगी होगा। उदाहरणके तौरपर इन्होंने जिस स्थलपर वंग, मगध और वज्जी इन तीन प्रजाओंके श्रद्धाहीन होनेका अर्थ निकाला है वह किसी भी विद्वान् वाचकको सायणके द्वारा किये हुए अर्थकी अपेक्षा अधिक संगत और संबद्ध लगेगा। कोसंबीजीने वेदोंके मंत्र, ब्राह्मण, और आरण्यक उपनिषद् इत्यादि भागोंके समयके विषय-

में जो मर्यादा सूचित की है, वह मुझे स्वयं ठीक नहीं लगती है। वैदिक साहित्यके कुछ अंश चाहे बादमें लिखे गये हों, परंतु इस साहित्यका बहुत-सा भाग अपेक्षाकृत बहुत ही पुराना है। इसके विषयमें मुझे शंका नहीं है।

इन्द्र एक स्वर्गीय देव है, वह वेदमंत्रों और विधिपूर्वक किये गये यज्ञसे प्रसन्न होकर वर्षा करता है, पशु और मनुष्य-जातिका संवर्धन करता है, इत्यादि धार्मिक मान्यताएँ आजकलके वैज्ञानिकयुगीन वेदभक्त मनुष्यकी बुद्धिको संतुष्ट नहीं कर सकती हैं। जबतक ऐसी मान्यताओंका बुद्धिगम्य ऐतिहासिक खुलासा नहीं हो जाता तबतक ऐसी मान्यताओंको सहसा फेंक भी नहीं सकते हैं और साथ-ही-साथ वे बुद्धि-में खटके बिना भी नहीं रह सकती हैं। कोसंबीजीकी इन्द्रविषयक कल्पना-तरगें भले ही कल्पनायें ही रहें, तो भी इन्द्र आदि देवोंके विषय-में वैसे दूसरे खुलासे करने बाकी ही रहते हैं। कोसंबीजीका यह लेखन वाचकोंमें ऐसे खुलासे करनेकी या उस दिशामें प्रयत्न जागरित करने-की वृत्ति पैदा करे, तो उनका यह प्रयत्न निष्फल नहीं जायगा।

कोसंबीजीने इस पुस्तकमें जो और जितनी घटनाएँ एकत्रित की हैं, जितने विविध उद्धरण उद्धृत किये हैं, उन सबको ऊन्होंने अपनी विनोदक और मनोरंजक शैलीसे, फिर भी कठोर समालोचनाके साथ जिस प्रकार सुसंबद्ध किया है वह सब अभ्यासी वाचकोंको आकर्षित भी करता है और चिढ़ाता भी है। ब्राह्मणपक्षीय वाचक हो, या जैन या बौद्धपक्षीय वाचक हो, वह यदि जिज्ञासु होगा, तो इस पुस्तकको पढ़ते-पढ़ते रोष चाहे जितना प्रकट करता जाय, फिर भी पुस्तकको समाप्त किये बिना नहीं छोड़ेगा। इस प्रकार लेखकने इसे नये-नये विषयोंसे परिपूर्ण बनाया है और टीकाका कोई भी प्रसंग आनेपर उस स्थलपर बिलकुल निर्भयतासे सीधा प्रहार भी किया है। प्रतिपाद्य विषय सम्प्रदायके साथ सम्बन्ध रखनेवाला होनेके कारण और सम्प्रदायका धर्मरूपमें सामान्य जनताके हृदयमें स्थान होनेसे उसके विषयमें जब खण्डनात्मक समालोचना देखनेमें आती है, तब असाम्प्रदायिक

जैसा मानस भी क्षणभरके लिए आवेशमें आ जाय, यह स्वाभाविक है। कोसम्बीजीने अपनी सख्त टीकाके तीक्ष्ण बाण केवल ब्राह्मणवर्गके ऊपर ही नहीं चलाये हैं, उन्होंने जैन और बौद्ध श्रमणोंको भी अपने इन बाणोंका लक्ष्य बनाया है। इस सामान्य तत्त्वको देख लेनेपर कोसम्बीजीकी प्रकृतिका एक विशिष्ट तत्त्व वाचकके ध्यानमें आ जाता है और वह यह कि उनका स्वभाव मुख्यतया खण्डनशैलीप्रधान या टीकाप्रधान है। ऐसा होनेपर भी उनके द्वारा एकत्रित की हुई और व्यवस्थित रूपसे रखी हुई घटनाएँ और दूसरी बातें वाचकको उत्तरोत्तर जिज्ञासा-वृद्धिके साथ साथ किसी नये ही प्रदेशमें ले जाती हैं। इसके लिए उदाहरणके तौरपर इन्द्र, ब्रह्मा, महादेव, लिंगपूजा, वासुदेव आदिकी चर्चावाले प्रकरण सूचित किये जा सकते हैं। इन्द्रके सम्बन्धमें उन्होंने जो सामग्री एकत्रित की है और उसे जिस रूपमें व्यवस्थित किया है, ब्रह्मा हिंसक मिटकर अहिंसक देव कैसे हुआ, इसके सम्बन्धमें जिन घटनाओंका उल्लेख किया है, महादेवका मूल क्या है, वह वस्तुतः कौन था, लिंग जैसी बीभत्स पूजा आर्योंमे क्यों और कैसे आई, वासुदेव, देवकी-पुत्र कृष्ण मूलमें किसका देव था, इत्यादिके विषय में जो लिखा है यह किसीके गले उतरे या नहीं, किसीको रुचे या नहीं, फिर भी ये चर्चाएँ नयी-नयी हकीकतों, नवीन-नवीन कल्पनाओं और विनोदक शैलीके कारण एक नवीन प्रकारके उपन्यास जैसी प्रतीत होती हैं। मध्ययुगमें हरिभद्र और अमितगति जैसे जैन लेखकोंने साम्प्रदायिक प्रतिशोधके रूपमें पुराणों और पौराणिक देवोंकी जो टीका की थी, उसकी अपेक्षा कोसंबीजीकी टीका ऐतिहासिक दृष्टिका आश्रय लेनेके कारण यद्यपि अलग पड़ जाती है, फिर भी कोसंबीजीके द्वारा की हुई कल्पनाएँ और उनके दरसाये हुए पूर्वापर-सम्बन्ध विद्वानोंमें ग्राह्य होंगे, इस विषयमें शंका ही है।

सारी पुस्तकमें ब्राह्मण बौद्ध साहित्यका जितने प्रमाणमें स्पर्श किया गया है तथा ब्राह्मण और बौद्ध-परम्पराके विषयमें अनुकूल या प्रतिकूल जितना कहा गया है, उतने प्रमाणमें जैन साहित्य और जैन

परम्पराका स्पर्श सकारण बहुत ही थोड़ा किया गया है। फिर भी कोसंबीजीका भगवान पार्श्वनाथके प्रति अहिंसाके प्रथम और प्रबल स्थापकके रूपमें अति आदर देखा जाता है। कोसंबीजीने घोर अंगिरस और बाईसवें जैन तीर्थङ्कर नेमिनाथके एक होनेकी कल्पना की है; परन्तु वह केवल कल्पना ही है। भगवान पार्श्वनाथकी अहिंसाको वे केवल निषेधात्मक और बुद्धकी अहिंसाको विधायक कहते हैं, जो ठीक नहीं लगता है। पार्श्वनाथके चतुर्याम त्रिविध थे, उनमें जैन परिभाषाके अनुसार समिति या सत्प्रवृत्तिका तत्त्व भी था और उनका एक विशिष्ट संघ था, ऐसा स्वयं कोसंबीजी भी स्वीकार करते हैं। यदि सारा त्यागी संघ केवल निष्क्रिय रूपसे बैठा रहता और कुछ भी काम नहीं करता, तो जनतामें घर की हुई हिंसा-प्रधान यज्ञोंकी संस्थाको किस प्रकार हटा सकता या उसे निर्बल कर सकता ? यह बात अलग है कि पार्श्व और उनके संघका विधायक कार्यक्रम कैसा था, यह जाननेका कोई स्पष्ट साधन नहीं है। उन्होंने पार्श्वकी परम्पराके विषयमें जो केवल देह-दमनतक सीमित तपका विधान किया है वह असंगत है। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध परम्पराकी अपेक्षा जैन परम्परामें देह-दमनके ऊपर अधिक भार दिया गया है परन्तु सामान्य लोगोंके मनपर जो ऐसी छाप है कि जैन भिक्षुक केवल देह-दमनको ही तप कहते हैं वह बिलकुल भ्रांति है। यद्यपि भगवान् महावीर कठोर तपके कारण ही दीर्घतपस्वी कहलाये, परन्तु किसीको यह नहीं भूलना चाहिए कि उनके तपमें देह-दमन तो केवल साधनके रूपमें था। उनका मुख्य और साध्य तप, ध्यान, चित्तशुद्धि आदि आभ्यन्तर ही था। भगवान् महावीरके सारे जीवनका झुकाव अभ्यन्तर तप, मानसिक तप या आध्यात्मिक तपकी ओर था। उनके मनमें बाह्य तपकी कीमत, वह अभ्यन्तर तपमें उपयोगी हो, इतनी ही थी। केवल देह-दमन जैसे बाह्य तपका तो उन्होंने विरोध किया था जो भगवती सूत्र जैसे प्रमाणिक ग्रन्थोंमें दिखाई देता है। इससे सिद्ध होता है कि महावीरकी तपस्या मुख्य रूपसे आत्मशुद्धि-लक्षी थी जिसे कि जैन अभ्यन्तर तप कहते

हैं। यदि पार्श्वकी परम्परामें केवल देह-दमन या बाह्य तपको ही स्थान दिया गया होता और भगवान् महावीरने उसमें सुधार करके पीछेसे अभ्यन्तर तपको स्थान दिया होता, तो जैन शास्त्रोंमें इस सुधारकी चर्चा अवश्य होती। क्योंकि पार्श्वकी परम्परामें प्रचलित चातुर्यामके स्थानमें पंचयामका और दूसरी नित्य प्रतिक्रमण जैसी सामान्य बातोंमें महावीरने जो सुधार किये हैं उनके उल्लेख अति आदर और अत्यन्त सावधानीपूर्वक जो जैन परम्परा आजतक सुरक्षित रखती आई है, वह पार्श्वकी परम्पराके केवल देह-दमनतक सीमित तपमें महावीरने यदि सुधार किया होता तो उसे कदापि नहीं भूलती। भगवान् महावीरके पहले जैन परम्परामें पूर्वश्रुतके अस्तित्वके और कर्मतत्त्वविषयक कुछ विशिष्ट साहित्य होनेके प्रमाण भी मिलते हैं जो कि पार्श्वनाथके संघकी निष्क्रियताके विरुद्ध सबल प्रमाण हैं।

लिंगपूजाके मूलमें और प्रचारमें जैन श्रमणोंका भी कुछ भाग होगा, ऐसी जो कोसंबीजीकी कल्पना है वह मुझे बराबर नहीं जँचती है। जैन परम्परामें भी यद्यपि समय-समयपर शिथिलाचार दाखिल होनेके प्रमाण मिलते हैं पर लिंग-पूजा जैसी बीभत्स और स्पष्ट अनाचार-प्रधान पद्धतिमें किसी भी समय उन्होंने भाग लिया होगा, ऐसा नहीं मालूम होता। इसके विरुद्ध बहुतसे स्थलोंपर प्राचीन ग्रन्थोंमें जैन लेखकोंने महादेव और लिंग-पूजाका प्रबल परिहास तक किया है।

इसी तरह कोसंबीजीने लिखा है कि जैन साधु जैसे त्यागियोंने जो चक्रवर्ती राजाओंके एक लाख बानबे हजार स्त्रियाँ होने जैसी असत्य बातें लिखी हैं, सो केवल राजाओंको खुश कर उनसे मंदिर, वसतिका आदि परिग्रहकी रक्षा करनेके लिए। इसपर मेरा कहना है कि चक्रवर्तीके उतनी अधिक स्त्रियाँ होनेकी बात कोसंबीजीके कथनानुसार केवल अतिशयोक्तिपूर्ण ही नहीं बल्कि असत्य भी है; पर इस असत्यके कथन करनेवाले त्यागियोंके उद्देश्यके बारेमें जो उन्होंने विधान किया है वह ठीक नहीं। त्यागी साधु भी मंदिर और वसति आदिकी रक्षा राजा-महाराजाओं तथा तथा अन्य धनवानोंसे चाहते और कराते थे, इसमें

कोई सन्देह नहीं, पर कथा-ग्रन्थोंमें अधिक स्त्रियाँ होनेका जो वर्णन मिलता है वह केवल उस समयकी सामाजिक मान्यताका अतिशयोक्ति-पूर्ण प्रतिबिम्ब है। प्राचीन समयसे प्रायः प्रत्येक समाजमें ऐसा माना जाता रहा है कि बड़ा वही है जिसके पास सम्पत्ति अधिक हो और स्त्रियाँ भी अधिक हों। जिसके जितनी स्त्रियाँ अधिक उतना ही वह बड़ा। चक्रवर्ती राजाओंको भी राजा माना जाता था। तब उनकी सर्वोपरिता किस मापदण्डसे नापी जाती? कवियों और लेखकोंके लिए समाजमान्य मार्ग एक ही था और वह सम्पत्ति तथा स्त्रियोंकी अधिकताके वर्णनका। सभी सम्प्रदायके लेखक उक्त मान्यताके कायल थे। त्यागी जैन साधु उससे बच जाते तो आश्चर्य ही होता। उस समय वे भी सर्वसाधारण अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनके मार्गपर चले, बस, इतना ही उनके विषयमें कहा जा सकता है।

कोसंबीजीके प्रति पूर्ण आदर होनेपर भी समग्ररूपसे इस पुस्तक-की शैलीकी मनपर जो छाप पड़ती है उसे बतला देना योग्य है। स्वयं मुझपर एक दो बार पुस्तक पढ़ने पर जो छाप पड़ी उसका निश्चय करनेके लिए मैंने दो चार असाम्प्रदायिक और पूरे शिक्षितोंके साथ जिन्होंने कि यह पुस्तक पढ़ी थी या मेरे कहनेसे पढ़ी थी, चर्चा की। इस सम्बन्धमें सबका अभिप्राय एक ही प्रकारका मालूम हुआ कि कोसंबीजीने चाहे यह पुस्तक उदार मन और असाम्प्रदायिक भावसे लिखनेकी इच्छा की होगी, फिर भी इसका वाचन उलटा ही असर पैदा करता है। किसी भी वाचकके ऊपर यह छाप पड़ना लगभग अनिवार्य है कि लेखक मुख्य रूपसे ब्राह्मणवर्ग और ब्राह्मणसंस्कृतिका विरोधी है। वाचकके मनमें अनेक बार ऐसा हो आता है कि जिस ब्राह्मणवर्गके ऊपर और जिस ब्राह्मण जातिके ऊपर लेखकने इतने अधिक हमले किये हैं उस वर्ग और उस जातिमें सात्त्विक प्रकृतिवाले, उदात्त चरित्रवाले और समस्त प्रजाका भला चाहनेवाले तथा उसके लिए कुछ करनेकी इच्छा रखनेवाले क्या कभी हुए ही नहीं? यदि बौद्ध साहित्यमेंसे सद्गुण और उच्च भावना-पोषक अनेक अवतरण प्राप्त किये जा सकते हैं, तो

खण्डनीय ब्राह्मण साहित्यमें क्या उनका एकदम अभाव है ? ब्राह्मण साहित्य बौद्ध साहित्यकी अपेक्षा प्रमाणमें अति विशाल है। उसमें राजस और तामस अंशोंका होना स्वाभाविक है। क्योंकि इस साहित्यका निर्माण अति प्राचीन कालसे होता आ रहा है और इसकी रचना समग्र प्रकारकी जनप्रकृतिको उद्देश्यमें रखकर की गई है, जब कि बौद्ध और जैन साहित्य ब्राह्मण साहित्यके एक सुधारके रूपमें होनेसे केवल सात्त्विक प्रकृतिको उद्देश्यमें रखकर लिखा गया है और ऐसा होनेपर भी उसमें आगे जाकर साधारण जन-स्वभावके राजस-तामस अंश भी थोड़े बहुत आ गये हैं। ऐसी स्थितिमें ब्राह्मण साहित्यमेंसे सात्त्विक प्रकृतिवाले भागका थोड़ा-सा भी स्पर्श किये बिना, केवल राजस या तामस भाग-की ही टीका करना, कोसम्बीजी जैसे व्यक्तिकी लेखनीको शोभा नहीं देता।

कोसम्बीजी, सत्संगति जैसे कुछ सात्त्विक गुणोंके विषयमें लिखते समय जब यह लिखते हैं कि "ये गुण रामानन्द जैसे सन्तोंमें या वारकरी पंथके त्यागियोंमें जो दिखाई दिये, सो तो बौद्ध धर्मके उत्कर्ष-के समय प्रजामें प्रविष्ट हुए सद्गुणोंके गहरे असरका परिणाम था। पुराण और उनके पुरस्कर्ता ब्राह्मणोंने तो ऐसे सद्गुणोंको मिटानेका बहुत प्रयत्न किया परन्तु बौद्ध उपदेशके कारण प्रजाके मानसमें गहरे उतरे हुए ये गुण बिलकुल नहीं मिट सके और समय बीतनेपर ब्राह्मणपंथीय सन्तोंमें प्रकट हुए," तब तो कोसम्बीजीके विधानकी असंगतिकी सीमा वाचकके मनपर हठात् अंकित हो जाती है। यदि कोसम्बीजी चाहते तो महाभारत, रामायण और अनेक पुराणोंमेंसे तथा नीति, आचार और तत्त्वज्ञान विषयक अनेक ब्राह्मण ग्रन्थोंमेंसे सत्संगति और उसके जैसे दूसरे अनेक सद्गुणोंके समर्थक भाग बौद्ध साहित्यके अवतरणोंकी तरह ही दे सकते थे। इसमें थोड़ी-सी भी शंका नहीं है कि महाभारत और पुराण आदि ब्राह्मण साहित्यमेंसे उन्होंने गान्धारीके पुत्रोंकी तथा अग्निके द्वारा खाण्डव वन जलानेकी जो असंगत बातें उस साहित्यकी असम्बद्धता बतलानेके लिए पेश की

हैं, वे बातें आज ब्राह्मण-साहित्यके भक्तको भी असंगत लगनेवाली हैं। परन्तु कोसम्बीजीका कर्तव्य इससे कुछ अधिक था और मेरी दृष्टिसे वह यह था कि उन्हें ब्राह्मण साहित्यमेंसे भी अच्छे और सात्त्विक भाग चुन करके देने चाहिए थे। पीछेसे बौद्ध साहित्यमें भी तो कितनी ही असम्बद्धताएँ प्रविष्ट हो गई हैं, फिर भी जैसे उन्हें मूल पिटकमेंसे श्रेष्ठ भाग मिल गये उसी प्रकार ब्राह्मण साहित्यमेंसे भी ऐसे श्रेष्ठ भागोंका एक बृहत् भाण्डार उनकी दृष्टिमें अवश्य आता। अकेले महाभारतमें ही अहिंसा, सत्य, मैत्री, सत्संगति आदि सद्गुणोंके दूसरे किसी भी शास्त्रकी कोटिमें रखे जाने योग्य हृदयग्राही वर्णन हैं। जिसकी टीका करनी हो उसके गुणोंको अधिकसे अधिक सावधानीसे देखना चाहिए और तब दोषोंकी सख्त टीका करनी चाहिए। यही अहिंसाकी रीति है। ऐसी स्थिति होनेपर भी ब्राह्मण वर्गकी टीका करते समय कोसम्बीजीकी शैली वाचकके ऊपर ऐसी छाप डालती है कि मानों वे ब्राह्मणवर्ग और ब्राह्मण जातिके कट्टर विरोधी हैं, जब कि मैं और दूसरे अनेक जानते हैं कि कोसम्बीजी स्वयं मूलतः ब्राह्मण हैं और उनके मनमें ऐसा द्वेष बिलकुल नहीं है।

भगवद्गीताके विषयमें जब कोसम्बीजी लिखते हैं तब उनके कल्पना-चातुर्य्य और उनकी काव्य-शक्तिके विषयमें सम्मान पैदा हुए विना नहीं रहता है। फिर भी वे गीताके विरुद्ध जो कुछ कहते हैं वह बिलकुल गले नहीं उतरता है। गीतामें जो कुछ सात्त्विक और सुन्दर भाग है वह बौद्ध परम्पराका प्रभाव है, यह कथन तथा गीताकी रचना-के समयके विषयमें उनके द्वारा बाँधा हुआ कल्पनाओंका पुल, यह सब शुद्ध तर्कोंसे दूर प्रतीत होता है। यों तो कोई भी व्यक्ति अपने मान्य और प्रिय सम्प्रदाय या साहित्यके विषयमें कह सकता है कि इसीकी छाप दूसरे सम्प्रदायों और साहित्यके ऊपर पड़ी है। जैन लोग भी इसी प्रकार गीता के सम्बन्धमें अपनी कल्पनाएँ दौड़ाकर कह सकते हैं कि उसमें प्रतिपादित अहिंसा, भूतदया और दूसरे सात्विक गुण जैन प्रभावके कारण ही हैं। वस्तुतः गीतामें जो गौरव और जो गांभीर्य है वह कोई

कवि या विद्वान् स्वानुभवके बिना नहीं ला सकता है। और कोसंबीजीने गीताका स्थान अंकित करते समय जिस अच्छे बुरे भागका पृथक्करण करके उसमें मौलिकताका अभाव बतलाया है, वह तो तर्ककी दृष्टिसे बहुत ही उपहासास्पद लगता है। जिस प्रकार भदंत नागसेनने राजा मिलिंदके सामने एक रथका दृष्टान्त लेकर उसका पृथक्करण करते समय बतलाया है कि पहिये, आरे और धुरी आदि अवयवोंके सिवाय रथ जैसी कोई एक वस्तु नहीं है, उसी प्रकार ये अवयव भी परमाणु-पुंजके सिवाय दूसरे कुछ भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि अन्तमें एक एक अंशको अलग अलग देखने पर समूह या अखण्ड सौन्दर्य जैसी वस्तु ही नहीं रहती है। उसी प्रकार कोसंबीजी सूक्ष्म पृथक्करण करके गीताके प्रत्येक भागको अलग अलग करके उसका अखण्डत्व और सामूहिक सौन्दर्य देखनेके विरुद्ध दलील देते हैं। यदि यही तर्क भगवान बुद्धके प्रत्येक उपदेशपर लागू किया जाय तो उसमें मौलिकत्व जैसा क्या बताया जा सकता है? आर्य अष्टाँगिक मार्ग लीजिए, तो उसका एक एक अंश पहलेसे ही प्रजा-जीवनमें और शास्त्रोपदेशमें था, चार आर्य सत्य भी नवीन नहीं हैं। यदि यह दलील दी जाय कि पहलेसे या समान कालमें होनेपर भी इन तत्वोंको बुद्धने अपनी रीतिसे जीवनमें पचा लिया, और बादमें लोकोपयोगिताकी दृष्टिसे इनका उपदेश दिया, यही बुद्धका वैशिष्ट्य है, तो गीताके सम्बन्धमें भी ऐसा क्यों नहीं कहा जा सकता? गीतामें अहिंसा और हिंसा इन दो विरोधी तत्त्वोंका मेल किस प्रकार बैठता है, यह प्रश्न ठीक है; परन्तु इसका समाधान तो जान पड़ता है ब्राह्मण साहित्यकी सर्वप्रकृतिमूलक औत्सर्गिकतामें है। मुख्य बात तो गुणदृष्टि और भक्तिकी है। गाँधीजीने इस दृष्टिसे गीताका अवलंबन लेकर अपना सत्पुरुषार्थ सिद्ध किया है, इसका उदाहरण हमारे समक्ष है। क्या बौद्ध और जैन भिक्षु धम्मपद और उत्तराध्ययन जैसे केवल अहिंसाप्रतिपादक ग्रन्थोंका स्वार्थ और भोगकी दृष्टिसे उपयोग नहीं करते हैं?

अहिंसा, प्रज्ञा, मैत्री आदि सात्त्विक गुणोंका पक्षपात ही कोसं-

बीजीका मुख्य बल है। मेरे हृदयपर उनकी ऐसी ही छाप है। इसलिए उन्हें टीका करते समय किस दृष्टिबिन्दुको अपनाना चाहिए था, इसका मैंने सूचन किया है।

कभी कभी जैसेके प्रति तैसा, होनेकी अपरिशोधित वासना मेरे मनमें भी पैदा होती है और तब सी० वी० वैद्य या डॉ० मुंजे जैसोंको मुँहतोड़ उत्तर देनेके लिए कोसंबीजीकी लेखनी याद आ जाती है। १९३६ के वर्षाकालमें पं० मदनमोहन मालवीयके सभापतित्वमें हिंदू युनीवर्सिटीमें पहली बार मैंने डॉ० मुंजेका भाषण सुना। उनके सारे भाषणकी ध्वनि एक ही थी और वह यह कि हिन्दुओंका पतन केवल अहिंसा और बौद्ध धर्मके कारण हुआ है। इस तरहके भाषण करनेवाले या लिखनेवाले अकेले मुंजे ही नहीं हैं; परन्तु विद्वान् और प्रोफेसर कहे जानेवाले अनेक व्यक्ति जहाँ तहाँ ऐसा ही प्रलाप करते देखे जाते हैं। मुंजेका भाषण सुनते समय मनमें जो अनेक विचार आये, उनमेंसे पहला यह था कि यदि इस समय डॉ० ध्रुव जैसा सभापति होता, तो इस विषप्रचारका कुछ प्रतिकार अवश्य करता। दूसरा विचार यह आया कि मुंजे जब अहिंसाको ही हिन्दुओंके पतनका कारण मानकर बौद्धोंकी भर्त्सना करते हैं, तब उनके सामने बौद्ध तो कोई रहता नहीं, केवल अहिंसाके प्रबल समर्थक जैन रहते हैं, फिर भी खुले तौरपर उनकी क्यों निन्दा नहीं की जाती? इस प्रश्नका उत्तर उस समय यह स्फुरित हुआ कि हिंदू महासभाके मुंजे जैसे सूत्रधार देशमें जहाँ तहाँ थोड़ा बहुत वर्चस्व रखनेवाले जैनोंके पाससे आर्थिक तथा दूसरी अनेक प्रकारकी सहायता प्राप्त करनेके लालचसे उनकी खुले तौरसे निन्दा करते हुए डरते हैं। जैनोंके समान वर्चस्व रखनेवाले बौद्ध इस देशमें नहीं है और यदि कहींपर हैं भी, तो उनके पाससे जैनोंके समान आर्थिक तथा दूसरी सहायता प्राप्त होनेकी आशा नहीं है। इसीलिए मुंजे अहिंसा और बौद्धोंका नाम लेकर मुसलमान आदि परदेशी जातियोंके द्वारा हुए पराजयका रोष अहिंसाके प्रति प्रकट करते रहते हैं। उसी समय मनमें यह विचार भी हो आया कि कोसम्बीजी बहुत

बार ब्राह्मणवर्ग और ब्राह्मण-संस्कृतिके ऊपर जो पुण्यप्रकोप प्रकट करते हैं, वह क्या मुंजे जैसे मतांध और मिथ्याभिमानी व्यक्तियोंका योग्य बदला है ?

अंतमें कोसंबीजीने गांधीजीके झुकावके सम्बन्धमें टीका करते हुए जो कहा है उस सम्बन्धमें भी कुछ कहना आवश्यक है। गांधीजी जमीनदारोंसे जनता-पालक होनेके लिए और राजाओंसे राम-राज्य स्थापित करनेके लिए कहते हैं। गाँधीजीके जनतापालक और रामराज्य शब्दोंका अर्थ कैसा होना चाहिए और ये शब्द गांधीजीके मुखसे किस प्रकार शोभित हो सकते हैं, इसका खुलासा कोसंबीजीने किया है। गाँधीजीके पहलेसे आजतकके लेखोंको ध्यानपूर्वक सुन लेनेकी मेरी वृत्ति रही है। कोसंबीजीने जिस प्रकार उक्त दो शब्दोंका अर्थ गाँधीजीके मुखसे शोभित होनेकी बात कही है, उसी प्रकारका अर्थवाला खुलासा गांधीजीके लेखोंमें अनेक स्थलोंपर मिल जाता है। मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि गाँधीजीमें प्रज्ञाकी अल्पताकी बातको शायद ही कोई स्वीकार करेगा। गाँधीजीमें सत्य और तज्जन्य प्रज्ञा सहज है। ये दो नहीं होते तो उनमें अहिंसा ही नहीं होती और होती भी तो वह अहिंसा जगतका ध्यान अपनी ओर नहीं खींच सकती, विश्वव्यापी असर नहीं पैदा कर सकती। इस स्वतःसिद्ध प्रज्ञाके सामने दूसरी प्रज्ञाएँ किस प्रकार हतप्रभ हो जाती हैं, यह तो गाँधीजीके जीवनका प्रत्येक अभ्यासी देख सकेगा।

गाँधीजीकी प्रज्ञाके बारेमें ऊपर जो कुछ लिखा है सो मैंने १९३७ के मई मासमें लिखा था। इसके बाद विश्वकी और हिन्दुस्तानकी कायापलट ही हो गई है। स्वयं कोसम्बीजी विद्यमान होते, तो प्रस्तुत पुस्तकमें इस कायापलटपर एक दो अध्याय जरूर नये लिखते। १९४६ के अन्ततक मेरा कोसम्बीजीके साथ काशीमें जो साहचर्य रहा उस समय और अनशनके अन्तिम दिनोंमें वर्धामें १९४७ की गर्मीतक उनके दिलमें गाँधीजीके सिद्धान्तोंके प्रति जो अनन्य निष्ठा देखी गई उसपरसे कहा जा सकता है कि वे गाँधीजीकी प्रज्ञाके बारेमें फिरसे अपना विचार प्रकट करते। प्रस्तुत पुस्तक लिखे जानेके बाद दूसरा

महायुद्ध हुआ। उसकी दावाग्निमें जर्मनी-जापान जैसे राष्ट्र तो भस्म-सात् हो गये; पर जो बचे वे मित्रराष्ट्र भी अपनी विश्व-शान्तिकी विश्वप्रिय घोषणाको अमलमें लानेके बजाय आपसमें ही महाप्रलयकी ओर खिंचे जा रहे हैं। इस भावी अनिष्टसे बचनेका कोई रास्ता जब मार्क्स जैसोंकी प्रज्ञा भी दिखा न सकी, तब पूँजीवादी और लोकतन्त्र-वादी प्रज्ञाको तो हम कहें ही क्या? भारत स्वतन्त्र हुआ। पर उसे विभाजनकी प्राणान्तक चोट लगी। विभाजनमेंसे कौमी दावानलकी प्रचण्ड लपटें प्रकट हुईं। धन-जनका सर्वनाश हुआ। धन-जनके सर्वनाशसे भी अधिक दुःखद महाविष तो कौमी वैमनस्यका फैला। इस महाविषके निवारणका प्रयत्न अकेले हाथों गाँधीजीने किसी फौज या अस्त्र-शस्त्रकी मददके बिना केवल आध्यात्मिक बलसे शुरू किया। महाविप्लवके समय और भी महद् रूपमें एकाएक प्रकट हुए उनके अकल्प्य आध्यात्मिक तेजको देखकर दुनियाके बड़े-बड़े राजपुरुष भी अचम्भेमे पड़ गये। गाँधीजी अहिंसाका अभेद्य और अदृष्टपूर्व कवच पहनकर संकीर्णतम हिन्दू-मानसके क्रॉसपर अक्षोभ्य मानसके साथ चढ़ गये। यह घटना इतना साबित करनेके लिए पर्याप्त है कि गाँधीजीकी अहिंसा लौकिक न थी और न उनकी प्रज्ञा ही लौकिक थी। अध्यात्म के गम्भीर स्तरसे प्रकट नहीं होनेवाली प्रज्ञा मनुष्यको अहिंसामें इतनी दृढ़ श्रद्धा अर्पित ही नहीं कर सकती जो देश-भेद, जाति-भेद, धर्म-भेद और स्वार्थ-भेदको पार कर एक मात्र मानवताको ही देखे।

कोसम्बीजीके प्रति बहुमान होनेके कारण और उनके उदार स्पष्ट-भाषित्वके प्रति पूर्ण विश्वास होनेके कारण मैंने कितने ही स्थलोंपर उनके लेखनके विरुद्ध निःसंकोच भावसे अपना मन्तव्य प्रकट किया है। फिर भी इस पुस्तकके मूल्यमें या उपयोगितामें थोड़ी-सी भी कमी नहीं होती है। कोसम्बीजीने यह पुस्तक लिखकर विद्वानों और संशोधकोंके सामने इतने अधिक गहन विचारों और दृष्टि-बिन्दुओंका महान् खजाना खोल दिया है कि विरोधी पक्षके सच्चे अभ्यासी भी इसके लिए उनका आभार मानेंगे।

अंधश्रद्धा और भीरु वृत्तिके कारण अनेक बार बहुतसे भ्रम बाहर नहीं आते हैं। मित्रमंडलीमें जो गुप्त चर्चाएँ मुक्तता और निर्भयतासे होती हैं वे चर्चाएँ अनेक बार महत्वपूर्ण होती हैं फिर भी उन्हें लोक-समक्ष रखनेमें विद्वान् लेखक तक डरते हैं। जिस वस्तुका मैं मनमें विचार करता हूँ, जिसे मित्रोंके सामने निःसकोच कहता हूँ और जिसके प्रति मेरा विशिष्ट झुकाव है, उसी वस्तुको यदि मैं समभावपूर्वक लोक-समक्ष विचार करनेके लिए नहीं रखूँ, तो विचारकी गतिशील धाराएँ उदयमें नहीं आती हैं। कोसंबीजी ऐसे डरसे परे हैं। एक बार उन्हें जो सत्य प्रतीत हुआ उसे फिर वे कह ही देते हैं। यह केवल दोष है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए उन्होंने अपने मन्तव्योंकी जिस मुक्ततासे चर्चा की है तथा अपने अवलोकन और कल्पना-बलका उपयोग करके अपने कथनका जो समर्थन किया है उसपर विचार करनेके लिए सबको स्वतन्त्रता है। विचारकको विचार और चिन्तनकी, लेखकको लिखनेकी और शोधकको संशोधनकी बहुत-सी सामग्री पूरी करनेके कारण गुणज्ञको तो कोसंबीजीके समर्थ श्रमका आभारी ही होना चाहिए।

भारतीय संस्कृति और अहिंसा

१—वैदिक संस्कृति

प्रास्ताविक

आर्य कब और कहाँसे आये इस संबंध में अनेक मत प्रचलित हैं। ईसवी सन्‌के ग्यारह सौ वर्ष पूर्वसे लेकर बीस-पचीस हजार वर्ष पूर्वतक आर्योंके आगमनके अनेक काल अनेक लेखकोंने माने हैं। इसी प्रकार सिंधसे लेकर उत्तर ध्रुवतक आर्योंके अनेक मूल वास-स्थान माने जाते हैं। यह विषय महत्त्वपूर्ण और चित्ताकर्षक होते हुए भी इस पुस्तकसे विशेष संबंधित नहीं है। तथापि, केवल सत्यान्वेषणके विचारसे यहाँ कुछ मुद्दोंके संबंधमें चर्चा करना उचित जान पड़ता है, क्योंकि अहिंसाका विकास होनेके लिए सत्यज्ञानकी बहुत आवश्यकता है।

२. वैदिक साहित्यसे मेरा विशेष परिचय नहीं था। सन् १९२७ में मेरे पुत्र चि० दामोदरने जातक-अट्ठकथाकी निम्नलिखित गाथाकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया—

अन्ता छिन्नं अयुज्झपुरानं पञ्चविधा ठपिता अभिरक्खा।
उरगकरोटि पयस्स च हारी मदनयुता चतुरो च महन्ता॥

उस समय हम दोनों अमेरिकामें थे और वह जर्मन भाषाका विशेष अध्ययन करनेके लिए जातक-अट्ठकथाका अनुवाद पढ़ रहा था। उसके मनमें यह बात आयी कि इस गाथामें कुछ-न-कुछ ऐतिहासिक तथ्यांश अवश्य है। टीकाकारने इस गाथाका जो अर्थ लगाया था वह मुझे ठीक नहीं जँचा और अबतक नहीं जँचता है। पर इस गाथामें ऐतिहासिक तथ्यांश होनेकी बात मुझे ठीक मालूम हुई। फिर भी उस समय 'विसुद्धिमग्ग'[1] के संस्करणके काममें फँसे रहनेके कारण वैदिक साहित्यमें प्रवेश करके इस विषयपर विशेष विचार न किया जा सका।

१ वि० १।५६–५७ देखिए।

३. उसके बाद सन् १९२८ में गुजरात-विद्यापीठमें रहते समय मैं ऋग्वेदक अध्ययन करने लगा। उसमें एक बात मुझे यह दिखाई दी कि उपर्युक्त गाथाक वर्णनानुसार इन्द्र एक समय मनुष्य था और उसे अपने जीवन-कालमें ही य मृत्युके बाद देवत्व प्राप्त हुआ है। तब सितंबर १९२८ के 'विविधज्ञान-विस्तार' में मेरा "वैदिक इन्द्र देवता या मनुष्य" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। मेरा अनुमान था कि उसपर काफी चर्चा होगी, पर अबतक वह मेरे देखनेमें नहीं आयी।

४. फिर संवत् १९८६ की वैशाख-कार्तिककी 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में श्री जयशंकरप्रसादजीका "प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्" शीर्षक लेख देखनेमें आया। पर उसमें मुझे ऐसी महत्त्वकी कोई बात नहीं मिली जो प्रस्तुत विषयके विवेचनमें उपयोगी हो सके। इन्द्र एक समय सम्राट् था, यह बात मुझे स्वीकार है पर जान पड़ता है कि उसका साम्राज्य सिंध और पंजाबके आगे नहीं बढ़ सका था।

५. ऋग्वेदका अध्ययन करते समय मेरे मनमें यह बात भी उठी कि उसमें-की कुछ बातोंका बाबिलोनियन संस्कृतिसे निकट संबंध होना चाहिए। गत वर्ष अर्थात् सन् १९३४ के अगस्त महीनेमें जब मैं हिन्दू विश्वविद्यालयमें रहनेके लिए आया तब मैंने इस संबंधमें डाक्टर प्राणनाथजीसे बातचीत की। वे कई बरसोंसे सिंध और पंजाब प्रान्तमें मिले प्राचीन नगरावशेषोंके सिक्कोंपर अंकित लिपिको पढ़नेका प्रयत्न कर रहे हैं। उस भाषाका संबंध वे "ओं, ह्रां, ह्रों" आदि तांत्रिक पारिभाषिक शब्दोंसे लगाते थे। इसी विषयपर उनके एक-दो व्याख्यान भी पूनेमें हुए थे। पर उन सिक्कोंके अक्षरोंका यदि किसीसे संबंध हो तो यह ऋग्वेदसे होना चाहिए, यह बात उन्हें कुछ अंशों में ठीक जँची और तबसे वे ऋग्वेद और बाबिलोनियन साहित्यका संबंध स्थापित करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। इस विषयपर उनके कुछ लेख काशीके साप्ताहिक पत्र 'सनातन धर्म' में प्रकाशित हुए। बादमें सनातनियोंके विरोध करनेके कारण उन्हें यह लेखमाला बन्द कर देनी पड़ी। उनका मत है कि ऋग्वेदकी बहुत-सी ऋचाएँ बाबिलोनियन ऋचाओंसे मिलती हैं। इतना ही नहीं "सृण्येव

१ मराठीका पुराना और प्रतिष्ठित मासिक पत्र।

जर्फरी तुर्फरीतू" ऋ० १०।१०६।६ आदि ऋचाओंका सायण आदिको जो अर्थ बिलकुल नहीं लगा वह बाबिलोनियम ऋचाओंसे स्पष्ट होता है। बाबिलोनियन भाषाओं का ज्ञान न होने के कारण इस विषय पर पक्ष या विपक्ष में मत देना मेरी धृष्टता होगी, तिसपर भी यह बात मेरे मनमें बैठती जा रही है कि बाबिलोनियन और वैदिक संस्कृतिका अत्यन्त निकट सम्बन्ध है।

६. स्वर्गीय लोकमान्य तिलकने सन १९१७ में "Sir R. G. Bhandarkar Commemoration Volume" में "the Chaldean and Indian Vedas" शीर्षक लेख लिखा था। हालमें ही काशी विद्यापीठके अध्यापक पंडित रुद्रदेव शास्त्रीने उक्त लेखकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया। इसपर यथास्थान विचार किया जायगा।[१]

बाबिलोनियन संस्कृति

७. ईसवी सन्‌के चार-पाँच हजार वर्ष पूर्व वर्तमान मेसोपोटामियाकी आग्नेय दिशामें आकर बसनेवाले लोग सुमेरियन कहे जाते हैं। ये सुमेरियन कहाँसे आये, इस सम्बन्धमें बहुत विवाद है। अधिकांश विद्वानोंका मत है कि वे मध्य एशियासे आये होंगे। कारण, यह सिद्ध हो चुका है कि आर्योंसे उनका बहुत साम्य था। इन लोगोंने पहले युफ्रेतिस और तैग्रिस नदियोंके[२] मुहानोंके पास अपनी बस्तियाँ बसायीं। और ये बस्तियाँ धीरे-धीरे उत्तरकी ओर बढ़ने लगीं। वे लोग छोटे-छोटे नगरों में रहते थे और उन नगरोंमें आपसमें बार-बार लड़ाइयाँ हुआ करती थीं।

---

१. वि० १।२०—२३ देखिए।

२. आजकल ये दोनों नदियाँ समुद्रमें गिरनेके पहले ही मिल जाती हैं, पर प्राचीनकालमें वे अलग-अलग स्थानोंपर समुद्रमें गिरती थीं। इस समय समुद्र भी १२५ मील हटा हुआ है।

When Sumeria was bigining to flourish, these two rivers had separate outlets, and Eridu, the seat of the cult of the sea-god Ea, which now lies 125 miles inland, was seaport at the head of the Persian Gulf. A day's journey separated the river mouths when Alexander the Great broke the power of the Persian Empire.

Myths of Babylonia and Assyria. p. 22-23.

८. ऐसी स्थितिमें सेमेटिक जातिके लोगोंने आकर उत्तरके प्रदेशपर कब्जा कर लिया। ये लोग कहाँसे आये इस संबंधमें भी बड़ा विवाद है पर उनका प्राचीन अरबोंसे निकट संबंध दिखाई देता है। ये लोग कुछ अंशोंमें जंगली थे। उत्तर ओरके सुमेरियन लोगोंको इन्होंने जीत अवश्य लिया पर सुमेरियन संस्कृति इन्हें ज्योंकी त्यों अपनानी पड़ी। हाँ, भाषा उन्होंने अपनी ही रखी। सुमेरियन भाषा भी व्यवहारमें रही। बादमें इन लोगोंने जब दक्षिणके सुमेरियन राजाओंको पराजित किया तब अधिकांश स्थलोंपर इन्हींकी भाषा प्रचलित हुई और सुमेरियन भाषा हमारी संस्कृत भाषाकी तरह मृत भाषा हो गयी—उसे समझनेके लिए कोष और व्याकरणोंकी रचना करनी पड़ी।

९. इन सेमेटिक लोगोंने पहले उत्तरका जो प्रदेश जीता उसे अक्काड (Akkad) या अगादे (Agade) कहते थे और सुमेरियन लोगोंके दक्षिणके प्रदेशको सुमेर (Summer) या सुमेर (Shumer)। इन दोनोंको मिलाकर बाबिलोनिया कहनेकी प्रथा है और यहाँ इसी अर्थमें इस शब्दका व्यवहार किया गया है।

१०. ईसवी सन्के पूर्व अठारहवीं सदीके आरम्भ में बाबिलोनियापर केशी (Kassi) लोगोंकी चढ़ाइयाँ होने लगीं और ईसवी सन्के पूर्व १७६० वर्षके लगभग गंदश (Gandash) नामके केशी राजाने सार्वभौम राज्य स्थापित किया। उसके पहले एक-दो सदियोंसे केशी लोग जीविकाके लिए बाबिलोनियामें आया करते थे। वे फसल काटने और अन्न एकत्र करनेमें सहायता करते और फिर अपने पहाड़ी प्रदेशमें लौट जाते। फारस और बाबिलोनियाके बीच एलाम (Elam) नामक प्रदेशमें उनका वासस्थान था। ये लोग बाबिलोनियनोंसे पिछड़े हुए होनेपर भी एक बातमें उनसे बहुत आगे बढ़े हुए थे। उनके आगमनतक बाबिलोनियन जानतेतक नहीं थे कि घोड़ा कैसा होता है और केशी लोग तो घुड़सवारीमें ऐसे पटु थे कि उन्होंने घुड़सवारों की ही सहायतासे बाबिलोनियन देश जीत लिया।

११. पहले-पहल केशी लोग बाबिलोनियनोंसे मिलते-जुलते नहीं थे। उन्होंने कर-प्रणालीमें कुछ सुधार किये पर अन्य विषयोंमें बाबिलोनियनोंकी सारी संस्कृति धीरे-धीरे अपना ली। अक्केडियन या

सेमिटिक लोगोंने सुमेरियनोंको जीता, पर सुमेरियन संस्कृतिने सेमेटिकोंपर विजय प्राप्त की। उसी प्रकार केशी लोगोंने यद्यपि बाबिलोनियनोंको जीत लिया तो भी बाबिलोनियन संस्कृति उनपर विजयी हुई। अर्थात् देवादिकों तथा अन्य सामाजिक विषयोंमें सुमेरियन परंपरा उसी प्रकार बनी रही। केशी लोगोंने अपनी भाषाके प्रचारका भी प्रयत्न नहीं किया। उनका सारा काम-काज अक्केडियन भाषामें ही होता था। शुरू-शुरूमें इन लोगोंके नाम बाबिलोनियन नामोंसे भिन्न थे। हमारी तरफके शक, मालव, हूण, गुर्जर, पारसी आदि भिन्न-भिन्न जातियोंके लोगोंने हिन्दुस्तानमें आनेपर जिस तरह अपनी मूल संस्कृति छोड़कर हिन्दू संस्कृति स्वीकार कर ली, उसी तरह इन केशी लोगोंने बाबिलोनियामें जानेपर धीरे-धीरे बाबिलोनियन संस्कृति पूरी तरह अपना ली।

आर्योंका स्थान और समय

१२. जान पड़ता है इन केशी लोगोंसे आर्योंका निकट संबंध रहा होगा। क्योंकि आर्य भी घोड़ेकी सवारीमें प्रवीण थे। इसलिए आर्योंका उदयकाल ईसवी सन्के पूर्व दो हजारसे सत्रह सौ वर्षतकका मानना पड़ता है। बहुत लोगोंकी कल्पना है कि केशी और आर्योंकी भाषाओंमें बहुत समानता थी, पर केशी लोगोंके बाबिलोनियनोंमें पूरी तरह मिल जानेके कारण उनके कुछ राजाओंके नामोंको छोड़कर यह जाननेका और कोई साधन नहीं रह गया है कि उनकी भाषा किस प्रकार की थी।

१३. ऋग्वेदमें अनेक स्थानोंपर इन्द्रके घोड़ोंका विशेषण केशी है। उसका अर्थ सायणाचार्यने "अयालवाले" किया है। पर घोड़ोंके अयाल होती है, यह बताने की आवश्यकता ही क्यों हो? इसका अर्थ 'केशी लोगों द्वारा सिखाकर तैयार किये गये' या 'केशी लोगोंके देशसे लाये गये' होगा। जान पड़ता है कि हिन्दुस्तानमें मध्ययुगमें जिस तरह सिंधके घोड़ोंकी (सैन्धवोंकी) प्रसिद्धि थी उसी तरह वैदिक कालमें केशी घोड़े प्रसिद्ध थे। "अवावचीत्सारथिरस्य केशी" ऋ० १०।१०२।६ से मालूम होता है कि केशी सारथी भी रथ चलानेके कार्यमें निपुण हुआ करते थे।

१४. शूष और शुष्म ये दो शब्द ऋग्वेदमें बलवाची मालूम होते हैं। पर "प्र मन्महे शवसानाय शूषमाङ्गूषं" ऋ० १।६२।१ आदि स्थानोंपर शूष शब्द इन्द्रका विशेषण जान पड़ता है। शुष्म शब्दकी व्युत्पति ठीक-ठीक समझमें नहीं आती। शुषन् (Shushan) एक समय एलामकी राजधानी थी। इसलिए अनुमान होता है कि इन दोनों शब्दोंका शुषन्से कुछ संबंध होगा। इन्द्र "शूष" अर्थात् "शुषन्का रहनेवाला" और शुष्मका अर्थ शुषन्का सामर्थ्य अर्थात् बल। इसलिए आर्योंका मूलस्थान शुषन्के आसपास ही होगा और वहीं उन्होंने पहले-पहल इन्द्रके नेतृत्वमें अपना प्रभुत्व स्थापित किया होगा।

१५. मितज्ञुका उल्लेख ऋग्वेदमें चार स्थानोंपर है। इस शब्दका अर्थ सायणाचार्यने किया है "मितजानुक" या "संकुचितजानुक"। पर मालूम होता है कि यह एलामके वायव्यमें रहनेवाले मितन्नि (Mitanni) लोगोंका उल्लेख है। ये लोग आर्योंके मित्र थे। उनके राजाओंके नाम भी आर्यन् थे। बोघझ्-कोई (Boghaz-Koi) में मिले एक मितन्नि राजाके लेखसे मालूम होता है कि ये लोग आर्योंकी ही तरह मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य देवताओंकी पूजा किया करते थे।

१६. यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों नहीं कहा जा सकता कि आर्य अति प्राचीन कालमें उत्तर ध्रुवकी ओर या मध्य एशियामें रहते थे और बादमें एलाममें आये। ऐसा होना संभव है। पर हमें आर्योंके ऐतिहासिक कालके निवासस्थानके संबंधमें विचार करना है, मूलस्थानके संबंधमें नहीं। उनकी अश्वारोहणपटुता और कैशी तथा मितन्नु लोगोंसे उनका जो संबंध दिखाई देता है उसके कारण यही माननेमें सुविधा है कि ऐतिहासिक कालमें उनका निवासस्थान एलाममें ही था।

१७. जान पड़ता है कि एलामके दक्षिणमें रहनेवाले बाबिलोनियन लोगोंसे इन आर्योंकी अच्छी मित्रता थी। उर् (Ur) और उम्मा (Umma) नगरोंमें रहनेवालोंका ऋग्वेदमें कई स्थानोंपर उल्लेख है "चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः" ऋ० ६।७५।९, "ये अश्रमास उरवे वहिष्ठास्तेभिर्न इन्द्राभि वक्षि वाजम्" ऋ० ६।२१।१२ आदि ऋचाओंमें उरु लोगोंके और "विश्वेभिरूमेभिरा गहि" ऋ० ५।५१।१, "प्रथमास ऊमाः" ऋ० १०।६।७, "अनु यं विश्वे मदन्त्यूमाः" ऋ० १०।१२०।१,

आदिमें उम्माके लोगोंके वर्णन मिलते हैं और इनसे अच्छी तरह अनुमान किया जा सकता है कि आर्योंको इन नगरोंमें रहनेवाले लोगोंके प्रति कितना आदर था।

१८. पश्चिमके मितन्नु या मितन्नि और दक्षिणके उरु, ऊमा आदि बाबिलोनियनोंसे आर्योंकी मित्रता होते हुए भी उन्हींमेंके उत्तरके पर्शियन लोगोंसे आर्योंकी घोर शत्रुता थी। यह बात "सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः" ऋ० १। १०५।८ इस ऋचासे दिखाई देती है। आवेस्ता ग्रन्थमें दो स्थानोंपर इन्द्रका उल्लेख है और वहाँ उसे दैत्य या राक्षस कहा है। आवेस्तामें अनेक स्थानोंपर इसका वर्णन मिलता है, कि किस प्रकार देवोंको अर्थात् कुकृत्योंमें प्रवृत्त करनेवाले राक्षसोंको अहुरमज्दकी प्रार्थना तथा यज्ञादि साधनोंसे भगाकर सुख प्राप्त करना चाहिए। इससे भी उपर्युक्त कथनकी पुष्टि होती है।

१९. एक समय एलामके आर्य और पर्शियाके आर्य मित्र और वरुण इन देवताओंकी प्रार्थना किया करते थे। इनमेंसे मित्रका अर्थ है सूर्य। उसकी उपासना उस कालके सभी लोगोंमें भिन्न-भिन्न रूपमें प्रचलित थी। वरुण आर्योंको एक सूत्रमें बाँधनेवाला अतिप्राचीन कालका नेता या राजा रहा होगा। एलाममें इन्द्रने अपना राज्य स्थापित किया, इसलिए उसका महत्त्व बढ़ा। पर इससे पार्शियन लोगोंको वह अत्यन्त अप्रिय हो गया होगा।

आर्य और बाबिलोनियनोंके देव तथा अदेव

२०. ऊपर लोकमान्य तिलकके जिस लेखकी बात कही गई है उसमें उन्होंने "असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च" अथर्व० ५।१३।६ इस ऋचाके तैमात शब्दका तिअमात् (Tiamat) शब्दसे संबंध जोड़ा है। बाबिलोनियनोंका विश्वास था कि तिअमात् एक राक्षसी है और पाताल लोकपर उसका आधिपत्य है। लोकमान्य तिलकका कहना है कि अथर्व वेदमें उसी राक्षसीका तैमात शब्दसे उल्लेख किया गया है। पर तिअमात् शब्द स्त्रीलिंग और तैमात पुल्लिंग है इसलिए तैमातका अर्थ यदि 'तिअमात् राक्षसीकी संतान' किया जाय तो वह ठीक बैठता है। तिअमात् शब्दका ही रूपान्तर होकर दुर्मति शब्द बना होगा। उदाहरणके लिए "जहि यो नो अघायति......

यामन्नप भूतु दुर्मतिर्विश्वाप भूतु दुर्मतिः " ऋ० १।१३१।७, "अपामीवामप स्रिधमप सेधत दुर्मतिम् " ऋ०८।१८।१० आदि ऋचाएँ देखिए।

२१. तिअमात् राक्षसीका पति अप्सु था। लोकमान्य तिलकने अपने लेखमें दिखला ही दिया है कि उसका उल्लेख " अप्सुजित् " ऋ० ८।१३।२, ऋ० ९।१०६।३, " अप्सुक्षित् " ऋ० १।१३९।११ आदि ऋचाओंमें मिलता है। तो भी कई स्थानोंपर अप्सु शब्दका " अभ्व " शब्दमें रूपांतर हो जानेका अनुमान है। "बाधते कृष्णमभ्वम्" ऋ० १।९२।५ "द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्" ऋ० १।१८५।२-८, " गूहन्ती रभ्वमसितं रुशद्भिः" ऋ० ४।५१।९ आदि ऋचाओं में इस शब्दका उल्लेख मिलता है।

२२. यह्व शब्दका संबंध लोकमान्य बाइबिलके जेहोवा (Jehovah) शब्दसे जोड़ते हैं पर मैं समझता हूँ कि उसका संबंध सुमेरियन "एअ " या " य " (Ea) शब्दसे होगा। "य " सुमेरियाका प्राचीनतम देवता है। ऋग्वेदमें अनेक स्थानोंपर अग्निके साथ उसका सबंध आया है ! " त्वं देवानामसि यह्व होता" ऋ० १०।११०।३ इस ऋचामें " तू यह्व नामिका देव" यह अर्थ मालूम होता है। अन्य कई स्थानोंपर "यह्व " " यह्वी " विशेषण रूपमें मिलते हैं। इनका अर्थ " य देवके पक्षके" या "य देवसे उत्पन्न " किया जा सकता है। "पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन्रुरुच उषसो न भानुना" ऋ० ६।१५।५ इस ऋचामें तो खास य देवताका ही उल्लेख है, ऐसा सन्देह होता है।

२३. उर्वशी शब्दका अर्थ लोकमान्यने जलदेवता (Watery Nymph) किया है। पर उर्वशी शब्द उरु + असको "ई" प्रत्यक्ष लगकर बना है। सुमेरियन भाषामें अस्का अर्थ मनुष्य होता है। इसलिए उर्वशीका अर्थ उर् नगरकी स्त्री होना चाहिए। यह स्त्री पुरूरवस ऐलके साथ एलाममें आई पर पुरूरवसका जंगली व्यवहार उसे अच्छा नहीं लगा और वह वहाँसे चली गई। जाते समय उसमें और पुरुरवसमें जो बातचीत हुई वह ऋ० १०। ९५, में है। उस संवादसे इसकी कुछ कल्पना हो जाती है कि उर्की स्त्रियों और एलामके संवादसे इसकी कुछ कल्पना हो जाती है कि उर्की स्त्रियों और एलामके पुरुषोंके विचार कैसे रहे होंगे।

२४. यहाँ तक लोकमान्य तिलकके लेखमें आये हुए शब्दोंका विचार हुआ। अब ऋग्वेदमें मिलनेवाले अन्य बाबिलोनियन देवताओंके नामोंका संक्षेपमें

विवेचन किया जायगा। बाबिलोनियन देवता "अंशन" (Anshan) का उल्लेख ऋग्वेदमें "अंश" नामसे हुआ है। "त्वमंशो विदथे देव भाजयुः" ऋ० २।१।४ इस ऋचामें "अंश" का अर्थ सायणाचार्यने स्पष्ट शब्दोंमें "एतन्नामको देवोऽसि किया है। बाबिलोनियन "एतन" (Etana) का सम्बन्ध ऋग्वेदके "एतश" से होगा। "स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना" ऋ० ५।८१।३ आदि ऋचाओंमें उसका उल्लेख देखिए।

२५. पर बाबिलोनियाके मुख्य देवता इस्तर (Ishtar) और तम्मूज़ (Tammuz) या दमुत्सि (Damuzi) थे। उनका सम्बन्ध "उषः" और "दमूनः" से है। "पुनः पुनर्जायमाना पुराणी" ऋ० १।९२।१० "उषा याति स्वसरस्य पत्नी" ऋ० ३।६१।४, "यां त्वा जज्ञुर्वृषभस्या रवेन" ऋ० ७।७९।४ आदि स्थानोंपर उषादेवीके जो वर्णन हैं उनका इश्तरकी दन्तकथाओंसे अत्यन्त निकट सम्बन्ध दिखाई देता है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि उषादेवीकी[1] कथाका इश्तरकी इस कथासे सम्बन्ध है कि वह छः महीनेके लिए पातालमें जाती है और फिर पृथ्वीपर आती है, तो यह माननेका कोई कारण नहीं रह जाता कि आर्य उत्तर ध्रुवकी ओरसे आये।

२६. तम्मूज़् या दमूनःके वर्णन ऋग्वेदमें थोड़ी जगहोंपर मिलते हैं। "अपश्चिदेष विभ्वो दमूनाः प्र सध्रीचीरसृजद्विश्वश्चन्द्राः" ऋ० ३।३१।१६, "नित्यश्चाकन्यात्स्वपतिर्दमूना यस्मा उ देवः सविता जजान" ऋ० १०।३१।४ आदि ऋचाओंमें तम्मूज़्का वर्णन होगा।

२७. इसके अतिरिक्त अनेक स्थानोंपर इन्द्रको मेष संज्ञा दी गई दिखाई देती है। "अभित्य मेषं पुरुहूत मृग्मियमिन्द्रं" ऋ० १।५१।१ आदि ऋचाओंमें यह उल्लेख मिलता है। इसमें सायणाचार्यने "मेषं" का अर्थ "शत्रुभिः स्पर्धमानं" किया है, पर समझमें नहीं आता कि यह अर्थ कैसे हो सकता है। यह सुमेरियाके मेष (Mes) देवताका उल्लेख होना चाहिए। इसी प्रकार पातलदेवता अल्लतु (Allatu) का वैदिक रूपान्तर "अराति" होगा।

२८. मेरा यह आग्रह नहीं है कि यहाँ किये गये सब अनुमान बिलकुल ठीक ही हैं। एक तो मेरे पास सुमेरियन और अक्केडियन इतिहास-पुराणपर लिखी हुई

---

१. See Myths of Babylonia, p. 93.

दो ही पुस्तकें[1] हैं, जो बाबिलोनियन इतिहास और पुराणका पूर्ण ज्ञान होनेके लिए पर्याप्त नहीं, और दूसरे मुझे सुमेरियन और अक्केडियन भाषाएँ नहीं आतीं जिससे उन भाषाओंके नाम वेदोंमें किन रूपोंमें आये हैं यह बताना संभव नहीं। मेरा उद्देश्य केवल इतना ही दिखाना है कि बाबिलोनियन इतिहास-पुराणका वैदिक साहित्यसे निकट सम्बन्ध है। इसमें मुझे सफलता मिली या नहीं, यह विशेषज्ञ ही बतावें।

आर्योंकी सप्तसिंधुपर चढ़ाई

२९. जान पड़ता है कि वर्तमान सिंध और पंजाब प्रान्त वैदिक कालमें सप्तसिंधु कहा जाता था। ऋ० १।३२।१२, ऋ० १।३५।८, ऋ० २।१२।१२ आदिमें "सप्तसिंधून्" का प्रयोग मिलता है। ऋ० ८।२४।२७ में "सप्तसिंधुषु" शब्द आया है। इसलिए यह कहनेमें कोई हानि नहीं कि ऋग्वेद-कालमें पंजाब और सिंधका नाम सप्तसिंधु था। अवेस्ता ग्रन्थमें इसी प्रदेशको हप्तहिन्दु कहा है। ऋग्वेदमें चौथे मंडलके सत्रह, अठारह और उन्नीसवें सूक्तकी क्रमशः पहली, सातवीं और आठवीं ऋचामें केवल "सिन्धून्" ऐसा प्रयोग है। इससे अनुमान होता है कि बादमें सप्तसिंधुके बजाय सिंधु कहनेकी प्रथा चली होगी। उसी सिन्धुका प्राचीन पर्शियन रूपान्तर "हिन्दु" है और इसीसे आजकलके हिन्दू और हिन्दुस्तान शब्द बने हैं।

३०. एलामके आर्योंकी एक शाखा मितन्नि देशमें गई और वहाँ उसने एक शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया। इसका प्रमाण उपर्युनिर्दिष्ट बोघ्झ-कोईके शिलालेखमें मिलता है। पर दक्षिणमें केशी लोगोंका बलशाली राष्ट्र होनेके कारण उनसे मित्रताका व्यवहार रखनेके लिए ऐल (Elamite) आर्य बाध्य हुए होंगे। पर्शियन आर्योंसे उनकी कई लड़ाइयाँ हुईं पर उनमें सफलता न मिलनेके कारण यदि उनकी गति पूर्वकी ओर मुड़ी हो तो आश्चर्यकी बात नहीं। वे सिंध प्रान्तमें किस मार्गसे आये यह ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता। तथापि इस अनुमानके लिए कहीं कोई आधार नहीं मिलता कि जिस प्रकार

१. ये दो पुस्तकें "History of Summer and Akkad, and History of Babylon" by L. W. King और "Myths of Babylonia and Assyria" by D. A. Mackenzie.

शक, हूण आदिकी चढ़ाइयाँ खैबर घाटीकी ओरसे हुईं उसी प्रकार आर्योंकी चढ़ाइयाँ भी उसी मार्गसे हुई होंगी। उपरिनिर्दिष्ट एकतीसवें जातकमें इन्द्रकी जो कथा है उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि आर्य फारसकी खाड़ीके किनारे-किनारे सिंध प्रांतमें आये। ऋग्वेदमें समुद्रके जो वर्णन मिलते हैं उनसे भी इस अनुमानकी पुष्टि होती है।

३१. सप्तसिंधु प्रदेशमें वृत्रका राज्य था। इसे "अहि" भी कहते थे। "वृत्रं जघन्वाँ असृजद्वि सिंधून्" ऋ० ४।१९।८ में उसे वृत्र कहा है तो "यो हत्वाहिमरिणात् सप्तसिंधून्" ऋ० २।१२।३ में उसे ही अहि कहा है। वह जिन लोगोंका नेता या राजा था उन्हें दास या दस्यु कहते थे। इसीलिए कई स्थानोंपर वृत्रके लिए भी दास या दस्यु ये विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। "विश्वा अपो अजयद्दासपत्नीः" ऋ० ५।३०।५, "दासपत्नीरहिगोपाः" ऋ० १।३२।११ आदि ऋचाओंसे स्पष्ट है कि सप्तसिंधुपर दासोंका आधिपत्य था। आजकल लोगोंकी धारणा है कि दासका अर्थ क्रूर और जंगली लोग है पर दास शब्दका मूल अर्थ यह नहीं जान पड़ता। दासका अर्थ दाता (जिसे अँग्रेजीमें Noble कहते हैं) रहा होगा।

३२. महाभारतमें वृत्रगीता नामका एक प्रकरण है। उसमें भीष्म वृत्रकी बड़ी प्रशंसा करते हैं और उसे सुनकर धर्मराजके मुँहसे ये उद्गार निकलते हैं—

> अहो धर्मिष्ठता तात वृत्रस्यामिततेजसः।
> यस्य विज्ञानमतुलं विष्णौ भक्तिश्च तादृसी॥[1]

(हे पितामह, अमिततेज वृत्रकी धर्मिष्ठताका क्या वर्णन किया जाय? उसका वह अतुल विज्ञान और विष्णुपर उसकी वह भक्ति!)

३३. इसके बाद युधिष्ठिर भीष्मसे पूछते हैं कि ऐसे बुद्धिमान् और विष्णु-भक्त वृत्रको इन्द्रने कैसे मारा? इसपर भीष्म यह कथा सुनाते हैं कि महादेवने ज्वर बनकर वृत्रके शरीरमें प्रवेश किया और विष्णु इन्द्रके वज्रमें प्रविष्ट हुए और इसी कारण वृत्रका वध किया जा सका। आगे यह कथा है कि वृत्रका वध होने पर उसके शरीरसे ब्रह्म-हत्या निकली और उसने इन्द्रका पीछा किया।

१. कुम्भकोण, शान्ति प० अ० २८७; औंध, अ० २८१, श्लोक १

३४. इस कथाके लिए वैदिक साहित्यमें आधार न मिला होता तो इसकी गणना केवल दन्तकथामें की जाती पर ऐतरेय ब्राह्मणके पैंतीसवें अध्यायके दूसरे खंडमें कथा है कि देवताओंने इन्द्रपर विश्वरूपका वध करने, वृत्रका वध करने, यतियोंको कुत्तोंको खिला देने, अरुर्मघोंकी हत्या करने और बृहस्पति-पर प्रतिप्रहार करनेके पाँच अभियोग लगाये। इस कथासे सिद्ध होता कि वृत्र ब्राह्मण था। इसके उदाहरण मिलते हैं कि सुमेरियन लोगोंमें कभी कभी पुजारी वर्ग भी राज्याधिकार हथिया लेता था और कभी-कभी राजा भी देवताओंके पुजारी हुआ करते थे। तात्पर्य यह कि उस समय यह धारणा नहीं थी कि ब्राह्मण और क्षत्रियोंके कर्म अत्यन्त भिन्न हैं। परशुरामकी कथा भी इस कथनकी पुष्टि करती है। इसलिए यह माननेमें कोई हानि नहीं कि वृत्र ब्राह्मण था।

३५. उस समय भिन्न-भिन्न लोगोंमें सूर्यकी उपासना प्रचलित थी। जान पड़ता है कि बाबिलोनियामें मर्दुक (Marduk) के, ऐल और पर्शियन देशमें मित्रके और सिंधु देशमें विष्णुके नामसे सूर्यकी पूजा की जाती थी। "अथाब्रवीद्वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व" ऋ० ४।१८।११ में "विक्रमस्व" का अर्थ सायणाचार्यने "पराक्रम करो" ऐसा किया है। पर उसका अर्थ "दूर हो" होना संभव है। उसका ऐसा अर्थ करने पर इस कथाका महाभारतकी उपर्युक्त कथासे संबंध जोड़ा जा सकता है। उस दशामें इस ऋचाका यह अर्थ होगा कि वृत्रके वधके समय इन्द्रने विष्णुसे कहा कि "सखे विष्णो, तू पूर्ण रूपसे दूर हो जा" अर्थात् तू अपने भक्त वृत्रकी सहायता न कर और इस प्रकार महाभारतकी कथाकी पुष्टि होगी।

३६. यदि यह मान लिया जाय कि मोहन्जो-दारो और हरप्पा इन दो स्थानोंपर मिले नगरावशेष दास लोगोंके समयके हैं तो कहना पड़ेगा कि दासोंकी संस्कृति कुछ मामलोंमें ऊँचे दर्जेकी थी। यह भी संभव है कि दास लोग सुमेरियन ही रहे हों। युफ्रेतिस और तैग्रिस नदियोंके मुहानोंपर सुमेरि-यनोंकी बस्तियाँ बनानेके कुछ काल बाद उन्हींमेंके इन दास लोगोंने सप्तसिंधुमें जाकर अपनी बस्तियाँ बनाई होंगी। पर सुमेर देशमें अक्केडियन सेमेटिक लोगोंका महत्त्व बढ़नेपर सुमेरियन प्रदेश और दासोंके उपनिवेशोंका संबंध टूट गया होगा। कैशी लोगोंके आगमनके पूर्व जिस प्रकार बाबिलोनियन लोग घोड़ेको नहीं जानते थे उसी प्रकार आर्योंके पहले दास घोड़ोंसे परिचित नहीं

थे; कारण महिन्जो-दारो और हरप्पामें मिले सिक्कोंपर अन्य पशुओंके चित्र तो अंकित किये गये हैं पर घोड़ेका एक भी चित्र नहीं मिला। इसलिए दास लोगोंकी पराजयके अनेक कारणोंमें उनके पास घुड़सवारोंका न होना, यह एक मुख्य कारण रहा होगा।

३७. अक्केडियन सेमेटिकोंके सुमेरियापर विजय प्राप्त करके बाद, सुमेरियामें जो छोटे-मोटे शहर थे वे एकाधिकारके नीचे आ गये और सुमेर और अक्काड एक साम्राज्यके अन्दर आ गये। तबसे वहाँके अधिकतर सार्वभौम राजाओंकी पूजा आरंभ हुई। वही बात सप्तसिंधुमें भी हुई होगी। दास लोग छोटे-मोटे शहरोंमें रहा करते थे और इन शहरोंमें आपसमें लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। वृत्र यद्यपि नामके लिए प्रमुख था फिर भी ऐसा नहीं मालूम होता कि सब शहरोंपर उसका आधिपत्य रहा होगा। इस स्थितिमें आर्य सरलता से वृत्रको पराजित कर सके।

३८. जान पड़ता है कि दास लोग राजपूतोंकी तरह शूर थे। पर एकता और अश्वारोही सेनाके अभावके कारण उनके लिए आर्योंके सामने ठहरना असंभव था। नमुचि दासने तो अपने राज्यकी स्त्रियोंतकको इन्द्रसे लड़नेके लिए खड़ा कर दिया था। इसका उल्लेख ऋ० ५।३०।९ में मिलता है। "स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किमा करन्नबला अस्य सेनाः" (दासने स्त्रियोंतकको युद्धमें खड़ा किया। पर ऐसी दुर्बल सेना क्या कर सकती थी?) फलतः नमुचि इस लड़ाईमें मारा गया।

३९. शंबर दासके तो इन्द्रने निन्यानवे नगर नष्ट किये। "नवतिं च नवेन्द्रः पुरो व्यैरच्छम्बरस्य" ऋ० २।१९।६। दूसरी एक ऋचामें सौ नगर नष्ट करनेका उल्लेख है। "यः शतं शम्बरस्य पुरो विभेदाश्मनेव पूर्वीः" ऋ० २।१४।६। ऐसा होते हुए भी शंबर चालीस वर्षतक इन्द्रके काबूमें नहीं आया। "यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्" ऋ० २।१२।११। अर्थात् मैदानमें पराजय होनेपर शंबर पर्वतोंका आश्रय लेकर चालीस वर्षतक इन्द्रके आर्योंपर छापा मारता रहा और चालीसवें वर्ष इन्द्रने उसे पकड़कर मार डाला।

४०. साम्राज्यके अन्तिम कालकी स्थिति 'आपसकी फूट' हुआ करती है यह सब साम्राज्योंके इतिहासोंमें देखनेमें आती है। दासोंने साम्राज्य स्थापित

किया था, ऐसा नहीं मालूम होता, पर उनमें आपसकी फूट बहुत थी। उदाहरणार्थ, त्वष्टा ब्राह्मण होते हुए भी वृत्रको मारनेके लिए वज्र तैयार करता है और इन्द्रको देता है। "त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष" ऋ० १।३२।२। यह वज्र किस प्रकारका था इसका पता नहीं लगता। चंगेज खाँने चीन देशपर कब्जा किया और वहाँके कारीगरोंकी सहायतासे लकड़ीका एक यंत्र तैयार किया। किलेबन्दीवाले शहर नष्ट करनेके लिए वह उससे काम लिया करता था। जहाँ पत्थर न होते थे वहाँ उसके आदमी ऊँटों और गाड़ियोंपर लादकर बाहरसे पत्थर लाते और उस यंत्र द्वारा ये पत्थर तेजीसे उस शहरके अन्दर फेंकते। इसी प्रकार शहरके घरोंको जलानेके लिए उस यत्रसे जलते हुए बड़े-बड़े पलीते शहर में फेंके जाते। त्वष्टा द्वारा इन्द्रके लिए तैयार किया गया वज्र इसी प्रकारका रहा होगा। उसकी सहायतासे इन्द्रने दासोंके शहर उजाड़ डाले। पारितोषिक त्वष्टाको यह मिला कि उसके पुत्र त्रिशीर्षको इन्द्रने अपना पौरोहित्य दिया।

४१. त्रिशीर्ष द्वारा विद्रोह किये जानेकी आशंकासे बादमें इन्द्रने उसे मार डाला। इस त्रिशीर्षको विश्वरूप भी कहा करते थे। तैत्तिरीय संहितामें उसका इस प्रकार उल्लेख है "विश्वरूपो वै त्वाष्ट्रः पुरोहितो देवानामासीत् स्वस्रीयोऽसुराणां ...तस्मादिंद्रोऽबिभेदीदृङ् वै राष्ट्रं वि परावर्तयतीति तस्य वज्रमादाय शीर्षाण्यच्छिनत्......तं भूतान्यभ्यक्रोशन्ब्रह्महन्निति:"। (विश्वरूप नामका त्वष्टाका पुत्र और असुरोंका भानजा देवोंका पुरोहित था......वह विद्रोह करेगा इस आशंकासे इन्द्रने उसके सिर काटे[1]......तब लोग इन्द्रकी ब्रह्महा कहकर निन्दा करने लगे।) [तै० सं० काण्ड २।५।१]

४२. त्रीशीर्षकी यह कथा महाभारतके उद्योग पर्वमें आई है। त्रिशीर्षके मारनेपर तक्ष इन्द्रको कहता है—"ऋषिपुत्रमिमं हत्वा ब्रह्महत्याभयं न ते ?" (इस ऋषिपुत्रको मारकर भी तुमको ब्रह्महत्याका भय नहीं होता ?) इसपर इन्द्र उत्तर देता है—"पश्चाद्धर्मं चरिष्यामि पावनार्थं सुदुश्चरम् ।"[2] (मैं बादमें सुदुश्चर धर्मका आचरण करनेवाला हूँ।) अर्थात् इस समय जो हुआ है वह ठीक हुआ है, इसका प्रायश्चित्त क्या होना चाहिए यह बादमें

१. विश्वरूप त्रिशीर्षके सिर काटनेका उल्लेख ऋ० १०।८।८–९ में मिलता है। "त्वाष्ट्रस्य चिद्विश्वरूपस्य गोनामा चक्राणस्त्रीणि शीर्षा परावर्क्" ।

२. औंध, उद्योग प० अ० ९, श्लोक ३४–३५।

देख लिया जायगा। यहाँ क्लाइव और उसके मित्र अमीचन्दका स्मरण हो आता है।

४३. दासके ही सौ नगर इन्द्रने आखिर किसके लिए नष्ट किये? दिवोदासके लिए। "भिनत्पुरो नवतिमिन्द्र पूरवे दिवोदासाय महि दाशुषे" ऋ० १।१३०।७, "शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्। दिवोदासाय दाशुषे" ऋ० ४।३०।२० दिवोदासके बाद उसका पुत्र सुदाः गद्दीपर बैठा। उसे भी इन्द्रके सहायता करनेका उल्लेख ऋ० ७।८३ में है। इसी प्रकार त्रसदस्यु, पुरुकुत्स आदिकी सहायता कर इन्द्रने सार्वभौम राज्य स्थापित किया होगा। ४।३०।१७-१८ ऋचामें ऋषि कहते हैं कि तुर्वश और यदु दास होते हुए भी उनकी इन्द्रने रक्षा की और अर्ण तथा चित्ररथ आर्य होते हुए भी उनका वध किया। इससे सिद्ध होता है कि साम्राज्य स्थापित करनेके लिए इन्द्र ब्राह्मण और अब्राह्मण, यति और गृहस्थ, आर्य और दासमें कोई भेद नहीं करता था।

सप्तसिंधुका पहला सम्राट्

४४. ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट दिखाई देता है कि एलामके इन्द्रने आर्योंका अगुआ बनकर सप्तसिंधुके दास राजाओंको पराजित किया और अपना राज्य स्थापित किया। इन्द्रकी प्रार्थनाके सूक्त ऋग्वेदमें भरपूर है। पर उनमें इन्द्रके बाल्यकालका या राज्य-प्राप्तिका अधिक परिचय नहीं मिलता। एक ऋचामें इन्द्रको कौशिक[1] कहा गया है। इससे जान पड़ता है कि उसका जन्म कौशिक वंशमें हुआ होगा। पर दूसरी अनेक ऋचाओंमें उसे श्येन कहा गया है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि वैदिक कालमें श्येन और कौशिक एक ही पक्षीके नाम रहे हों?

४५. "सद्योह जातो वृषभः कनीनः" ऋ० ३।४८।१ इस ऋचामें "कनीन" का अर्थ सायणाचार्यने "कमनीय" (सुन्दर) किया है। पर कनीन शब्दका अर्थ कानीन (कन्यावस्थामें जन्मा हुआ) होना संभव है। कारण "अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकरिंद्रं माता वीर्येण न्यृष्टम्" ऋ० ४।१८।५ (अपनी प्रतिष्ठाको हानि पहुँचानेवाला समझकर माताने उस सामर्थ्यवान् इन्द्रको छिपाया!) इस ऋचामें कहा गया है कि माताने इन्द्रको जन्मसे ही छिपाया। इसी सूक्तकी

---

१. "आ तू न इन्द्र कौशिक" ऋ० १।१०।११।

दसवीं ऋचामें ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार गायने बच्चेको जन्म दिया उसी प्रकार माताने इन्द्रको। इससे मालूम होता है कि ईसाकी तरह इन्द्रका भी गोशालामें जन्म हुआ होगा। माताकी कुमारी-अवस्थाके कारण यह स्वाभाविक था कि उसे गोशालामें प्रसव कर बच्चेको छिपाना पड़ा हो।

४६. "कस्ते मातरं विधवामचक्रच्छयुं कस्त्वामजिघांसच्चरन्तं।
कस्ते देवो अधि मार्डीक आसीद् यत्प्राक्षिणाः पितरं पादगृह्य॥"
ऋ० ४।१८।१२

(तेरी माताको विधवा किसने किया? तुझे सोते और घूमते समय मारनेकी कोशिशमें कौन था? जिस तूने पिताको पैर पकड़कर मार डाला उस तुझसे अधिक सुख देनेवाला दूसरा देव कौन है?) इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कौशिक गोत्रके किसी छोटे राजाको एक कन्यासे यह पुत्र हुआ। पर बच्चेके जन्मके समय उसने उस कन्याको अंगीकार नहीं किया। जिस प्रकार दुष्यन्तने शकुन्तलाको निकाल दिया था उसी प्रकार उस राजाने इस युवतीको भी निकाल दिया होगा। पर बादमें उसने उसको अंगीकार अवश्य किया होगा। लेकिन इन्द्र अपनी माताके अपमानको नहीं भूला और मौका मिलते ही उसने पिताको पैर पकड़कर मार डाला तथा उसका राज्य छीन लिया। इस प्रकार आरम्भ करके इन्द्रने एलामके आर्योंपर प्रभुत्व प्राप्त किया होगा।

४७. इन्द्रने जो अनेक पराक्रम किये उनमें सबसे बड़ा वृत्रका वध था। इसके कारण उसका नाम वृत्रहा पड़ा। इससे कुछ उतरता हुआ पराक्रम दासोंके नगर नष्ट कर सारे देशको मुक्त करना रहा होगा। इससे उसको पुरंदर (नगर नष्ट करनेवाला) संज्ञा मिली। इन्द्रके पराक्रमका परिणाम यह हुआ कि दास पराजित होकर नीच पदको प्राप्त हुए। "विशो दासीर कृणोरप्रशस्ताः" ऋ० ४।२८।४, "दासं वर्णमधरं गुहाकः" ऋ० २।१२।४ और दास शब्द गुलामके अर्थमें प्रयुक्त होने लगा। इन्द्रके विजयके कारण आर्योंका महत्त्व बढ़ा और आर्योंकी गणना बड़े लोगोंमें होने लगी, सभी आर्य कहलानेमें बड़प्पन समझने लगे।

४८. सप्तसिंधु प्रदेशपर पूर्ण आधिपत्य स्थापित होनेके बाद इन्द्र पूर्वकी ओर बढ़ा हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इसमें इन्द्रकी कितने स्थानोंपर

पराजय हुई यह जानना संभव नहीं, कारण ऋग्वेदके इन्द्रसंबंधी सूक्त तो इन्द्रकी स्तुतिसे भरे हुए हैं, उनमें इन्द्रके पराजयकी कथा आना संभव नहीं। तथापि निम्नलिखित तीन ऋचाएँ विचारणीय हैं—

अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त॥
द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः।
नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ।
अध द्रप्सो अंशुमत्या उपस्थेऽधारयत्तन्वं तित्विषाणः।
विशो अदेवीरभ्या चरन्तीर्बृहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे॥

ऋ० ८।९६।१३–१५।

४९. यहाँ सायणाचार्यने 'तन्व' का अर्थ 'शरीर' किया है। पंद्रहवीं ऋचामें 'अभि' उपसर्गका 'ससाहे' से संबंध जोड़कर उसका अर्थ 'जघान' अर्थात् मार डाला किया गया है। पर ऐसा अर्थ क्यों किया? तो कहते हैं—'प्रसंगादवगम्यते' (प्रसंगसे जाना जाता है)। अर्थात् सायणाचार्य मान लेते हैं कि जहाँ-जहाँ इन्द्रका शत्रुसे सामना हुआ, वहाँ-वहाँ इन्द्रने शत्रुको अवश्य ही मार डाला होगा। पर वह अर्थ 'सह' धातुसे कैसे निकलता है, यह समझमें नहीं आता। 'सह' धातुका अर्थ 'सहन करना' या 'जीतना' होना संभव है पर यह नहीं जान पड़ता कि उसका अर्थ 'मार डालना' होगा।

५०. इन ऋचाओंका सरल अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है—"वह शीघ्रगामी कृष्ण दस हजार सेनाके साथ अंशुमती नदीके समीप आया (और वहाँ छावनी डाली)। चारों ओर महाशब्द करनेवाले उस कृष्णके पास इन्द्र आया और सन्धि करनेके विचारसे उसने कृष्णसे मित्रताकी बातचीत आरंभ की। अपनी सेनासे उसने कहा—'अंशुमती नदीकी तंग घाटीमें जंगलमें छिपकर बैठे हुए उस द्रुतगामी और आकाशके समान तेजस्वी कृष्णको मैं देख रहा हूँ और वीरो, मेरी इच्छा है कि अब तुम उससे युद्ध करो।' तदनन्तर उस कृष्णने अपनी सेना अंशुमतीकी घाटीमें एकत्र की और बड़ा पराक्रम दिखाया। चारों ओरसे चढ़ाई करनेवाली इस देवेतर सेनाको इन्द्रने

बृहस्पतिकी सहायतासे पराजित किया। (अथवा इन्द्रने इस सेनाके आक्रमण सहन किये।)"

५१. इससे यह जान पड़ता है कि कृष्णपर आक्रमण करनेके लिए इन्द्रके अपने देशसे अंशुमती नदीतक पहुँचनेपर वहाँ कृष्णने ऐसे विकट स्थानपर अपनी सेनाका व्यूह रचा कि इन्द्रके लिए उसपर आक्रमण करना कठिन हो गया। पराजय न होनेको ही विजय मानकर इन्द्र वहाँसे पीछे हटा या यह कहिए कि इस संकटसे बृहस्पतिने उसे बचाया।

५२. दूसरी एक ऋचामें इन्द्रके कृष्णकी गर्भवती स्त्रियोंको मारनेका उल्लेख है ("यः कृष्णगर्भा निरहन्" ऋ० १।१०१।१)। अर्थात् अंशुमती नदीके पास कृष्णको न जीत सकनेके कारण कृष्णके देशकी कुछ गर्भवती स्त्रियोंको मार डालने और ऐसे ही कुछ अत्याचार करनेके बाद इन्द्र पीछे हट गया होगा।

५३. भागवतके दशम स्कन्धके चौबीसवें और पचीसवें अध्यायोंमें यह कथा आई है कि "नन्दादिक गोपालोंने यज्ञसे इन्द्रको संतुष्ट करनेका विचार किया पर कृष्णको यह बात पसन्द नहीं आई। उसने सादा भोजन करनेको बाध्य किया और गोप-गोपियोंको लेकर वह गोवर्धन पर्वतकी ओर चला गया। उसका यह कार्य इन्द्रको अच्छा नहीं लगा और उसने मूसलधार वर्षा करके गोकुलका नाश करनेका प्रयत्न किया। तब कृष्णने गोवर्धन पर्वत हाथपर उठा लिया और उसके नीचे गोकुलको आश्रय देकर इन्द्रकी कुछ चलने नहीं दी।" भागवतकी इस दन्तकथाका और उपर्युक्त ऋचाओंका निकट सम्बन्ध होना चाहिए।

५४. भागवतकी यह कथा इन्द्रको देवत्व प्राप्त होनेके बादकी है, तथापि उसमें कुछ ऐतिहासिक अंश होना चाहिए। यह कथा उपर्युक्त ऋचाओंका विचार करते हुए पढ़नेपर यह निष्कर्ष निकलता है—"इन्द्रने पराक्रमी कृष्णपर आक्रमण किया। इन्द्रके पास अश्वारोही होनेके कारण उसकी सेना बलवती थी। कृष्णका बल तो था केवल गाय, बैल और तेज चलनेवाली सेना। पर कृष्णने ऐसा स्थान ढूँढ़ निकाला कि उसके सामने इन्द्रकी कुछ नहीं चली, उसकी अश्वारोही सेना किसी काम न आ सकी। अन्तमें उसे अपनी सेना लेकर लौट जाना पड़ा।" इसके बाद पूर्वकी ओर आक्रमण करनेका इन्द्रने प्रयत्न न किया होगा।

५५. इन्द्रके सहायक थे मरुत। वे किस प्रदेशके रहनेवाले थे इसका पता नहीं लगता। ये लोग पर्शिया और एलामके बीचके मीडिया देशके या आधुनिक बलूचिस्तानके रहनेवाले रहे होंगे। ऋग्वेदमें एक-दो स्थानोंपर मरुतोंको शाक कहा है। "अस्य शाकैर्यदी सोमासः सुषुता अमन्दन्" ऋ० ५।३०।१०, "अस्य शाकैरिह नूनं वाजयन्तो हुवेम" ऋ० ६।१९।४, इन दो स्थानोंपर शाक शब्दको सायणाचार्य मरुद्वाचक बताते हैं। शाकोंका संबंध शकोंसे तो नहीं था? ऐसा रहा हो तो मरुतोंका नेता रुद्र ही शकोंका महादेव होना सम्भव है।

५६. इकतीसवें जातकमें जो कथा आई है और जिसका उल्लेख इस विभाग के आरभमें किया गया है वह इस प्रकार है—

अन्तरा द्विन्नं अयुज्झपुरानं पञ्चविधा ठपिता अभिरक्खा।
उरगकरोटि पयस्स च हारी मदनयुता चतुरो च महन्ता॥

टीकाकारने इस गाथाका अर्थ किया है—"देवों और असुरोंके दो अयोध्य नगर थे। उनके बीचमें इन्द्रने उरग (नाग), करोटि (सुपर्ण), पयस्स हारी (कुंभण्ड = दानव राक्षस), मदनयुत (यक्ष) और चार महन्त अर्थात् चार दिक्पाल रक्षणार्थ रखे।"

५७. यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ये दो अयोध्य (जीतनेमें कठिन) नगर कौनसे थे? एक पर्शियाकी राजधानी और दूसरी एलामकी राजधानी तो नहीं थी? बीचमें इन्द्रने पाँच स्थानोंपर रक्षक रखे। टीकाकारके अर्थके अनुसार उरग, करोटि आदि विभिन्न जातिके लोग थे। पर पयस्स हारी करोटि नामके नाग और मदन अर्थात् मीडियनों (Median या Medes) के चार नेता, इस तरह कुल मिलाकर पाँच रक्षक तो नहीं थे? आजकल अंग्रेजी सरकार जिस प्रकार हिन्दुस्तानकी रक्षाके लिए सीमा-प्रदेशकी विभिन्न जातियोंसे मित्रतापूर्ण व्यवहार रखती है उसी प्रकार इन्द्रने भी अपने साम्राज्यकी रक्षाके लिए इन लोगोंसे सन्धि कर रखी होगी।

५८. सप्तसिंधुकी चढ़ाईका काम समाप्त हो जानेके बाद इन्द्र एलाममें जाकर रहा होगा। उसके बनाये मांडलिकोंमें उसकी पूजा होना स्वाभाविक है। इसमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं कि सप्तसिंधुमें इन्द्रकी जयन्ती

उसी प्रकार मनाई जाती होगी जिस प्रकार आज सर्वत्र सम्राट् पंचम जार्जकी मनाई जाती है। संयुक्त प्रान्तके अनेक स्थानोंमें प्रतिवर्ष दसहरेके दिनोंमें रामलीलामें जिस प्रकार रावण तथा अन्य राक्षसोंके मारनेका तमाशा होता है उसी प्रकार इन्द्रके वृत्र तथा उसके अनुयायियोंको मारनेकी लीला करना सप्तसिंधुके राजाओंमें ही नहीं, सर्वसाधारणमें भी प्रचलित रहा होगा। "क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः। यदा वृत्राणि जङ्घनदथैनं मे पुनर्ददत् ॥" ऋ० ४।२४।१० (दस गायें देकर मेरा यह इन्द्र कौन खरीदेगा? वृत्रकी सेनाको मारनेके बाद मेरे इस इन्द्रको वह लौटा दे।) इस ऋचासे जान पड़ता है कि कारीगर लोग बड़े-बड़े इन्द्र बनाकर इन्द्र-लीलाके समय किरायेपर दिया करते थे और लीला समाप्त हो जानेपर इन्द्रकी वह मूर्ति दूसरे वर्षके लिए जतनसे रख छोड़ते थे।

५९. इन्द्रके बाद ही दूसरे किसी वैसे ही बलवान् राजाकी हिन्दुस्तानपर चढ़ाई हुई होती तो इन सब लीलाओंका लोप होकर उनके स्थानपर नये विजेताकी लीला आरंभ हुई होती। पर इन्द्रसे लेकर चन्द्रगुप्तके समयतक हिन्दुस्तानमें दूसरा साम्राज्य स्थापित नहीं हुआ और इससे इन्द्रका नाम अमर हुआ। तो भी कुछ समय बाद बृह्मणस्पति या बृहस्पतिका पद बड़ा होकर इसका पद घट गया।

६०. जिसे बाबिलोनियन इतिहासका कुछ परिचय है उसे इन्द्रकी गणना देवताओंमें होनेपर बिलकुल आश्चर्य न होगा। बाबिलोनियाके बहुतसे सम्राटोंकी उनके जीवनकालमें ही देवताओंमें गणना की गई थी। उनको सोमपानके लिए निमंत्रित करनेका एक बड़ा उत्सव हुआ करता था। ऐसे कई खुदे हुए चित्र बाबिलोनियामें मिले हैं। वहाँके सम्राटोंकी प्रथाका अनुकरण कर इन्द्रने भी अपनी गणना देवताओंमें करा ली होगी और उसका प्रचार अपने साम्राज्यमें कराया होगा।

६१. एलाममें अनेक परिवर्तन होनेके कारण इन्द्र, उसके अनुयायी देव और सहायक मरुत् इनका नामतक उस प्रदेशमें नहीं रह गया। पर वैदिक साहित्यके रूपमें आज दिन भी हिन्दुस्तानमें उसका अस्तित्व है। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। बौद्धधर्मका हिन्दुस्तानमें उदय हुआ और आरंभमें वह यहीं फैला। ऐसा होते हुए भी मुस्लिम शासन-कालमें सर्वसाधारणमें उसका नामतक नहीं रह गया था। इन्द्र और देवोंको जिस प्रकार पर्शियन लोग राक्षस समझने लगे उसी

प्रकार हिन्दुस्तानके लोग बौद्धोंको नास्तिक कहने लगे। पर उस बौद्ध धर्मकी दक्षिणकी ओर सिंहल, उत्तरकी ओर तिब्बत और पूर्वकी ओर बर्मा, श्याम, चीन, जापान आदि देशोंमें विजय हुई। कहना चाहिए कि इसी प्रकार इन्द्र और देवोंका अपने देशमें लोप होकर हिन्दुस्तानमें उनकी विजय हुई।

६२. यहाँ असुरोंके संबंधमें दो शब्द लिखना अप्रासंगिक न होगा। आजकल साधारण जनताकी यह धारणा है कि सुरका अर्थ देव और जो देव नहीं, देवोंके शत्रु वे असुर। पर इसके लिए वैदिक साहित्यमें कोई आधार नहीं है। वैदिक साहित्यमें सुर शब्द कहीं नहीं मिलता और असुर विशेषण इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि आदिके लिए प्रयुक्त हुआ है। "अनायुधासो असुरा अदेवाः" ऋ० ८।९६।९ इस ऋचामें तो सब देवोंका असुरोंमें ही समावेश किया गया दिखाई देता है। इसका यह अर्थ होता है कि देव असुरोंमेंसे ही थे, तभी तो 'देवोंके अतिरिक्त अन्य असुर' कहा गया है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदोंमें अनेक स्थानोंपर 'देवासुराः' प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार प्राचीन बौद्ध साहित्यमें भी 'देवासुरसंगामो' आदि प्रयोग मिलते हैं। अर्थात् ईसाके पूर्व लगभग दसवीं सदीके बाद देवोंसे असुरोंको भिन्न करनेकी प्रथा आरंभ हुई होगी। इसके क्या कारण रहे होंगे यह बताना संभव नहीं। संभव है कि असीरियन लोगोंकी बाबिलोनियापर चढ़ाइयाँ होकर सर्वत्र उनका प्रभाव छा जानेपर, उनके मुख्य देवता असुर होनेके कारण, एलाममें और उसके पूर्व सप्तसिंधुमें असुरोंके संबंधमें घृणाभाव फैलता गया हो! वैसे असुर शब्दका वास्तविक अर्थ प्राणवान्, बलवान् तथा सामर्थ्यवान् है। असुका अर्थ होता है प्राण, उसीसे असुर शब्द बना है।

वैदिक संस्कृतिका उद्भव और विकास

६३. ऊपर किये गये विवेचनसे स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृतिकी उत्पत्ति बाबिलोनियन संस्कृतिसे हुई है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि बाबिलोनियन भाषाओंका अच्छी तरह अध्ययन किये बिना बहुत-सी वैदिक ऋचाओंका वास्तविक अर्थ समझमें नहीं आवेगा। इन्द्रकी पूजा, सोमपानकी विधि आदिकी जड़ बबिलोनियन संस्कृतिमें ही हैं। उस संस्कृतिके आधारपर एलामके लोगोंने अपनी संस्कृति बनानेका प्रयत्न किया और वहीं बहुत-सी ऋचाओंकी रचना हुई होगी।

६४. वामदेव ऋषि एलामका रहनेवाला जान पड़ता है वह ऋ० ४।१८ सूक्तका कर्ता समझा जाता है। उस सूक्तके अन्तमें वह कहता है—

अवर्त्या शुन आंत्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारं।
अपश्यं जायाममहीयमानामधा मे श्येनो मध्वा जभार ॥

(खानेके लिए कुछ न मिलनेके कारण मैंने कुत्तेकी अँतड़ियाँ पकाईं। देवोंमें मुझे रक्षण करनेवाला कोई मिला नहीं। पत्नी द्वारा की गई अपनी विडम्बना मैंने देखी। ऐसी स्थितिमें श्येनने (इन्द्रने) मुझे मधु दिया।) इससे जान पड़ता है कि यह ऋषि पूर्व अवस्थामें अत्यन्त दरिद्र था। बादमें उसने इन्द्रके स्तोत्र रचनेका व्यवसाय आरंभ किया और इन्द्रने उसे बड़ा पुरस्कार दिया। उसके नाममें देव शब्द होनेके कारण वह मूलतः एलामका ही रहनेवाला रहा होगा।

६५. पर वसिष्ठ ऋषि या उसका वंश दासोंमेंसे होना चाहिए, कारण वह और उसके भाईबंद दिवोदास और सुदासके आश्रित जान पड़ते हैं। "एवेन्नु कं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिंद्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः" ऋ० ७।३३।३ (उसी प्रकार, हे वसिष्ठ, दस राजा युद्धके लिए आनेपर तुम्हारे स्तोत्रके कारण इन्द्रने सुदासका रक्षण किया।) इसी सूक्तकी पाँचवीं ऋचामें कहा गया है कि इन्द्रने स्तवन करनेवाले वसिष्ठकी बात मानी। इससे अनुमान होता है कि सुदासकी ओरसे वसिष्ठ या वसिष्ठकुलके कुछ लोग इन्द्रके पास रहा करते थे।

६६. ऊपर एक स्थानपर लिखे अनुसार इन्द्र यदि चालीस वर्षतक शंबरसे लड़ता रहा हो तो वह बहुत दीर्घायु रहा होगा। उसकी मृत्युके बाद सम्भव है कुछ कालतक इन्द्रकी परंपरा चली हो। उद्योगपर्वमें कथा है कि इन्द्रके नष्ट होने-पर देवोंने नहुषका अभिषेक किया। इससे यह दिखाई देता है कि एलाम देशके सरदार एक इन्द्रके मरनेपर उनमें जो कोई श्रेष्ठ होता था उसे इन्द्रपद दिया करते थे। पर यह प्रथा दीर्घ कालतक न चली होगी। वैसा होता तो बाबिलोनियन साहित्यमें इन्द्रका उल्लेख बहुत स्थानोंपर हुआ होता।

६७. इन्द्रके निजके स्तुति-पाठक हों या दासोंमेंके स्तुति-पाठक हों उनका मुख्य व्यवसाय था स्तोत्रोंकी रचना कर इन्द्रके सामने या जहाँ इन्द्रका उत्सव हो वहाँ सुनाना। इसी कारण वेदोंमें लगभग एक चतुर्थांश सूक्त इन्द्रके मिलते

हैं। उससे उतरकर अग्नि, वरुण आदि देवताओंके सूक्त हैं। इनमेंसे उषादेवीके सूक्त बाबिलोनियासे आये होंगे। मित्र, वरुण और नासत्य आर्योंके देवता थे। इसलिए ऋग्वेदका विष्णुसूक्त विष्णु-स्तोत्रोंका रूपान्तर होगा जो सप्तसिन्धुमें आर्योंके विजयके समय गाये जाते थे। आर्योंमें अग्निपूजा प्रचलित अवश्य थी पर वेदोंके अग्नि-सूक्तोंमें बाबिलोनियाके य, दमुत्सि आदि देवताओंका मिश्रण हुआ होगा।

६८. इस प्रकार बाबिलोनियन, आर्य और दास इन तीनोंकी संस्कृतियोंके मिश्रणसे मूल वैदिक संस्कृति बनी और सप्तसिंधुमें वह दृढ़मूल हुई। एलाममें क्रान्ति होकर वहाँ इन्द्रादि देवताओंका नामतक नहीं रह गया, तो भी सप्तसिंधुपर उनकी स्थायी छाप रह गई। इन्द्रका साम्राज्य नष्ट होनेपर सप्तसिंधुके मांडलिक राजा स्वतन्त्र हो गये होंगे। तिसपर भी इन्द्र तथा अन्य देवताओंके स्तोत्र-पाठकी प्रथा उसी प्रकार बनी रही। मुसलमान बादशाहोंने तलवारके जोरपर इस्लाम धर्म हिन्दुस्तानमें फैलाया। आजकलके अधिकांश मुसलमान किसी समय हिन्दू थे। पर मुस्लिम राज्य पूर्ण रूपसे नष्ट हो जानेपर भी हिन्दुस्तानी मुसलमान कट्टरतामें स्वयं मुहम्मद साहबके वंशजोंसे भी पीछे नहीं हैं, इसलिए सप्तसिंधुमें यदि इन्द्रकी भक्ति स्थायी हो गयी हो तो इसमें आश्चर्यका कोई कारण नहीं।

६९. यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब सप्तसिंधुके मूल शासक वृत्र, त्वष्टा आदि ब्राह्मण थे तब उन्हींके वंशजोंने इन्द्रका समर्थन क्यों किया?—इसका उत्तर सरल है। पेशवा भी ब्राह्मण राजा थे, पर पेशवाई नष्ट होते ही उन्हींके घरानेके साँगलीकर आदि राजाओंने अँग्रेजोंसे सन्धि कर उनका आधिपत्य स्वीकार किया या नहीं? गरीब और मध्यम श्रेणीके ब्राह्मण दनादन अँग्रेजोंका नौकरियोंमें घुसे या नहीं? इन नौकरियोंकी संख्या बहुत बढ़ती जानेके कारण अब्राह्मणोंको इसलिए पृथक् दल बनाना पड़ा या नहीं कि उनमेंका कोई हिस्सा उनके हिस्सेमें भी आवे? तब इन्द्रका आधिपत्य दास ब्राह्मणोंने स्वीकार किया, तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है?

७०. पर जान पड़ता है कि सप्तसिंधुके ब्राह्मण इस बातको भूले नहीं कि

इन्द्रके आनेके पहले हम किस स्थितिमें थे। इसका प्रमाण पुरुष सूक्तकी निम्न-लिखित प्रसिद्ध ऋचामें मिलता है—

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥"

ऋ० १०।९०।१२

(एक समय ब्राह्मण इस विराट् पुरुषका मुख था, बाहु राजन्य था, वैश्य जाँघ और उसके पैरसे शूद्र उत्पन्न हुआ।) इन्द्रके आनेसे यह व्यवस्था टूट गई, ब्राह्मणोंकी प्रधानता घटी और राज्य करनेवालोंकी बढ़ी। पर इसमें ब्राह्मणोंकी हानि न होकर एक प्रकारसे लाभ ही हुआ। देव-पूजा और पुरोहितीके कारण लोगोंमें इनका सम्मान बना रहा और राज्यशासनकी जिम्मेदारियों और झंझटोंसे छुट्टी मिली। युद्ध हो तो क्षत्रिय रक्षण करें, ब्राह्मण उसमें न पड़ें, यह प्रायः नीतिधर्म ही हो गया। इसी कारण साहित्यकी वृद्धि करनेका भी ब्राह्मणोंको अवसर मिला।

७१. जिस समय इन्द्र हिन्दुस्तानमें आया उस समय दो प्रकारके ब्राह्मण थे—एक राज्यकार्य करते हुए पौरोहित्य भी करनेवाले और दूसरे यति अर्थात् जङ्गलोंमें रहकर मंत्रतंत्रादिका पठन-पाठन करनेवाले। मिस्र, बाबिलोनिया आदिमें पुजारी वर्ग तो अवश्य था पर ऐसा नहीं मालूम होता कि उसमेंसे यतिवर्ग निकला होगा। इसलिए यति सप्तसिंधुमें ही उत्पन्न हुआ एक विशेष ब्राह्मणवर्ग समझा जाना चाहिए। इन्द्रके आनेपर इस यतिवर्गने भी उसका विरोध किया और इस कारण इन्द्रने बहुतसे यति कुत्तोंको खिला दिये। इस अनुभवके कारण बादमें यतिवर्गने राजनीतिक क्षेत्रमें जाना ही छोड़ दिया और केवल यज्ञ-यागमें ही वह सन्तोष मानने लगा होगा।

७२. प्राचीन ऋषियोंके आश्रमोंके जो वर्णन जातकादि बौद्ध ग्रन्थोंमें मिलते हैं उनसे मालूम होता है कि ये यति लोग जङ्गलोंके समीप नदियोंके किनारे या ऐसे ही अन्य किसी रम्य स्थानपर आश्रम बनाकर रहते थे। साहित्य तथा अन्य शास्त्रोक्त अध्ययन करनेके लिए उनके पास दूर-दूरसे विद्यार्थी आते और उन्हें शिक्षा देकर ये वापस भेज देते।

७३. यहाँ प्रश्न उठता है कि जिन यतियोंको इन्द्रने कुत्तों को खिला दिया उन्हींकी परम्पराके यति जंगलोंमें रहकर इन्द्रके स्तोत्र गावें, यह क्या विचित्र बात नहीं है ? पर इसमें उनका कोई बस नहीं था। इन्द्रका साम्राज्य स्थापित होनेपर इन्द्रकी पूजा सर्वत्र प्रचलित हो गई। ब्राह्मणोंको भी जीविकाके लिए इन्द्रके स्तोत्र बनाने पड़े और आश्रयदाता राजाओंके दरबारोंमें गाने पड़े। तब जंगलमें जाकर रहनेवाले यतियोंको भी उसी मार्गका अवलंबन करना पड़ा। आजकल जो जटाधारी साधु मिलते हैं वे बुद्धके समय अग्निपूजा किया करते थे, अर्थात् वे यतियोंका ही अनुसरण करनेवाले लोग थे। पर बादमें जब हिन्दुस्तानके राजाओंके दरबारमें शिव और विष्णुका महत्त्व बढ़ता गया, और ब्राह्मणोंने ही नहीं, इन जटाधारियोंने भी शिव और विष्णुकी पूजा स्वीकार कर ली तब यतियोंको इन्द्रादिकी पूजा करनेका सर्वसाधारणका धर्म स्वीकार करना पड़ा हो, तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

७४. ये यति या अरण्यवासी ब्राह्मण वैदिक संस्कृतिका प्रचार किस प्रकार किया करते थे इसका एक उदाहरण बौद्ध साहित्यके सुत्तनिपातमें मिलता है। बावरी नामका एक ब्राह्मण कोशल देशसे गोदावरी तटपर जाकर जगलमें एक आश्रम स्थापित करता है। धीरे-धीरे आश्रमके आसपास लोगोंकी बस्ती बढ़ती जाती है और उन लोगोंकी सहायतासे वह ब्राह्मण बड़ा यज्ञ करता है। बात बुद्धके समयकी है। इसलिए बुद्धके कुछ शताब्दि पूर्व अरण्यवासी ब्राह्मण वैदिक संस्कृतिका किस प्रकार प्रचार किया करते थे, इसका यह एक अच्छा नमूना है।

७५. सप्तसिंधुके दास लोग बाबलोनियनोंकी तरह बड़े-बड़े मन्दिर बनाकर उनमें अपने देवताओंकी पूजा किया करते थे। आज जो दो नगरावशेष मिले हैं उनकी मन्दिर समझी जानेवाली इमारतोंमें किसी देवताकी मूर्तियाँ नहीं मिलीं। कहते हैं कि एक स्थानपर लिंगके आकारका एक स्तंभ मिला है। पर इससे यह मानना गलत होगा कि दास लोग लिंग-पूजक थे। वे अपने मन्दिरोंमें किस प्रकार पूजा किया करते थे इसका अबतक पता नहीं लगा है। कुछ भी हो, यह मान लेनेमें कोई हानि नहीं कि उनके मन्दिर हुआ करते थे।

७६. इन्द्रके आनेपर यह प्रथा बदली। एक मंडप बनाकर उसमें यज्ञ-याग

करनेकी प्रथा आरंभ हुई। दास लोगोंमें जो यति थे, वे यज्ञ करते थे या नहीं, कहा नहीं जा सकता। शतपथ ब्राह्मणमें एक स्थानपर कहा गया है कि "यज्ञ विष्णु था, और वह वामन (बौना) था। बादमें वह धीरे-धीरे बढ़ता गया और उसका सर्वत्र प्रचार हुआ[१]।" इससे दिखाई देता है कि पहले यज्ञ-संस्था विशेष जोरपर नहीं थी, बादमें वह धीरे-धीरे बढ़ती गई। सादे अग्निहोत्रसे टेट पुरुषमेधतक वह जा पहुँची।

७७. कोई ऋषि नदीतटपर या ऐसे ही किसी दूसरे रम्य स्थानपर जाकर रहने लगा कि उसने अपना सादा अग्निहोत्र आरंभ कर दिया। बादमें यदि उसकी प्रसिद्धि होती गई तो उसने एकके बाद एक विभिन्न याग करने शुरू कर दिये। कोई राजा यजमान मिल जानेपर तो इन यागोंकी बाढ़ आ जाती। पुरुष-मेधके रूपमें नर-बलितक देनेमें ये ब्राह्मण आगा-पीछा न करते थे। इसके अतिरिक्त भूत-प्रेतोंके परिहारके लिए भी इन यज्ञोंका उपयोग होता था। इस प्रकार धीरे-धीरे ब्याह-शादी, जात-संस्कार, मृत-संस्कार आदि सभी संस्कारोंमें यज्ञका प्रवेश हुआ और इसके साथ-साथ धर्म-कृत्योंमें ब्राह्मणोंका दर्जा भी बढ़ता गया।

७८. सप्तसिंधु प्रदेशमें दास लोगोंमें गाय मारकर यज्ञ करनेकी प्रथा थी या नहीं, यह बताना संभव नहीं है, पर गंगा-यमुनाकी ओर गो-हत्याका बहुत विरोध था, यह बात कृष्णकी उपर्युक्त कथासे[२] दिखाई देती है। इसी देवकीपुत्र कृष्णको घोर आंगिरस ऋषिने यज्ञकी एक सरल रीति बताई। इस यज्ञकी दक्षिणा थी तपश्चर्या, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य[३]। कृष्णको बताई गई इस अहिंसाका अर्थ केवल "गोहत्या न करना" रहा होगा और इसीलिए उसने इन्द्रके साथ युद्ध किया होगा। कृष्णने इन्द्रका स्वामित्व स्वीकार कर उसके नामसे यज्ञ-याग आरंभ किये होते तो वह भी

---

१. यज्ञमेव विष्णु पुरस्कृत्येयुः।......वामनो ह विष्णुरास।......तेनेमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त।......[शतपथ ब्रा० १।२।३।३–७]

२. वि० ११४८–५४ देखिए।

३. अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः। छां० उ० अ० ३।१७।४–६.

दिवोदासकी भाँति ऋग्वेदका एक प्रसिद्ध व्यक्ति हो गया होता । गायें मारकर यज्ञ करना उसे पसन्द न रहनेके कारण वह इन्द्रका शत्रु बना और उसकी गणना असुर-राक्षसोंमें की गई । तथापि मध्य हिन्दुस्तानमें कृष्णकी पूजा बराबर जारी रही ।

७९. जैन ग्रन्थोंमें अनेक स्थानोंपर इस बातका उल्लेख है कि कृष्णका गुरु (भाई) नेमिनाथ नामका जैन तीर्थंकर था । इससे वह और घोर आंगिरस एक ही व्यक्ति होनेका सन्देह होता है ।

८०. कृष्ण पांडवोंका समकालीन समझा जाता है, पर यह भूल है । कुरु देशमें कौरवों या पांडवोंका साम्राज्य और उसीके पड़ोसमें, उसी समय, कंसका साम्राज्य होना संभव नहीं । महाभारतमें कंस और कौरवोंका कोई भी सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है । पौराणिक कालमें कृष्णकी और पांडवोंकी कथाओंका मिश्रण किया गया पर उसे विश्वसनीय माननेके लिए कोई आधार नहीं है ।

८१. दास और आर्योंके संघर्षसे उत्पन्न बलिदानपूर्वक यज्ञ करनेकी प्रथाका विरोध करनेवाला एतद्देशीय पुरुष देवकीपुत्र कृष्ण समझा जाना चाहिए । पर केवल गोपूजासे संस्कृतिकी अभिवृद्धि संभव नहीं थी । भड़कीले यज्ञ-यागोंके सामने यह सादी संस्कृति टिक न सकी ।

८२. परीक्षित् राजाके समय यज्ञ-यागोंकी प्रथा यमुनातटतक आ पहुँची थी । इस राजाका वर्णन अथर्व वेदमें मिलता है, जो इस प्रकार है—

राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवो मर्त्यां अति ।
वैश्वानरस्य सुष्टुतिमा सुनोता परीक्षितः ॥ ७ ॥
परिच्छिन्नः क्षेममकरोत्तम आसनमाचरन् ।
कुलायन्कृण्वन्कौरव्यः पतिर्वदति जायया ॥ ८ ॥
कतरत्त आहराणि दधि मन्थां परिश्रुतम् ।
जायाः पतिं विपृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परीक्षितः ॥ ९ ॥
अभीवस्वः प्रजिहीते यवः पक्वः पथो बिलम् ।
जनः स भद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परीक्षितः ॥ १० ॥

अथर्व० काण्ड २०, सू० १२७

"सारे मर्त्य लोकमें श्रेष्ठ, ऐसे सार्वभौम वैश्वानर परीक्षित् राजाकी उत्तम स्तुति मन लगाकर सुनिए (७) पति पत्नीसे कहता है कि जब यह कौरव राजा गादी-पर आया तब उसने अंधकारको बाँधकर लोगोंके घर सुरक्षित किये (८)। परीक्षित्के राज्यमें पत्नी पतिसे पूछती है कि तुम्हारे लिए दही लाऊँ या मक्खन ? (९) परीक्षित्के राज्यमें पका हुआ बहुत-सा जौ मार्गोंके किनारे पड़ा रहता है। (इस प्रकार) परीक्षित्के राज्यमें लोगोंके सुखकी वृद्धि हो रही है (१०)।"

८३. यह अनुवाद कामचलाऊ ही है। कारण शंकर पांडुरंग पंडितके अथर्व वेदके संस्करणमे इन श्लोकोंपर भाष्य नहीं है। हेमचन्द्र राय चौधरीने इन श्लोकोंका अनुवाद किया है[१] पर वह निर्दोष नहीं मालूम होता। मूल श्लोकोंमें 'पारिच्छिन्नः' के स्थान पर 'परिक्षिन्नः' होता तो अच्छा था। 'अभीवस्वः' का अर्थ समझमें नहीं आता। 'क्षेममकरोत्तमः' का अर्थ 'अत्यन्त सुरक्षित किया' होना भी संभव है।

८४. इन श्लोकोंका अर्थ लगानेके प्रयत्नमें विशेष गहरे पैठनेकी आवश्यकता नहीं। इनसे इतना मालूम हो जाता है कि परीक्षित्का राज्य अत्यन्त समृद्ध था। हमें इतनेकी ही आवश्यकता है। ऐसे सुसंपन्न राष्ट्रमें घोर आंगिरस द्वारा कृष्णको बताई गई तप, दान, ऋजुभाव, अहिंसा और सत्य, इन गुणोंसे मंडित सादी संस्कृति कैसे टिकती ? ऐसे संपन्न राजाको यदि शानदार संस्कृति प्रिय लगी और उसने यज्ञ कार्यमें प्रवीण ब्राह्मण लाकर यज्ञ-यागोंकी धूम मचाई हो, तो इसमें आचार्य क्या ?

८५. सुत्तनिपातमें ब्राह्मणधम्मिक नामका एक सुत्त है। यहाँ उसका सारांश देना अप्रासंगिक नहीं होगा। एक समय भगवान् बुद्ध श्रावस्तीमें थे। उस समय कोसल देशके कुछ बृद्ध ब्राह्मण बुद्धके पास आये और उन्होंने कुशल-प्रश्नके बाद भगवान्से पूछा कि क्या आजकलके ब्राह्मण प्राचीन ब्राह्मणधर्मका पालन कर रहे हैं ? इसपर भगवान्ने कहा—नहीं। तब ब्राह्मणोंने भगवानसे प्राचीन ब्राह्मण-धर्म बतानेकी प्रार्थना की जिसपर भगवान् बोले—

८६. "प्राचीन ऋषि संयमी और तपस्वी हुआ करते थे। विलासिताके पदार्थोंका त्याग कर वे आत्म-चिंतन किया करते थे। उन ब्राह्मणोंके पास पशु

१. Political History of Ancient India. P. 7.

और धन-धान्य नहीं होता था। स्वाध्याय ही उनका धन-धान्य हुआ करता था और ब्रह्मरूपी खजानेकी वे रक्षा करते थे। वे ब्राह्मण एकपत्नीव्रती हुआ करते थे। पत्नीको मोल नहीं लिया करते थे। वे उसी स्त्रीसे विवाह करते जिससे सच्चा प्रेम होता। वे ऋतुकालाभिगामी हुआ करते थे।......

८७. "पर उनका स्वभाव बिगड़ता गया। राजवैभव, अलंकृत स्त्रियाँ, उत्तम घोड़ोंवाले रथ, अच्छे मकान आदि विलास-सामग्रीका उन्हें लोभ हुआ। उन्होंने मंत्र बनाकर ओक्काक राजाको यज्ञ करनेके लिए कहा। तब राजाने अश्व-मेध, पुरुषमेध, वाजपेय, आदि यज्ञ किये।......

८८. "आगे इन ब्राह्मणोंने लोभवश ओक्काक राजाको गोमेध करनेके लिए प्रवृत्त किया। यज्ञमें ओक्काक राजाने भेड़ जैसी सीधी गायोंका सींग पकड़कर वध किया। जब गायोंपर शस्त्रपात हुआ तब देव, पितर, इन्द्र, असुर, और राक्षस इन सबने एक स्वरसे 'अधर्म हुआ।' कहकर पुकार मचाई। पहले इच्छा, भूख और जरा ये तीन ही रोग थे, पर पशु-यज्ञ आरंभ होनेके बादसे उनकी संख्या अट्ठानवे हो गई।...

८९. "जहाँ ऐसी बात होती है वहाँ लोग याजककी निन्दा करते हैं। इस प्रकार धर्मका विपर्यास होनेके कारण शूद्र और वैश्य अलग-अलग हो गये। क्षत्रिय भी अलग हो गये और पत्नि पतिकी अवहेलना करने लगी। क्षत्रिय और ब्राह्मणोंको गोत्रका रक्षण था। (वे कुलधर्मानुसार चलते थे) पर (पशुवधके बाद) वे कुल-प्रवादका भय छोड़कर लोभवश हुए।"

९०. इस सुत्तसे अनुमान किया जा सकता है कि गंगा-यमुनाके प्रदेशमें एक समय लोग पशु-यज्ञ नहीं करते थे, वे सादा अग्निहोत्र किया करते थे। कृष्णकी कथासे भी इस अनुमानकी पुष्टि होती है। पशुवधकी प्रथा प्रथमतः परीक्षित् राजाने आरम्भ की होगी। 'ओक्काक' इक्ष्वाकु माना जाता है। यह परीक्षित् नहीं था। पर सुत्तकर्ताको कोई एक राजा चाहिए था और परीक्षित्का नाम मालूम न होनेके कारण उसने इस सुत्तमें इक्ष्वाकुका नाम रख दिया होगा। यह निश्चित है कि ब्रह्मावर्तमें प्रथमतः परीक्षित् और उसके पुत्र जनमेजय ने यज्ञ-यागोंकी धूम मचाई। ऐसा न होता तो अथर्व वेद और उसके बादके साहित्यमें इन दो राजाओं को इतना महत्त्व न मिला होता। उनके प्रयत्नोंसे ब्रह्मावर्तमें पुरानी

सादी संस्कृतिका लोप हुआ और यज्ञ-यागोंकी यह नयी भड़कीली संस्कृति दृढ़मूल हुई।

९१. यह माननेके लिए विशेष आधार नहीं है कि उपर्युक्त सुत्तके वर्णनानुसार इस नयी संस्कृतिसे ब्रह्मावर्तकी अवनति हुई। पुरानी संस्कृति वास्तवमें बलवती होती तो उसने इस नयी संस्कृतिसे टक्कर लेकर उसको पराजित कर दिया होता। दूसरे यज्ञ-याग करनेवाले ब्राह्मणोंका बुद्धकालमें सर्वत्र जो आदर था वह न दिखाई दिया होता। उस समय अध्यापनका सारा कार्य ब्राह्मणोंके हाथमें था। केवल वेद ही नहीं, धनुर्विद्या, वैद्यक आदि विद्याएँ भी ब्राह्मण ही सिखाया करते थे। जहाँ-तहाँ ब्राह्मणोंके गुरुकुल थे और उनमें सैकड़ों विद्यार्थी अध्ययन किया करते थे। तक्षशिलाके विश्वविद्यालयमें प्रायः सभी आचार्य ब्राह्मण थे। ब्राह्मणोंके गुरुकुलों और तक्षशिलाके आचार्योंके वर्णन जातक अट्ठकथामें जहाँ-तहाँ मिलते हैं। इन आचार्योंका राजाओंपर भी कितना प्रभाव था यह नीचे लिखी कथासे मालूम हो जायगा।

९२. "वाराणसीके राजा ब्रह्मदत्तके पुत्रका नाम भी ब्रह्मदत्त ही था। अपने पुत्रोंको निरभिमानी, शीतोष्ण सहन करनेवाले और व्यवहारकुशल बनानेके विचारसे पुराने राजा उनकी शिक्षाका प्रबन्ध अपनी राजधानीमें न कर उन्हें दूर देशोंमें भेज दिया करते थे। तदनुसार ब्रह्मदत्त राजाने भी अपने पुत्रको तक्षशिला भेज दिया। वहाँ एक आचार्यके घर वह विद्याभ्यास करने लगा। वह आचार्यके साथ स्नान करने जाता था। मार्गमें किसी वृद्धाने सफेद तिल सूखनेके लिए घाममें डाल रखे थे। राजकुमारने मुट्ठीभर तिल उठाकर खा लिये! वृद्धा कुछ नहीं बोली। दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। पर तीसरे दिन जब राजकुमारने फिर तिल उठाकर खाये तो वृद्धाने शोर मचाया कि मेरे तिल चुराये जाते हैं। इसपर आचार्यने जाँच करनेके बाद उससे कहा कि "व्यर्थ रोओ नहीं, तुमको तिलोंका मूल्य दे दिया जायगा।" वृद्धा बोली—"महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिए, पर इस कुमारको ऐसा दंड दीजिए कि यह फिर ऐसा काम न करे।" इसपर आचार्यने उस वृद्धाके सामने ही राजकुमारकी पीठपर तीन छड़ियाँ लगाईं—छड़ी बाँसकी थी। मार खाकर राजकुमार आगबबूला हो गया।

९३. "अध्ययन समाप्त हो जानेपर राजकुमार वाराणसीमें लौट आया। पिता ब्रह्मदत्तने अपने जीवन-कालमें ही उसे राज्याभिषिक्त कर दिया। तब उसे अपने गुरुके अपराधका स्मरण हुआ। उसने दूत भेजकर आचार्यको वाराणसीमें निमंत्रित किया। तदनुसार आचार्य वाराणसीमें आये। आचार्यके राजसभामें पहुँचनेपर राजाने कहा—'सभासदो, इसकी मारसे आज भी मेरी पीठ दुख रही है। आचार्य सिरपर मृत्युको बिठाकर आया है। उससे यह कैसे बच सकता है?' आचार्यने कहा—'महाराज, उस समय मैंने यदि आपको दंड न दिया होता तो धीरे-धीरे चोरीकी आदत पड़कर आप प्रसिद्ध चोर हो गये होते और राजपदसे हाथ धो बैठते।' यह सुनकर राजाके अमात्य बोले—'महाराज, आचार्य जो कहते हैं वह सत्य है। यह मानना पड़ेगा कि आचार्यके ही कारण आपको यह वैभव प्राप्त हुआ।' राजाको भी बात जँच गई और वह सारा राज्य आचार्यको दे देनेको प्रवृत्त हो गया। पर आचार्यने उसे स्वीकार नहीं किया। तब राजाने आचार्यके बाल-बच्चोंको तक्षशिलासे वाराणसी बुलवा लिया और आचार्यको अपना पुरोहित बनाया।"[१]

९४. ब्राह्मणवर्गमें जो ऐसे निस्पृह और न्यायी व्यक्ति उत्पन्न हुआ करते थे, उसका कारण यह था कि साहित्य-सेवा और धर्म-चिंतनके लिए आवश्यक सुविधा अधिकसे-अधिक मात्रामें इसी वर्गको मिलती थी। क्षत्रियोंका समय युद्ध और राज्य-प्रबंधमें जाता था। वैश्य खेती और व्यापारमें मस्त रहा करते थे। और शूद्र तो केवल पैरोंतले रौंदा जानेवाला वर्ग था। इस दशामें सारे समाजका नेतृत्व ब्राह्मणवर्गके हाथमें आना स्वाभाविक था। पर उससे समताका तत्त्वज्ञान उत्पन्न न हुआ, विषमता बनी रही और संहिता-कालसे वैदिक साहित्यमें ब्राह्मणोंका श्रेष्ठत्व बनाये रखनेका प्रयत्न बराबर जारी रहा।

९५. ऊपर उल्लेख हो चुका है कि देवोंने इन्द्रपर वृत्रको मारने, विश्वरूपको मारने, यतियोंको कुत्तोंको खिला देने, अरूर्मघोंका वध करने और बृहस्पतिपर प्रतिप्रहार करनेके पाँच अभियोग लगाये[२]। तैत्तिरीय संहिता तथा ऐतेरेयादि

---

१. तिलमुट्ठिजातक क्रमांक २५२.

२. वि० १।३४ देखिए।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें कहा गया है कि इन पापोंके लिए इन्द्रको प्रायश्चित्त करना पड़ा। पर यह संभव ही नहीं मालूम होता कि जो इन्द्र अपने ही पिताको पैर पकड़कर मार डालता है वह वृत्रादि ब्राह्मणोंको मारनेके लिए प्रायश्चित्त करेगा। "मैंने यतियोंको कुत्तोंको खिला दिया......और उस संबंधमें मेरा बाल भी बाँका न हुआ......मातृवध, पितृवध, चोरी, भ्रूणहत्यासे भी (मुझ जैसे आदमियोंको) पाप नहीं लगता, चेहरेका रंग भी नहीं पलटता[1]। कौषीतकी उपनिषद्में उपनिषत्कारने इन्द्रके मुँहसे जो यह वाक्य कहलाया है वही उसके आचरणके अधिक अनुकूल दिखाई देता है पर उससे ब्राह्मणोंकी हेठी होती है। क्योंकि जिस इन्द्रने ब्रह्म-हत्या की उसीकी ब्राह्मण पूजा करें, इसीलिए इन्द्रके प्रायश्चित्तकी कथा गढ़नी पड़ी।

९६. ब्राह्मण और आरण्यकोंके रचना-कालमें तो ब्राह्मणवर्गका यह प्रयत्न बहुत ही बढ़ा। इससे सामान्य जनताके हितोंकी उपेक्षा होने लगी। निरुपाय होनेपर क्षत्रियोंसे दबने और वैश्य तथा शूद्र जातियोंको दबा डालनेका ही प्रयत्न इस वैदिक साहित्यमें सर्वत्र दिखाई देता है। इस संबंधमें प्रोफेसर वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़ेका 'विविधज्ञानविस्तार' मासिकपत्रमें नवंबर १९२७ में प्रकाशित 'ब्राह्मणकालीन जातिभेद' शीर्षक लेख मनन करने योग्य है। प्रोफेसर राजवाड़ेका वैदिक साहित्यका अध्ययन गंभीर है और उनका निष्पक्षपात तथा समचित्तता प्रसिद्ध है। इसलिए उनके लेखके कुछ अंश यहाँ उद्धृत करना उचित जान पड़ता है। जिन पाठकोंके लिए मूल लेख पढ़ना संभव हो वे उसे अवश्य पढ़ें।

९७. प्रोफेसर राजवाड़े कहते हैं—"यज्ञक्रिया और पौरोहित्य ब्राह्मणोंके ही हाथमें रहे इसका अनवरत प्रयत्न...जिस राजाके यहाँ पुरोहित न हो उसका अन्न देवता नहीं खाते। इसलिए यज्ञ करनेकी इच्छा रखनेवाले राजाको किसी ब्राह्मणको पुरोहित बनाना चाहिए। पुरोहित प्राप्त करके वह स्वर्गको

१. यतीन्सालावृकेभ्यः प्रायच्छं......तस्य मे तत्र न लोम च नामीयते... न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं च चक्रुषो मुखान्नीलं वेत्तीति। [कौषी० उ० ३।१]

ले जानेवाली अग्नि ही प्राप्त करता है। सब अग्नि तृप्त होकर उसे स्वर्ग ले जाते हैं। उसका क्षात्रतेज, बल, वीर्य और राष्ट्र बढ़ता है। पुरोहित न रहनेपर यह सब नष्ट होता है और उसे स्वर्गसे निकाल देते हैं। पुरोहितकी वाणी, पाद, चर्म, हृदय तथा अन्य एक स्थानपर पाँच क्रोधाग्नि रहते हैं। अभ्यर्थना, पाद्य, वस्त्रालंकार और धनसे और राजमहलमें ऐश-आरामसे रहने देनेसे ये अग्नि शांत होते हैं। (शत० ब्रा० ३।२।४०—२) और उसका राज्य दृढ़ होकर सब उसके काबूमें रहते हैं। (३।२।४०—२) (पृष्ठ ४१०-११)

९८. "क्षत्रियोंको अपनी मुट्ठीमें रखनेके लिए ब्राह्मण यहतक कहनेमें नहीं चूके कि हम देवता हैं। देवता दो प्रकारके हैं—एक वे जिन्हें हम सदा देव कहा करते हैं और दूसरे मनुष्य-देव अर्थात् शिक्षित विद्वान् ब्राह्मण। आहुतियोंसे देवोंको प्रसन्न करना चाहिए और दक्षिणा देकर मनुष्य-देवोंको सन्तुष्ट करना चाहिए। दोनों देवता तृप्त होकर यजमानको अच्छी स्थितिमें रखते हैं (शत० ब्रा० २।२।२।६) और उसे स्वर्गमें पहुँचाते हैं। (शत० ब्रा० ४।३।४।४ (पृष्ठ ४१२)

९९. अपना प्रभाव बनाये रखनेके लिए ब्राह्मणोंको इस प्रकार प्रयत्न करना पड़ा और तरकीबें करनी पड़ीं। वे अपनी स्थितिको समझते थे। "न वै ब्राह्मणो राज्यायालं" (शत० ब्रा० ५।१।१।१२) ब्राह्मण राज्य करनेके लिए अयोग्य हैं। क्षत्रियोंके बिना हम क्या कर सकते हैं? अपनी शक्ति वाणीमें है। "ब्राह्मणो मुखतो हि वीर्यं करोति मुखतो हि सृष्टः" (ताण्ड्य० ब्रा० ६।१।६) "बाहुवीर्यो राजन्यो बाहुभ्यो हि सृष्टः" (ताण्ड्य० ब्रा० ६।१।७) क्षत्रियोंकी भुजाओंमें शक्ति है इसलिए उनसे मिलकर ही रहना चाहिए। इसलिए वे जब-तब क्षत्रियोंकी प्रशंसा किया करते थे। "एष वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमां यद्राजन्यस्तस्मादेकः सन्बहूनामीष्टे यद्वेव चतुरक्षरः प्रजापतिश्चतुरक्षरो राजन्यः (शत० ब्रा० ५।१।५।-१४)। राजा प्रत्यक्ष प्रजापति है। इसीलिए एक होते हुए बहुतोंपर राज्य करता है। प्रजापति नाममें चार अक्षर हैं। इसी तरह राजन्यमें भी चार अक्षर हैं। एन्द्राभिषेकसे राजा प्रत्यक्ष इन्द्र हो जाता है। "क्षत्रं वा इन्द्रः" (शत० ब्रा० ४।३।३।७)। अभिषेकके बाद गर्जना की जाती कि "इसे साम्राज्य मिला, स्वराज्य मिला, वैराज्य मिला; यह स्वयं परमेष्ठी हुआ, सच्चा क्षत्रिय हुआ; सारे

संसारके अधिपति, पुरन्दर, असुरोंके मारनेवाले ब्राह्मणप्रतिपालक धर्मरक्षकका जन्म हुआ।" (ए० ब्रा० ३८।१) (पृष्ठ ४१२)

१००. "जहाँ इस प्रकारका परस्परावलंबित्व, इस प्रकारका सख्य, सिर और बाहु, बुद्धि और शौर्यकी जोड़ी हो वहाँ अन्य जातियोंका क्या बस चले ? वैश्यको यज्ञयागादि करनेका अधिकार था तथापि ब्राह्मण और क्षत्रियसे टक्कर लेनेकी उसकी हिम्मत नहीं थी। पुरुषसूक्तमें वैश्यके जंघासे उत्पन्न होनेकी बात कही गई है (ऋ० सं० १०।९०।१२) पर ताण्ड्य ब्राह्मणमें तो और भी कमाल किया गया है। उसमें कहा गया है कि उसकी उत्पत्ति जननेन्द्रियसे हुई। इसलिए उसके पास बहुत पशु रहते हैं। ब्राह्मणों और क्षत्रियोंका वह भक्ष्य है। कारण ब्राह्मणका मुखसे और क्षत्रियका उर तथा बाहुसे जन्म होनेके बाद इससे भी नीचेके भागसे वैश्यकी उत्पत्ति हुई। उसे कितना भी खाया जाय तो भी वह न घटेगा। (ऐ० ब्रा० ३८।१)

१०१. "वैश्य गाधा है सदा दबा हुआ। ब्रह्म और क्षत्र दोनों वैश्यपर अवलंबित, उसके बिना गति नहीं। तथापि वैश्य सदा दबा हुआ (शत० ब्रा० ११।२।३।१६) प्रयत्न यह कि वैश्यको किस प्रकार नियंत्रणमें रखा जाय (पृष्ठ ४१३)

१०२. "जहाँ वैश्यकी यह दशा वहाँ शूद्रको कौन पूछे ! उसकी तो पैरसे उत्पत्ति। उसके लिए देवता नहीं, यज्ञ नहीं। अग्नि और ब्राह्मणकी उत्पत्ति मुखसे। इन्द्र और क्षत्रियकी उर और बाहुसे, विश्वेदेव और वैश्यकी जननेन्द्रियसे, पर पैरसे केवल शूद्रकी, साथ कोई देवता नहीं। इसलिए शूद्र अन्य जातियोंके पैर धोवे (ताण्ड्य ब्रा० ६।१।१।११)। उसका भक्ष्य पानी। राजासे कहा जाता था कि यदि पानी भक्ष्यकी तरह ग्रहण करोगे तो तुम्हारी प्रजा शूद्र जैसी होगी। उसे सदा इधर-उधर दौड़ावे, जब जो चाहे उसे गर्दनिया देकर निकाल दे, इच्छा हो तो ताड़न करे या मार भी डाले (ऐ० ब्रा० ३५।३)। उसे दानस्वरूप देने या बेचनेमें कोई हर्ज नहीं। "पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रः। तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यं" (आप० श्रौ०) शूद्र चलता फिरता श्मशान है, उसके इतने समीप अध्ययन न करे कि उसे सुनाई दे। यदि वह जान-बूझकर श्रुति सुने तो लोहा

या सीसा गलाकर उसके कानमें डालना चाहिए। (कात्या० श्रौ० तथा आप० श्रौ०) [पृष्ठ ४१४]

वैदिक साहित्यका रचना-काल

१०३. ऋग्वेदमें ईसासे साढ़े चार हजार वर्ष पूर्वकी ऋचाएँ होना संभव है। पर वे स्वतन्त्र न होकर उनका सुमेरियन ऋचाओंसे निकट संबंध होना चाहिए। डाक्टर प्राणनाथके इस कथनमें बहुत कुछ तथ्य जान पड़ता है कि ऋग्वेदकी बहुत-सी ऋचाएँ सुमेरियन ऋचाओंके आधारपर रची गई हैं। जिन ऋचाओंमें घोड़ेका उल्लेख है वे ईसासे पूर्व अठारहवीं या उन्नीसवीं सदीसे अधिक पुरानी नहीं हो सकतीं। उनमेंसे एलाममें कितनी और सप्तसिंधुमें कितनी रची गयीं यह बताना संभव नहीं है; तथापि बाबिलोनियन साहित्यकी सहायतासे वैदिक ऋचाओंका कुछ इतिहास मालूम किया जा सकता है।

१०४. इसमें सन्देह नहीं कि यजुर्वेद और अथर्ववेदकी रचना सप्तसिंधु प्रदेशमें हुई। उनका रचना-काल ईसाके पूर्व चौदहवींसे नवीं सदीतक होना चाहिए। परीक्षित् राजाके सुसंपन्न राज्यका अथर्व वेदमें आया हुआ वर्णन ऊपर किया ही जा चुका है। इससे सिद्ध होता है कि इन श्लोकोंकी रचना परीक्षित् राजाके सिंहासनासीन होनेके बाद की गई। हेमचन्द्रराय चौधरीके परीक्षित्‌के राज्यकालके संबंधमें बहुत विचारकर वैदिक साहित्यके आधारपर यह मत स्थिर किया है कि यह ईसाके पूर्व नवीं शताब्दिसे पहले नहीं हो सकता।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि अथर्व वेदकी रचना ईसाके पूर्व नवीं शताब्दि तक हुई होगी। इसके दो शतक पूर्व यजुर्वेद और सामवेद तैयार हुए होंगे।

१०५. ब्राह्मण-आरण्यक और उपनिषदोंका रचना-काल बुद्धके-पहलेका समझा जाता है पर यह धारणा बहुत गलत है। हेमचन्द्रराय चौधरीका कहना है कि गुणाख्य शांख्यायन बुद्धका समकालीन था। उसके गुरुका गुरु उद्दालक आरुणी विदेहके राजा जनकका समकालीन था, अर्थात् जनक राजा बुद्धके दो पीढ़ी पहलेका हुआ। और शतपथ ब्राह्मण तथा बृहदारण्यक उपनिषदमें जो

1. Political History of Ancient India p. 16–17

गुरुपरंपरा बताई गई है उसके अनुसार सांजीवी पुत्र उद्दालकसे पाँचवीं पीढ़ीका ऋषि है, जिससे सिद्ध होता है कि शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषत्की रचना बुद्धके तीन पीढ़ी बाद हुई।

१०६. इसके लिए दूसरा अच्छा प्रमाण ऐतेरेय आरण्यकमें मिलता है, जो इस प्रकार है— तदुक्तमृषिणा—

प्रजाह तिस्रो आत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे।

बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेशति॥ ऋ० ८।१०।१।१४

ऋग्वेदकी इस ऋचाका अर्थ ऐतेरेय आरण्यकमें (आरण्यक २, अध्याय १) इस प्रकार किया गया है। 'प्रजाह तिस्रो अत्यायमीयुरिति या वै ता इमाः प्रजास्तिस्रो अत्यायमायंस्तानीमानि वयांसि वङ्गावगधाश्चेरपादा।' इसका अर्थ सायणाचार्यने इस प्रकार किया है, 'तीन प्रजा श्रद्धारहित हो गई (वैदिक कर्मोंसे उनका विश्वास उठ गया)। ये उनके तीन शरीर। वयांसि माने कौवे इत्यादि पक्षी; वङ्गा माने अरण्यगत वृक्ष; तथा अवगधा माने चावल, जौ इत्यादि। चेरपादा=च+इरपादा। इरपादा माने बिलमें रहनेवाले सर्प इत्यादि, ये सब वैदिक कर्मोंका त्याग करनेसे नरकका अनुभव करते हैं।' यह अर्थ विचित्र ही नहीं अपितु इसको देखकर हँसी भी आती है। कुछ कारणोंसे इस आरण्यककी दोषपूर्ण प्रति सायणाचार्यके हाथमें पड़ी हो या वे यह वाक्य ठीकसे न पढ़ सके हों। इसमें 'वङ्गा मगधाश्चेरपादाः' यह मूलका पाठ होना चाहिए। इसमें अंग देशको ही वंग कहा गया हो या मगधके सब पूर्वीय देशोंको वंग लिखा गया हो। उसके बाद मगधका उल्लेख है और उसके पश्चात् चेरपादा माने वज्जियोंके देशका। वजी यह शब्द वृजिनः (घुमक्कड़) से बना है। चेर या चेल धातु भी गतिका निदर्शक है। इसलिए चेरपादा माने वृजिनः यह सिद्ध होता है। च अलग कर इरपादाः या ईरपादाः इस प्रकार पदच्छेद करनेपर भी वही अर्थ निकलता है। तिसपर भी चेरपादाः यही पाठ उपयुक्त मालूम पड़ता है।

१०७. ऋग्वेदमें जिन तीन प्रजाओंका उल्लेख है वे कौन-सी, इसका पता नहीं। ऐतेरेय आरण्यककी टीका अगर ठीक मानी जाय तो इस वैदिक ऋचाकी रचना बुद्धके बाद तीसरी या चौथी पीढ़ीमें हुई होगी और यह भी

मानना पड़ेगा कि वह प्रक्षिप्त होगी। कुछ भी हो, इस आरण्यकके रचना-कालमें कुछ भी अनिश्चितता नहीं रह जाती। बुद्धके समय मगध देशमें बड़े-बड़े यज्ञ होते थे, इसका प्रमाण दीर्घनिकायके कूटदंत सुत्तमें है। कूटदंत ब्राह्मणने एक बड़ा यज्ञ करना शुरू किया था। गाय, बैल इत्यादि सैकड़ों प्राणी बलिदानके लिए खंभोंसे बँधे थे। बुद्धकी कीर्ति सुनकर वह बुद्धके पास आता है। उसकी विनतीपर बुद्धने उसको प्राचीनकालमें महाविजित राजाने निरामिष यज्ञ किस प्रकार किया, तथा उस यज्ञसे उसकी प्रजा किस तरह सुखी हुई, यह बात बतलाई। धर्मोपदेश सुनकर ब्राह्मण बुद्धका उपासक हो जाता है तथा बलिदानके लिए लाये हुए पशुओंको मुक्त कर देता है। इससे यह सिद्ध होता है कि बुद्धकालमें मगध देशमें यज्ञकी प्रथा जारी थी, तथा बुद्धके उपदेशसे वह प्रथा बंद हो गई। इसलिए ऐतेरेय आरण्यक तथा समकालीन वैदिक साहित्यकी रचना बुद्धके तीन या चार पीढ़ियोंके बाद हुई है, यह बात निश्चित हो जाती है।

१०८. यहाँ वैदिक साहित्यमें चार वेद, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदोंकी गणना की गई है। आजकल पुराणोंकी भी वैदिक साहित्यमें गणना की जाती है पर उनको वैदिक साहित्यमें मानना ठीक नहीं। पुराण एक अलग ही साहित्य है और उसका विचार इस ग्रंथके तीसरे विभागमें किया जायगा।

२—श्रमण संस्कृति

अहिंसा धर्मका उद्गम

१. घोर आंगिरसने कृष्णको आत्म-यज्ञकी शिक्षा दी। उस यज्ञकी दक्षिणा तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा तथा सत्य वचन[1] है। जैन ग्रंथकारोंका कहना है कि कृष्णके गुरु नेमिनाथ नामके तीर्थंकर थे। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यह नेमिनाथ तथा घोर आंगिरस दोनों एक ही व्यक्तिके नाम थे?

२. जैन ग्रंथोंमें एक और भी उल्लेख पाया जाता है, वह इस प्रकार है—भरहेरवएसुं णं वासेसु पुरिमपच्छिमवज्जा मज्झिमगा बावीसं अरहंता चाउज्जामं धम्मं पण्णवेति। तं जथा—सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ वेरमणं, सव्वातो अदिन्नादाणावो वेरमणं, सव्वातो बहिद्धादाणाओ वेरमणं।—स्थानांग सूत्र, क्रमांक २६६। (भरत तथा एरावत प्रदेशोंमें पहले और आखिरी छोड़कर बाकी बाईस तीर्थंकर चातुर्याम धर्मका उपदेश इस प्रकार करते हैं—सब प्राणघातोंका त्याग, उसी प्रकार असत्यका त्याग, सब आदत्तादान (चोरी इत्यादि) का त्याग। सब बहिर्धा आदानोंका (परिग्रहोंका) त्याग।) यह गढ़ी हुई कहानी हो सकती है पर छांदोग्य उपनिषदमें घोर आंगिरसका जो उपदेश है उससे और परंपरासे चली आई हुई इस कहानीसे मिलान करके देखा जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कृष्णके समयमें भी उत्तर हिंदुस्तानमें अहिंसाका अर्थ लोग जानते थे।

३. ऋषभदेवसे लेकर नेमिनाथतक बाईस तीर्थंकर होते हैं। इनके चरित्र जो जैन ग्रंथोंमें विस्तारके साथ लिखे गये हैं, वे सब काल्पनिक मालूम पड़ते हैं। उदाहरणके लिए, ऋषभदेवकी लंबाई पाँच सौ धनुष थी; आयु चौसठ लाख साल; साधु शिष्य चौरासी हजार, साध्वी शिष्या तीन लाख, श्रावक शिष्य तीन लाख पाँच हजार तथा श्राविका शिष्या पाँच लाख चौवन हजार। यह लंबाई कम होते-होते बाईसवें तीर्थंकर (नेमिनाथ) की लंबाई

---

[1] वि० १।७८ देखो।

दस धनुष लिखी गई। इनकी आयु एक हजार साल, साधु शिष्य अठारह हजार, साध्वी शिष्या चालीस हजार, श्रावक एक लाख उनहत्तर हजार तथा श्राविका तीन लाख छत्तीस हजार[1] तक पहुँचे हैं। इन आँकड़ोंको देखकर इनके काल्पनिक होनेका निश्चित मत हो जाता है। अपनी परंपरा अति प्राचीन है यह दिखानेके लिए ही शायद जैन साधुओंने इनकी रचना की है।

४. तीर्थंकरोंकी लंबाई तथा आयुके आँकड़े छोड़नेपर भी उनके पास इतने बड़े संघके होनेकी संभावना नहीं मालूम पड़ती है। अगर उनके पास ऐसे संघ होते तो परीक्षित् राजासे लेकर बुद्धकालतक कुरुदेशसे इनका पूरा लोप होना अशक्य था। इन्हीं कारणोंसे इन कथाओंको इतिहासमें स्थान नहीं मिल सकता। नेमिनाथ या उनके समान और तपस्वी तप द्वारा अहिंसाका आचरण करते हों और भक्तिसे जो इनके पास आते हों उनको ये इन बातोंका उपदेश देते हों, यह संभव है।

५. मज्झिम निकायके (बारहवें) महासीहनाद सुत्तमें बुद्धके बोधिसत्वावस्थामें चार प्रकारके तपका आचरण करनेका वर्णन मिलता है। तपके चार प्रकार माने तपस्विता, रूक्षता, जुगुप्सा और प्रविविक्तता। नंगे रहना, अंजुलीमें ही भिक्षा माँगकर खाना, बाल उखाड़के निकालना, काँटोंकी शय्यापर नींद लेना इत्यादि प्रकारसे देह दंडन करनेको तपस्विता कहते थे। कई सालकी धूल वैसी ही शरीरपर पड़ी रहने देना और उसको कोई न निकाले, इसको रूक्षता कहते थे। इस रूक्षता-की अतिशयोक्तिका उदाहरण पुराणोंमें भी पाया जाता है। ऋषि लोगोंके शरीरपर चींटियोंका घर बनाना और सिर्फ उनकी आँखें बाहर रहना, इसी प्रकार के वर्णन हैं। पानीकी बूँदतकपर भी दया करना, इसको जुगुप्सा कहते थे। अर्थात् जुगुप्सा माने हिंसाका तिरस्कार। जंगलमें अकेले रहनेको प्रविविक्तता कहते थे।

६. इन बातोंसे यह जाना जा सकता है कि अहिंसा तथा दयाको लोग तपा-अचरणका एक प्रकार मानते थे। इन तपोंका आचरण करनेवाले बुद्धके पूर्व विद्यमान् थे। इन लोगोंमें कृष्णके गुरु घोर आंगिरस—जैनोंके कहनेके अनुसार

१ श्रीकाललोकप्रकाश, सर्ग ३२।

नेमिनाथ—का होना संभव है। पर उनके पास संघ नहीं थे और सामुदायिक रीतिसे अहिंसाका प्रचार वे नहीं करते थे। इसीके कारण कुरु देशमें यज्ञ-यागका महत्त्व बढ़ गया तथा अहिंसाका वातावरण नष्ट हो गया।

७. ज्यादातर पाश्चात्य पंडितोंका यह मत है कि जैनोंके तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व ऐतिहासिक व्यक्ति थे। उनके चरित्रमें भी काल्पनिक बातें हैं, पर वे पहले तीर्थंकरोंके चरित्रमें जो बातें हैं उनसे बहुत कम हैं। पार्श्वका शरीर नौ हाथ लंबा था, उनकी आयु सौ वर्षकी थी, सोलह हजार साधु शिष्य, अड़तीस हजार साध्वी शिष्या, एक लाख चौसठ हजार श्रावक तथा तीन लाख उन्तालीस हजार श्राविका इनके पास थीं। इन सब बातोंमें जो मुख्य ऐतिहासिक बात है वह यह है कि चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमानके जन्मके एक सौ अठहत्तर साल पहले पार्श्व तीर्थंकरका परिनिर्वाण हुआ।

८. वर्धमान या महावीर तीर्थंकर बुद्धके समकालीन थे, इस बातको सब लोग जानते हैं। बुद्धका जन्म वर्धमानके जन्मके कमसे कम पंद्रह साल बाद हुआ होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्धका जन्म तथा पार्श्व तीर्थंकरका परि-निर्वाण इन दोनोंमें एकसौ तिरानबे सालका अंतर था। मरनेके पूर्व लगभग पचास साल तो पार्श्व तीर्थंकर उपदेश देते रहे होंगे। इस प्रकार बुद्ध-जन्मके करीब दो सौ तैंतालीस वर्ष पूर्व पार्श्व मुनिने उपदेश देनेका काम शुरू किया। निर्ग्रंथ श्रमणोंका संघ भी पहले-पहल उन्हींने स्थापन किया होगा।

९. ऊपर दिखाया जा चुका है कि परीक्षित्‌का राज्य-काल बुद्धसे तीन शता-ब्दियोंके पूर्व नहीं जा सकता[१]। परीक्षित्‌के बाद जनमेजय गद्दीपर आया और उसने कुरुदेशमें महायज्ञ कर वैदिक धर्मका झंडा फहराया। इसी समय काशी देशमें पार्श्व एक नई संस्कृतिकी नींव डाल रहे थे। पार्श्वका जन्म वाराणसी नगरमें अश्वसेन नामक राजाकी वामा नामक रानीसे हुआ, ऐसी कथा जैन ग्रंथोंमें आई है[२]। उस समय राजा ही अधिकारी जमींदार हुआ करता था। इसलिए ऐसे राजाको यह लड़का होना कोई असंभव बात नहीं है। पार्श्वकी नयी संस्कृति काशी राज्यमें अच्छी तरह टिकी रही होगी क्योंकि बुद्धको भी अपने पहले शिष्यों-को खोजनेके लिए वाराणसी ही जाना पड़ा था।

---

१ वि० १।१०४ देखो। २ श्रीकाललोकप्रकाश, सर्ग ३२।८८७—८८।

१०. पार्श्वका धर्म बिलकुल सीधा-सादा था। हिंसा, असत्य, स्तेय तथा परिग्रह इन चार बातोंके त्याग करनेका वह उपदेश देते थे[१]। इतने प्राचीन कालमें अहिंसाको इतना सुसंबद्ध रूप देनेका यह पहला ही उदाहरण है।

११. सिनाई पर्वतपर मोजेसको ईश्वरने जो दस आज्ञायें (Ten Commandments) सुनाईं उनमें हत्या मत करो, इसका भी समावेश था। पर उन आज्ञाओंको सुनकर मोजेस और उनके अनुयायी पैलेस्टाइनमें घुसे और वहाँ खूनकी नदियाँ बहायीं! न जाने कितने लोगोंको कत्ल किया और न जाने कितनी युवती स्त्रियोंको पकड़कर आपसमें बाँट लिया! इन बातोंको अहिंसा कहना हो तो फिर हिंसा किसे कहा जाय? तात्पर्य यह है कि पार्श्वके पहले पृथ्वीपर सच्ची अहिंसासे भरा हुआ धर्म या तत्त्वज्ञान था ही नहीं।

१२. पार्श्व मुनिने एक और भी बात की। उन्होंने अहिंसाको सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन तीनों नियमोंके साथ जकड़ दिया। इस कारण पहले जो अहिंसा ऋषि-मुनियोंके आचरणतक ही थी और जनताके व्यवहारमें जिसका कोई स्थान न था, वह अब इन नियमोंके संबंधसे सामाजिक एवं व्यावहारिक हो गई।

१३. पार्श्व मुनिने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्मप्रचारके लिए उन्होंने संघ बनाये। बौद्ध साहित्यसे इस बातका पता लगता है कि बुद्धके समय जो संघ विद्यमान थे उन सभीमें जैन साधु और साध्वियोंका संघ सबसे बड़ा था।

१४. पार्श्वके पहले ब्राह्मणोंके बड़े-बड़े समूह थे, पर वे सिर्फ यज्ञ-यागका प्रचार करनेके लिए ही थे। यज्ञ-यागका तिरस्कार कर उसका त्याग करके जंगलोंमें तपस्या करनेवालोंके भी संघ थे। तपस्याका एक अंग समझकर ही वे अहिंसा धर्मका पालन करते थे, पर समाजमें उसका उपदेश नहीं देते थे। वे लोगोंसे बहुत कम मिलते-जुलते थे।

१. पार्श्वके उपदेशको चातुर्याम-संवर-वाद कहते थे। वि० २।२ और २८ देखो।

१५. बुद्ध-कालके पूर्व श्रमण ब्राह्मणोंके जो चार प्रकार थे उनका भी वर्णन उदाहरणके साथ निवाप सुत्तमें मिलता है। उसका सारांश यह है—"बुद्ध भगवान्ने जब वे श्रावस्तीमें अनाथपिंडिकके आराम विहारमें रहते थे, भिक्षुओंको उद्देश्य कर कहा, 'भिक्षुओ, घास लगानेवाला मनुष्य हिरनोंके कल्याणके लिए घास नहीं लगाता। उसका उद्देश्य यह रहता है कि इस घासको खाकर हिरन प्रमत्त होवें और अपने अधीन रहें।'

१६. "ऐसे ही एक चरागाहमें हिरनोंका एक झुंड खूब घास खाकर मस्त हो गया और चरागाहके मालिकके पाशमें फँस गया। यह देखकर दूसरे झुंडके हिरनोंने समझ लिया कि इस चरागाहमें जाना अनिष्टकर है। उन्होंने वह चरागाह छोड़ दी और वे एक ऊसर जंगलमें जा घुसे। पर गरमीके दिन आनेपर खाना और पानी न मिलनेसे वे निर्बल हो गये। भूखसे त्रस्त होकर वे फिर उसी चरागाहमें घुसे और मस्त होकर उसके मालिकके पाशमें फँस गये। तीसरे झुंडके मृगोंने यह दोनों मार्ग छोड़कर चरागाहके समीपके ही एक जंगलमें आश्रय लिया और बड़ी ही सतर्कतासे उस चारागाहमें जो घास उगी थी उसको खाने लगे। बहुत समयतक वे उस चरागाहके मालिकके अधीन नहीं हुए, पर जब मालिक उनके रहनेका स्थान जान गया तो उसने उनके चारों तरफ जाल बिछाकर उनको फँसा लिया। यह देखकर चौथे झुंडके हिरनोंने चरागाहके दूर एक निबिड जंगलमें अपनी बस्ती बना ली और वे बड़ी ही सतर्कतासे उस चरागाहकी घास खाने लगे। चरागाहका मालिक उनके रहनेका पता न पा सका।

१७. "यह रूपक है। चरागाह माने उपभोग्य वस्तु। चरागाहका मालिक माने मार (मदन)। पहले झुंडके हिरन माने उपभोग्य वस्तुको अच्छी तरह भोग लेनेवाले श्रमण ब्राह्मण। उपभोग्य वस्तुको भयप्रद जानकर उससे अलग हो जिन्होंने जंगलका रास्ता लिया वे श्रमण ब्राह्मण दूसरे झुंडके हिरन माने गये हैं। वे कुछ समयतक घास, गोमय (दूध, दही इत्यादि), फल-मूल इत्यादि खाकर जंगलमें रहे पर उनके शरीर दुर्बल हो गये। विचारशक्ति उनसे दूर भाग गई और वे फिर उसी चरागाह माने उपभोग्य वस्तुके मोहमें फँसे। तीसरे प्रकारके श्रमण ब्राह्मणोंने इस प्रकार जंगलका रास्ता नहीं पकड़ा। वे बड़ी सतर्कतासे उपभोग्य वस्तुका उपयोग करने लगे, पर वे इस झगड़ेमें

पड़े कि यह जगत् नित्य है या अनित्य, यह अनंत है या सान्त, जीव और शरीर भिन्न हैं या अभिन्न; तथागत (बुद्ध) मृत्युके बाद भी रहता है या नहीं, इत्यादि। इन झगड़ोंसे वे श्रमण ब्राह्मण तीसरे झुंडके मृगोंके समान मार-पाशमें फँस गये। चौथे प्रकारके श्रमण ब्राह्मणोंने इन सब बातोंका त्याग कर दिया जिससे वे चौथे झुंडके हिरनोंकी तरह मारके अधीन न हुए।"

१८. इस सुत्तमें जिन लोगोंको पहले प्रकारके श्रमण ब्राह्मण कहा है वे वैदिक यज्ञ-याग करके मांसाहार तथा सोमपान करनेवाले ब्राह्मण तथा यति हो सकते हैं। इन सब आमोदों-प्रमोदोंसे ऊबकर तथा डरकर जो जंगलमें चले गये थे ऐसे तपस्वी संघ दूसरे प्रकारके श्रमण ब्राह्मणोंके माने गये हैं। जंगलमें जबतक खानेको मिलता था तबतक उनका काम ठीक तरहसे होता था, पर जब फल-मूलकी कमी हो जाती तो वे फिर गाँवोंमें आकर आमोदमें फँस जाते! पुराणोंमें पराशर इत्यादिके इस प्रकारके उदाहरण हैं ही। तीसरे श्रमण ब्राह्मण बुद्धके समय अलग-अलग संघोंमें रहनेवाले संन्यासी थे। वे ब्रह्मचर्य इत्यादिका पालन पूरी तरहसे करते थे और उपभोग्य वस्तुका समझ-बूझकर उपभोग करते थे। पर आत्माका अस्तित्व, जगके नित्यत्व-अनित्यत्व इत्यादि झगड़ोंमें पड़ते थे और इन्हीं कारणोंसे वे मारके अधीन हो जाते थे। चौथे प्रकारके श्रमण ब्राह्मण माने बुद्धके शिष्य। वे इन झगड़ोंमें नहीं पड़े जिससे वे मदनके पाशमें पड़नेसे बच गये।

१९. बुद्धके समय जो श्रमण थे उनका वर्णन आगे किया जायगा[1]। यहाँ-पर इतना ही दिखलाना है कि बुद्धके पहले यज्ञ-यागको धर्म माननेवाले ब्राह्मण थे और उसके बाद यज्ञ-यागसे उबकर जंगलोंमें जानेवाले तपस्वी थे। बुद्धके समय ऐसे ब्राह्मण और तपस्वी न थे ऐसी बात नहीं, पर इन दो प्रकारके दोषोंको देखनेवाले तीसरे प्रकारके भी संन्यासी थे। और उन लोगोंमें पार्श्व मुनिके शिष्योंको पहला स्थान देना चाहिए।

२०. कपिल मुनिका जन्म-काल बुद्धके पूर्व एक-दो शताब्दि होना चाहिए। क्योंकि उनका जो नाम है वही शाक्योंकी मुख्य राजधानीको दिया गया था।

१ वि० २।२३–३५ देखो।

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकंपया प्रददौ ।
आसुरिरपि पंचशिखाय तेन च बहुधा कृतं तंत्रम् ॥

(यह पवित्र तथा अच्छा शास्त्र कपिल मुनिने दया करके आसुरिको सिखलाया और आसुरिने पंचशिखको; तथा पंचशिखने उसका विस्तार किया ।) सांख्यकारिकाके अंतमें मिलनेवाली इन दो आर्याछंदकी पंक्तियोंमें सांख्याचार्यों-की परंपरा बतलाई गई है । इससे यह मालूम होता है कि कपिल मुनिका शिष्य आसुरि तथा आसुरिका शिष्य पंचशिख था ।

२१. शांति पर्वके ३२४ वें अध्याय[1]में पंचशिख भिक्षुका तथा जनक राजाका संभाषण दिया हुआ है और ३२५ वें अध्यायमें जनक कहता है "भिक्षोः पंचशिखस्याहं शिष्यः परमसंमतः" (पंचशिख भिक्षुका मैं परम मान्य शिष्य हूँ ।) महाभारतका यह कहना सच हो तो यह सिद्ध होता है कि कपिलका काल जनकके पूर्व दो-तीन पीढ़ी था और उसका काल बुद्धके पहले दूसरी शताब्दिमें मानना पड़ेगा । सांख्योंका उत्कर्ष अगर जनकके समय होना माना जाय, तो बुद्धके समय जो प्रसिद्ध श्रमण संघ विद्यमान था उसके उपर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ, यह मानना पड़ेगा । या सांख्योंका तत्त्वज्ञान कुछ-कुछ पकुध (ककुध) कात्यायनके तत्त्वज्ञानसे मिलता-जुलता होगा और उसका विकास होते-होते इस समय जो ईश्वर कृष्णकी सांख्यकारिका उपलब्ध है, वैसा बन गया होगा, यह भी मानना पड़ेगा । कुछ भी हो, बुद्धके समय बहुतसे श्रमण ब्राह्मण सांख्योंकी तरहके आत्मवादक झगड़ेमें पड़े थे, इसमें शंका नहीं रहती ।

२२. आजकल ऐसा माना जाता है कि बौद्ध धर्म सांख्य तत्त्वज्ञानसे निकला, पर इस बातके लिए प्राचीन बौद्ध ग्रंथोंमें कुछ भी आधार नहीं है । बुद्धचरित काव्यमें आडार कालाम तथा उद्रक रामपुत्रको सांख्योंका प्रवर्तक लिखा गया है । सांख्योंका प्रभाव उनके ऊपर कितना पड़ा होगा यह कहना कठिन है । क्योंकि सुत्त पिटकमें जो उनके बारेमें बातें आई हैं उनसे सांख्योंके और उनके तत्त्वज्ञानका कोई निकट संबंध नहीं मालूम पड़ता । सांख्योंका तत्त्वज्ञान बीजरूपमें बुद्धके समय भी विद्यमान था । इसका अगर बुद्धपर कोई

---

१. कुंभकोण संस्करण, औंध संस्करण अध्याय ३१९ तथा ३२० ।

प्रभाव पड़ा हो तो तो वह यही है कि सांख्यों द्वारा वर्णन किये आत्मामें बुद्धको कुछ भी सार नहीं दिखाई दिया, अपितु बुद्धका यह निश्चित मत हो गया कि उस प्रकारके आत्माको मानना हानिकारक है। पार्श्वनाथके चारों यामोंसे भी सांख्य-का कुछ संबंध नहीं है। इन्हीं यामोंसे अहिंसा धर्मका उद्गम है।

बुद्ध-कालकी श्रमण-संस्थाएँ

२३. ब्रह्मजाल सुत्तसे तथा सुत्त निपातके 'यानि च तीनि यानि च सट्ठि'[१] इस वाक्यसे यह ज्ञात होता है कि बुद्धके समय ६२ श्रमण पंथ विद्यमान थे। इस वाक्यमें ६३ श्रमण पंथोंका उल्लेख है क्योंकि बौद्ध पंथका भी उसीमें अंत-र्भाव किया गया है। ब्रह्मजाल सुत्तमें इन ६२ मतोंका विस्तारके साथ वर्णन करनेका प्रयत्न किया गया है पर ऐसी प्रबल आशंका होती है कि कहीं यह वर्णन काल्पनिक तो नहीं है। जिस समय यह सुत्त लिखा गया उस समय बुद्ध-कालमें ६२ पंथ विद्यमान हैं यह परम्परा प्रचलित थी, पर उन पन्थोंके विचार तथा आचार सुत्त लिखनेवालेको नहीं मालूम थे। किसी तरह पन्थोंमें भेदकर उसने ६२ संख्या पूरी करनेका प्रयत्न किया है। बुद्धके समय जो पंथ विद्यमान थे वे सभी कोई बड़े महत्त्वके हों ऐसी बात नहीं है। दूसरी बात यह है कि जो छोटे-छोटे पंथ थे वे बड़े पंथोंमें मिल-जुल गये होंगे और जो फुटकर पन्थ थे उनके आचार-विचार कुछ भी महत्त्वके रहे होंगे। ब्रह्मजाल सुत्तको छोड़कर और सब सुत्तोंमें ६ संघनायकोंके नाम बार-बार आते हैं। इस कारण यह मानना पड़ेगा कि बुद्धके समय अत्यंत महत्त्वके सिर्फ ६ संघ ही थे।

२४. इन छह संघोंमें एक संघका आचार्य पूरण कश्यप था। उसका कहना था कि "किसीने कुछ किया या करवाया, काटा या कटवाया, तकलीफ दी या दिलवाई, शोक किया या करवाया, कष्ट सहा या दिया, डरा या दूसरेको डराया, प्राणीकी हत्या की, चोरी की, डकैती की, घर लूट लिया, बटमारी की, परस्त्री-गमन किया, असत्य वचन कहा, फिर भी उसको पाप नहीं लगता। तीक्ष्ण धारके चक्रसे भी अगर कोई इस संसारके सब प्राणियोंको मारकर ढेर लगा दे तो भी उसे

१. सुत्तनिपात्त, सभियसुत्त, गाथा २९।

पाप न लगेगा।...गंगा नदीके उत्तर किनारेपर जाकर भी कोई दान दे या दिलवाये, यज्ञ करे या करवाये, तो कुछ भी पुण्य नहीं होनेका। दान, धर्म, संयम, यज्ञ, सत्यभाषण इन सबसे पुण्य प्राप्ति नहीं होती।" इस पूरण कश्यपके बादको अक्रिय-वाद कहते थे।

२५. दूसरे संघका आचार्य मक्खलि गोसाल था। उसका कहना था कि "प्राणीके अपवित्र होनेमें न कुछ हेतु है, न कुछ कारण। बिना हेतुके और बिना कारणके ही प्राणी अपवित्र होते हैं। प्राणीकी शुद्धिके लिए भी कोई हेतु नहीं है, कुछ भी कारण नहीं है। बिना हेतुके और बिना कारणके ही प्राणी शुद्ध होते हैं। खुद अपनी या दूसरेकी शक्तिसे कुछ नहीं होता। बल, वीर्य, पुरुषार्थ या पराक्रम यह सब कुछ नहीं है। सब प्राणी बलहीन और निर्वीर्य हैं। वे नियति (भाग्य), संगति और स्वभावके द्वारा परिणत होते हैं—अक्लमंद और मूर्ख सभीके दुःखोंका नाश ८० लाखके महाकल्पोंके फेरेमें होकर जानेके बाद ही होता है"। इस मक्खलि गोसालके मतको संसार-शुद्धि-वाद कहते थे। इसीको नियतिवाद भी कह सकते हैं।

२६. तीसरे संघका प्रमुख अजित केस कंबली था। उसका कहना था कि "दान, यज्ञ तथा होम यह सब कुछ नहीं है, भले-बुरे कर्मोंका फल नहीं मिलता, न इहलोक है न परलोक—चार भूतोंसे मिलकर मनुष्य बना है। जब वह मरता है तो उसमेंका पृथ्वी धातु पृथ्वीमें, आपो धातु पानीमें; तेजो धातु तेजमें तथा वायु धातु वायुमें मिल जाता है और इन्द्रियाँ सब आकाशमें मिल जाती हैं। मरे हुए मनुष्य को चार आदमी अरथीपर सुलाकर उसका गुणगान करते हुए ले जाते हैं। वहाँ उसकी अस्थि सफेद हो जाती है और आहुति जल जाती है। दानका पागलपन मूर्खोंने उत्पन्न किया है। जो आस्तिक वाद कहते हैं वे झूठ भाषण करते हैं। व्यर्थकी बड़बड़ करते हैं। अक्लमंद और मूर्ख दोनोंकाही मृत्युके बाद उच्छेद हो जाता है। मृत्युके बाद कुछ भी अवशेष नहीं रहता।" केस कंबलीके इस मतको उच्छेद-वाद कहते हैं।

२७. चौथे संघका आचार्य पकुध कात्यायन था। उसका कहना था कि 'सातों पदार्थ न किसीने किये, न करवाये। वे वंध्य, कूटस्थ तथा खंभेके समान

अचल हैं। वे हिलते नहीं, बदलते नहीं, आपसमें कष्टदायक नहीं होते। और एक-दूसरेको सुख-दुःख देनेमें असमर्थ हैं। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, सुख, दुःख तथा जीव ये ही ७ पदार्थ हैं। इनमें मारनेवाला मार खानेवाला, सुननेवाला, कहनेवाला, जाननेवाला, जनानेवाला कोई नहीं। जो तेज शस्त्रोंसे दूसरेके सिर काटता है वह खून नहीं करता, सिर्फ उसका शस्त्र इन सात पदार्थोंके अवकाश (रिक्तस्थान) में घुसता है, इतना ही।" इस मतको अन्योन्य-वाद कहते हैं।

२८. जैन संघका मुखिया निगण्ठ नाथपुत्त था। वह ऊपर लिखे चारों यामोंका[1] प्रतिपादन करता था। इसके मतको चातुर्याम-संवरवाद कहते थे।

२९. छठे बड़े संघका आचार्य संजय बेलट्ठ पुत्र था। वह कहता था, "परलोक है या नहीं, यह मैं नहीं समझता। परलोक है यह भी नहीं, परलोक नहीं है, यह भी नहीं।...अच्छे या बुरे कर्मोंका फल मिलता है यह भी मैं नहीं मानता, नहीं मिलता यह भी मैं नहीं मानता। वह रहता भी है, नहीं भी रहता। तथागत मृत्युके बाद रहता है या रहता नहीं, यह मैं नहीं समझता। वह रहता है यह भी नहीं, वह नहीं रहता यह भी नहीं।" इस संजय बेलट्ठ पुत्रके वादको विक्षेप-वाद कहते थे।

३०. इन सब आचार्योंके मतोंमें सांख्य मतकी बू भी नहीं है। पकुध कात्यायनके मतानुसार जीव यह एक पदार्थ है पर सांख्य मतमें अनेक जीव हैं और वे प्रकृतिसे विरक्त होनेके बाद मुक्त हो जाते हैं। "आत्मा मारनेवाला है, ऐसी जिसकी धारणा है या वह मारा जाता है ऐसा जो समझता है, उन दोनोंको सच्चा ज्ञान नहीं। यह न मारता है, न मारा जाता है।" भगवद्गीतामें (अ० २।१९) प्रतिपादित किये हुए इस मतसे तो पकुध कात्यायनका मत मिलता-जुलता है। पर उसका सांख्य मतसे कुछ भी संबंध नहीं।

३१. हेमचन्द्र राय चौधरी कहते हैं कि कबंधी कात्यायन ही पकुध कात्यायन था[2]। सुकेशा भारद्वाज, शैव्य सत्यकाम, सौर्यायणी गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि और कबंधी कात्यायन ये ६ युवक ब्रह्मविद्याकी शिक्षा लेनेके लिए

---

१. वि० २।२ और १० देखो।

2. Political History of Ancient India, page 17.

पिप्पलाद ऋषिके पास गये। ऋषिने कहा "तुम एक सालतक तपाचरणसे, ब्रह्मचर्यसे तथा श्रद्धासे मेरे पास रहो और उसके बाद मुझसे प्रश्न पूछो। जो कुछ मैं जानता हूँ, सब बतलाऊँगा।" एक सालके बाद इन ६ युवकोंने ऋषिसे ३ प्रश्न पूछे। उन प्रश्नोंके ऋषिने उत्तर दिये। इन प्रश्नों और उत्तरोंको प्रश्नोपनिषद् कहते हैं।

३२. राय चौधरीका कहना है कि कबंधी कात्यायनके साथका यह आश्वलायन ही मज्झिम-निकायके अस्सलायन सुत्तका आश्वलायन है। अस्सलायन जब बुद्धके पास गया उस समय वह १६ वर्षका था। (सोलसवस्सुद्देसिको जातिया) ये १६ वर्ष यदि उसके उपनयनसे गिने जायँ तो भी उसकी अवस्था चौबीस पचीस वर्षकी रही होगी। पर पकुध कात्यायन अवस्थामें बुद्धसे बड़ा और एक बड़े संघका नेता था। इसलिए यह कहना ठीक न होगा कि वह और अस्सलायन एक ही समय पिप्पलाद ऋषिके पास गये। दूसरे कबंधी कात्यायनके प्रश्न और उसपर पिप्पलाद ऋषिके उत्तरका पकुध कात्यायनके मतसे कोई संबंध नहीं दिखाई देता। इस दशामें यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती कि पकुध कात्यायन और कबंधी कात्यायन एक नहीं थे।

३३. वेद-विधिसे ऊबकर जो तापस जंगलमें रहते थे और जिन्हें निवाप सुत्तमें दूसरे झुंडके मृगोंकी उपमा दी गई है, उनके संघसे ही ये ६ संघ बने। अर्थात् वेद-विधि, विशेषकर यज्ञ-यागके विरोधके संबंधमें, इन सब सघोंमें एक मत था। दूसरी बात यह थी कि ये तापस न्यूनाधिक मात्रामें तपाचरण करते और गृह-बंधनमें बद्ध नहीं होते थे। उनका ध्येय यह भी था कि सर्वसाधारणका हित हो। पर उनकी मुख्य त्रुटि यह थी कि वे आत्मवादके फेरमें पड़ जाते थे। उनमेंसे कुछ आत्माको शाश्वत मानते, तो कुछ कहते कि आत्माका अस्तित्व ही नहीं है। इससे उनमें विवाद उपस्थित हुआ करते थे। ऐसे एक प्रसंगका वर्णन उदानमें[1] आया है। उसमें बुद्धने ऐसे श्रमणोंको हस्तिवर्णन करनेवाले जन्मान्धोंकी उपमा दी है और निवाप सुत्तमें उन्हें तीसरे झुंडके मृगोंकी उपमा दी गई है।

३४. इन छह संघोंमेंसे आज दिन केवल एक जैन संघकी थोड़ी-बहुत जान-

---

१. उदान, जच्चंध वग्ग, सुत्त ४।

कारी उपलब्ध है। पूरण कश्यपके अक्रियवाद और मक्खलि गोसालके नियतिवादके कुछ काल बाद एक हो जानेका प्रमाण अंगुत्तर निकायके छक्कनिपात (सुत्त ५७) में मिलता है पर बादमें ये दोनों पन्थ नामशेष हो गये। संजय बेलट्ठ पुत्रका तत्त्वज्ञान जैनोंके स्याद्वादमें परिणत हुआ होगा। जैनों द्वारा यह तत्त्वज्ञान स्वीकार होनेपर उसके भिन्न संघकी आवश्यकता न रही। उच्छेदवादका कुछ अंश सर्वदर्शनसंग्रहमें बचा है और उसे चार्वाक मत कहते हैं। इस मतके प्रति आजकल लोगोंमें विशेष आदर नहीं रह गया है तथापि एक समय यह मत प्रभावशाली था और इसीसे अर्थशास्त्र जैसे ग्रन्थोंका निर्माण हुआ। चाणक्यके समय कुछ आचार्य इसी लोकायत विद्याको बहुत महत्त्व देते थे। चाणक्यने सांख्य, योग और लोकायत इन तीनोंको आन्वीक्षकी विद्या कहा है।[1]

३५. पकुध कात्यायनका अन्योन्यवाद वर्तमान वैशेषिक शास्त्रमें परिणत हुआ होगा, पर उसके संघने कोई महत्त्वका कार्य किया होगा, ऐसा नहीं मालूम होता। इन सब श्रमण संघोंकी संस्कृति से जो अत्यन्त उज्वल मत निकला वह शाक्यपुत्र श्रमणका मत है। अब संक्षेपमें उसपर विचार किया जाता है।

संक्षिप्त बुद्ध-चरित्र

३६. बुद्धसंबंधी बहुत-सी जानकारी आजकल सर्वसाधारणको उपलब्ध है तथापि अधिकांश बुद्ध-चरित्र 'बुद्ध-चरित काव्य' तथा 'ललितविस्तर' इन दो ग्रन्थोंके आधार पर लिखे जानेके कारण वे ऐसी दन्तकथाओंसे यथा बुद्ध एक बड़े राजाके पुत्र थे आदि, बिलकुल अलिप्त नहीं हैं। इसलिए यहाँ पालिग्रन्थोंके आधारपर संक्षिप्त बुद्ध-चरित्र दे देना उचित जान पड़ता है।

३७. कोसल देशके उत्तर शाक्य क्षत्रियोंका एक छोटा-सा गणतन्त्र राज्य था। उस समय इस प्रकारके तीन-चार राज्य थे। इन गणतन्त्र राज्योंमें राजसत्ता परंपरागत नहीं थी। गाँव-गाँव जमींदार होते थे जो राजा कहलाते थे। वे एक स्थानपर एकत्र होकर अपना एक अध्यक्ष चुनते थे जो महाराज कहलाता था। जबतक उसे सब राजाओंकी सम्मति रहती थी तबतक वह

१. सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षकी। अर्थशास्त्र प्रक० १ अ० २।

अध्यक्षका काम करता था, अन्यथा दूसरा अध्यक्ष चुना जाता था। महत्त्वका कार्य उपस्थित होनेपर सारे राजसंघकी सम्मति ली जाया करती थी, अन्य काम यह अध्यक्ष और सेनापति आदि अधिकारी किया करते थे।

३८. बुद्ध-जन्मके पूर्व ही कपिलवस्तुके शाक्योंका स्वातंत्र्य नष्ट हो चला था। उन्हें एक प्रकारका 'होमरूल' प्राप्त था पर किसीको फाँसी देने या निर्वासित करनेका उन्हें अधिकार नहीं रह गया था। उसके लिए कोसल महाराजकी अनुमति लेनी पड़ती थी। मगध देशके पूर्वके अंग राजाओंकी भी यही स्थिति थी। उनका अंतर्भाव मगध देशमें ही होता था। काशी देशका भी स्वातंत्र्य नष्ट होकर उसका अंतर्भाव कोसल देशमें हो गया था। पावा और कुशिनाराके मल्लोंके दो और वैशालीके वज्जियोंका एक, इस प्रकार तीन गणतन्त्र राज्य अबतक स्वतंत्र रह गये थे। कोसल और मगध देशोंमें सार्वभौम राज्यप्रणाली दृढ होती जा रही थी।

३९. ऐसे समयमें कपिलवस्तुसे चौदह पंद्रह मीलकी दूरीपर शुद्धोदन राजा (जमींदार) की मायादेवी नामकी रानीके पेटसे गौतमका (बुद्धका) जन्म हुआ। बुद्धचरित काव्य तथा ललितविस्तरमें उन्हें सर्वार्थसिद्धि तथा सिद्धार्थ नाम दिया गया है पर प्राचीन पाली ग्रन्थोंमें ये नाम कहीं नहीं मिलते। सब स्थानोंपर उन्हें गोतम ही लिखा गया है और वही उनका वास्तविक नाम रहा होगा।

४०. बोधिसत्त्व (अर्थात् भावी बुद्ध) इस नामसे भी पाली ग्रन्थोंमें गोतमका उल्लेख है। आगे चलकर जब वह बुद्ध हुए तबसे उन्हें भगवान् लिखने लगे। अंगुत्तर निकायमें ऐसा वर्णन मिलता है कि बोधि-सत्त्वको तीन ऋतुओंमें रहनेके लिए तीन अलग-अलग महल[1] थे। यह संभव भी है, कारण शुद्धोदन बड़ा राजा न होते हुए भी धनी जमींदार था।

४१. अंगुत्तर निकायके तिकनिपातमें बुद्ध भगवान् भिक्षुओंसे कहते हैं— "भिक्षुगण, मैं बहुत सुकुमार था। मेरे सुखके लिए मेरे पिताने तालाब खुदवाकर उसमें अनेक जातियोंकी कमलिनी लगवाई थीं। मेरे वस्त्र

१. अपनी 'भगवान् बुद्ध' नामक मराठी पुस्तकमें कोसम्बीजीने महल होनेकी बातको असम्भव माना है। (दे० भगवान् बुद्ध भाग १, पृष्ठ १०४)

रेशमी हुआ करते थे। मैं जब बाहर निकलता था तो मेरे नौकर मेरे ऊपर इसलिए श्वेतच्छत्र लगाया करते थे कि मुझे शीतोष्णकी बाधा न हो। शीत, ग्रीष्म तथा वर्षाऋतुके लिए मेरे अलग-अलग तीन प्रासाद थे। मैं जब वर्षाऋतुके लिए बने महलमें रहनेके लिए जाता था तो चार महीने बाहर न निकलकर स्त्रियोंके गायन-वादनमें ही समय बिताया करता था। दूसरोंके घर दास और नौकरोंको निकृष्ट अन्न दिया जाता है पर मेरे यहाँ दास-दासियोंको उत्तम मांस-मिश्रित अन्न मिला करता था।

४२. "इस प्रकार सम्पत्तिका उपभोग करते हुए मेरे मनमें यह बात आई कि अविद्वान् साधारण मनुष्य स्वयं जराके पंजेमें पड़नेवाला होते हुए भी जराग्रस्त आदमीको देखकर घृणा करता और उसका तिरस्कार करता है। पर मैं भी स्वयं जराके पंजेमें पड़नेवाला होते हुए यदि उस साधारण मनुष्यकी भाँति जरा-ग्रस्तसे घृणा करूँ या उसका तिरस्कार करूँ तो यह मुझे शोभा न देगा। इस विचारसे मेरा तारुण्यमद समूल नष्ट हुआ।

४३. "अविद्वान् साधारण मनुष्य स्वयं व्याधिके पंजेमें पढ़नेवाला होते हुए व्याधिग्रस्त मनुष्यको देखकर घृणा करता और उसका तिरस्कार करता है। पर मैं भी स्वयं व्याधिके भयसे मुक्त न होते हुए यदि उस साधारण मनुष्यकी भाँति व्याधिग्रस्तसे घृणा करूँ या उसका तिरस्कार करूँ तो यह मुझे शोभा न देगा। इस विचारसे मेरा आरोग्यमद समूल नष्ट हुआ।

४४. "अविद्वान् साधारण मनुष्य स्वयं मरणधर्मी होते हुए मृत शरीरको देखकर घृणा करता और उसका तिरस्कार करता है। पर मैं भी स्वयं मरणधर्मी होते हुए यदि उस साधारण मनुष्यकी भाँति मृत शरीरसे घृणा करूँ या उसका तिरस्कार करूँ तो यह मुझे शोभा न देगा। इस विचारसे मेरा जीवितमद समूल नष्ट हुआ।"

४५. इस सुत्तसे यह दिखाई देता है कि बोधिसत्वके मनमें जरा, व्याधि और मरण इन तीन आपत्तियोंके विचार बराबर आया करते थे। सुत्तसे यह दन्त-कथा भी असत्य सिद्ध होती है कि वृद्ध, व्याधित और मृत मनुष्यको देख-कर उसने गृह त्याग किया। यह संभव नहीं कि श्रमणोंके बड़े-बड़े संघोंके मगध

और कोसल देशमें धर्म-प्रचार करते हुए घूमते रहनेपर भी बोधिसत्त्वको धार्मिक जीवनकी जानकारी न रही हो।

४६. सुत्त निपातके अत्तदंड सुत्तमें बुद्ध भगवान्‌ने बताया है कि गृहस्थाश्रममें रहते हुए उन्हें किस प्रकार वैराग्य उत्पन्न हुआ। भगवान् कहते हैं— "अपर्याप्त जलमें जिस प्रकार मछलियाँ तड़पती हैं उसी प्रकार दूसरेका विरोध कर तड़पनेवाली जनताको देखकर मेरे अन्तःकरणमें भयका संचार हुआ। चारों ओरसे संसार असार जान पड़ने लगा। सन्देह हुआ कि दिशाएँ काँप रही हैं। उनमें आश्रयकी जगह खोजते हुए मुझे निर्भय स्थान मिलता नहीं था। अन्ततक सारी जनता एक दूसरेके विरूद्ध ही दिखाई देनेके कारण मेरा मन उद्विग्न हुआ।"

४७. इसमें सन्देह नहीं कि जरा-व्याधि-मरणका विचार बोधिसत्वके मनमें बार-बार आया करता था पर वह उसके वैराग्यका मुख्य कारण नहीं था। उसे यह देखकर अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हुआ कि जरा-व्याधि-मरणसे बद्ध जनता एक-दूसरेसे द्वेष कर बराबर लड़ रही है। लोगोंमें व्यवस्थाकी स्थापना करनेके लिए राज्यपद प्राप्त कर लेनेपर भी मनुष्य विरोधसे मुक्त नहीं होता। राजाके पुत्र ही उसे मारकर राज्यपद प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं। अर्थात् साधारण मनुष्यसे लेकर सर्वाधिकारी राजातक कोई भी विरोधसे मुक्त नहीं है। तब क्षत्रियोंकी परंपरामें गोतमको यदि निर्भय स्थान न मिला तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

४८. गृहस्थीका त्याग कर परिव्राजक बने हुए बहुत-से क्षत्रिय उस समय थे। पूर्वोक्त जैनगुरु नाथपुत्र भी एक बड़े क्षत्रिय राजाके (जमींदारके) पुत्र थे। बोधिसत्वके पहले गुरु आडार कालाम और उद्रक राजपुत्र भी क्षत्रिय ही थे। इससे स्पष्ट है कि बोधिसत्वने ऐसे किसी पंथमें प्रविष्ट होकर अपने लिए निर्भय स्थान ढूँढ़ निकालनेका निश्चय किया होगा।

४९. आडार कालामका आश्रम कपिलवस्तुमें होनेका प्रमाण इसी तिक निपात में मिलता है। "एक समय भगवान् कोसल देशमें यात्रा करते हुए कपिलवस्तु पहुँचे। उनके आनेका समाचार पाकर महानाम शाक्य उनसे मिलने आया। उस समय उन्होंने महानामसे कहा कि मुझे एक रात ठहरने के लिए स्थान

ढूँढ़ो। पर भगवान्‌के रहने योग्य स्थान उसे कहीं न मिला। लौटकर उसने भगवान्‌से कहा—'भदन्त, आपके रहने योग्य स्थान मुझे नहीं मिल रहा है। अपने पुराने सब्रह्मचारी भरण्डु कालामके आश्रममें आप एक रात रहें।' भगवान्‌ने वहाँ आसन तैयार करनेके लिए महानामसे कहा और उस रातको वे उस आश्रममें रहे।

५०. "दूसरे दिन सबेरे महानाम भगवान्‌से मिलने आया। उस समय भगवान्‌ने उससे कहा—'हे महानाम, इस लोकमें तीन प्रकारके धर्मगुरु हैं। पहले प्रकारका धर्मगुरु कामोपभोगोंका समतिक्रम (त्याग) बताता है पर रूपों और वेदनाओंका समतिक्रम (त्याग) नहीं दिखाता। दूसरे प्रकारका धर्मगुरु कामोपभोगों और रूपोंका समतिक्रम दिखाता है पर वेदनाओंका समतिक्रम नहीं दिखाता। तीसरे प्रकारका धर्मगुरु इन तीनोंका समतिक्रम दिखाता है। इन सब धर्मगुरुओंका ध्येय एक है या भिन्न?'

५१. "इसपर भरण्डु कालामने कहा—'हे महानाम, इन सबका ध्येय एक ही है ऐसा कहो।' पर भगवान् बोले—'महानाम, उनके ध्येय भिन्न हैं ऐसा कहो।' दूसरी और तीसरी बार भी भरण्डुने उनका ध्येय एक ही बतानेको कहा और भगवान्‌ने उनके ध्येय भिन्न बतानेको। इसे महानाम जैसे प्रभावशाली शाक्यके सामने श्रमण गोतमद्वारा किया गया अपना अपमान समझकर भरण्डु कालाम कपिलवस्तुसे चला गया और फिर कभी नहीं लौटा[1]।"

५२. इस सुत्तसे कई बातोंका निर्णय हो जाता है। इसमेंसे पहली बात यह कि कालाम ऋषिका आश्रम कपिलवस्तुमें था और उसके योगमार्गको शाक्य राजा अच्छी तरह समझते थे। दूसरे बोधिसत्त्व गोतम कपिलवस्तुके महाराजका पुत्र नहीं था, वैसा होता तो खुद स्वयं अपने पिताकी राजधानीमें एक रात रहनेके लिए उसे जगह अवश्य मिल गई होती। तीसरे बुद्ध होनेके बाद भगवान् बड़े भिक्षुसंघके साथ कपिलवस्तुमें नहीं आये थे, अर्थात् भिक्षुसंघ बनाने या एकत्र करनेमें उन्हें कई वर्ष लगे थे। चौथे शुरू-शुरूमें उन्हें या उनके धर्मको शाक्य राजाओंने पसन्द नहीं किया, केवल एक महानाम शाक्यने उनका स्वागत किया।

१. अंगुत्तर नि० पण्णासक ३, वग्ग ३, सुत्त ४।

५३. तात्पर्य यह कि बुद्धको धर्मज्ञान प्राप्त करनेके लिए शाक्य देशसे मगधकी राजधानी (राजगृह) में जानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी और वे प्रथम राजगृहमें गये भी नहीं। उन्होंने कपिलवस्तुमें ही आडार कालामके श्रमण संप्रदायमें प्रवेश किया।

५४. मज्झिम निकायके महा सच्चक सुत्तमें इसका प्रमाण मिलता है कि वे भिक्षु होनेके पूर्व आडार कालाम द्वारा उपदिष्ट ध्यानोंका अभ्यास करते थे। इसी सुत्तमें भगवान् कहते हैं—"एक बार जब मैं अपने पिताके साथ खेतपर गया हुआ था तब वहाँ जंबु वृक्षकी छायामें बैठकर प्रथम ध्यानकी[1] समाधि साधनेकी बात मुझे स्मरण है।" इससे यह मालूम होता है कि गृहस्थाश्रममें रहते समय ही बोधिसत्त्व आडार कालामके शिष्य हुए थे और उसके द्वारा उपदिष्ट ध्यानोंका अभ्यास करते थे।

५५. अरियपरियेसन सुत्तमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है—"हे भिक्षुगण, संबोधिज्ञान होनेके पूर्व बोधिसत्त्वावस्थामें मैं भी, स्वयं जन्मधर्मी होते हुए, जन्मके फन्देमें फँसी हुई वस्तुओंके (पुत्र, दारा, दास, दासी आदिके) मोहमें पड़ा हुआ था। स्वयं जराधर्मी, व्याधिधर्मी, मरणधर्मी, शोकधर्मी होते हुए भी जरा, व्याधि, मरण, शोकके फन्देमें फँसी हुई वस्तुओंके मोहमें पड़ा हुआ था। मेरे मनमें यह विचार आया कि जन्म, जरा, मरण, व्याधि, शोकसे स्वयं बद्ध रहते हुए मैं जो उन्हींसे बद्ध पुत्र-दारादिकके पीछे लगा हुआ हूँ यह ठीक नहीं है। जन्म-जरादिकोंसे होनेवाली हानिको देखते हुए अजात, अजर, अव्याधि, अमर तथा अशोक परम श्रेष्ठ निर्वाण पदकी खोज करना ही उचित है।

५६. "हे भिक्षुगण, ऐसा विचार करते हुए कुछ काल बाद यद्यपि उस समय मैं तरुण था, मेरा एक भी बाल सफेद नहीं हुआ था, मैं पूर्ण युवावस्थामें था, मेरे माता-पिता मुझे अनुमति नहीं देते थे, अश्रुप्रवाहसे उनके मुख भीग गये थे, वे बराबर रो रहे थे, तो भी (उनकी परवाह न करते हुए), मैं सिर मुँड़वाकर काषाय वस्त्रसे शरीर आच्छादन कर घरसे निकल पड़ा और परिव्राजक बना।"

---

१. समाधिकी चार अवस्थाएँ यह हैं—प्रथम ध्यान, द्वितीय ध्यान, तृतीय ध्यान तथा चतुर्थ ध्यान।

५७. यह शाब्दिक अनुवाद नहीं है, पुनरुक्तियाँ निकालकर केवल तात्पर्य दिया गया है। बोधिसत्त्वकी माता मायादेवी बोधिसत्त्वके जन्मके सातवें दिन ही परलोकवासिनी हुई थीं और उनकी भगिनी महाप्रजावतीने बोधिसत्त्वका पुत्रवत् पालन किया था। वे बोधिसत्त्वकी सौतेली माँ भी थीं, इसी लिए यहाँ उन्हें माता कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि बोधिसत्त्व चुपचाप घरसे भागे नहीं थे। उन्होंने माता-पिताको अपना विचार बताकर उनकी इच्छाके विरुद्ध संन्यास ग्रहण किया था।

५८. उपर्युक्त भरण्डु कालामके सुत्तसे स्पष्ट है कि गृहत्यागके बाद वे आडार कालामके पास रहे और उसके योगमार्गका उन्होंने अभ्यास किया। कालामसे जो कुछ सीखना सभव था वह सब सीख लेनेके बाद वे उद्रक राजपुत्रके पास गये। उसने बोधिसत्त्वको योगकी और एक सीढ़ी बताई। ये दोनों ही योगी गुरु कोसल देश और उसके आसपास प्रसिद्ध थे। पर उपरिनिर्दिष्ट बड़े-बड़े संघनायक वज्जियों और मगधके देशोंमें अपने धर्मका प्रचार किया करते थे। काशी, कोसल आदि देशोंमें भी उनकी कीर्ति फैली हुई थी। ऐसे गुरुओंके तत्त्वज्ञानका रहस्य जाननेके लिए बोधिसत्त्व राजगृहमें गये। वहाँ उन्होंने किसी भी बड़े धर्मगुरुके पास अभ्यास नहीं किया पर उनके तत्त्वज्ञानकी जानकारी अवश्य प्राप्त की होगी। लेकिन उनके तत्त्वज्ञानसे उनका समाधान नहीं हुआ और उन्हें विश्वास हो गया कि कठिन तपस्या किये बिना मुझे धर्मका रहस्य मालूम न हो सकेगा।

५९. बोधिसत्वने अपनी तपश्चर्या गयाके समीप आरंभ की। आजकल जिसे फल्गु कहते हैं उसी नदीको पहले नैरंजरा कहते थे। आजकल ग्रीष्म ऋतुमें इस नदीमें बिलकुल पानी नहीं रहता पर बुद्धके समय उसका प्रवाह सुन्दर और उसके आसपासका प्रदेश बहुत रमणीय था। वहाँ बोधिसत्त्वको और पाँच तपस्वी भिक्षु मिले। उन सबने मिलकर तपश्चर्या आरंभ की।

६०. गृह-त्यागके बाद सात वर्षतक किसी-न-किसी रूपमें बोधिसत्त्वकी तपस्या जारी ही थी पर तत्त्वबोधका सच्चा मार्ग उन्हें नहीं मिला। तब उनके मनमें विचार आया—"इस तपश्चर्यासे लोकोत्तर धर्म-ज्ञानकी प्राप्ति होगी, ऐसा नहीं जान पड़ता। इससे भिन्न कोई दूसरा ही निर्वाणका मार्ग होगा।

(घर छोड़नेके पूर्व) एक बार जब मैं पिताके साथ खेतपर गया हुआ था तब वहाँ जंबु वृक्षकी छायामें प्रथम ध्यानकी समाधि साधनेकी बात मुझे स्मरण है।[1] कहीं वही निर्वाणका मार्ग न हो!" इस बातका स्मरण आते ही बोधिसत्त्वको जान पड़ने लगा कि वही सच्चा मार्ग है। उसने अपने-आपसे ही कहा—"उस समाधि-सुखको मैं डरता क्यों हूँ? वह विलासिताका सुख नहीं है और न पापकारक है। ऐसे सुखसे डरना उचित नहीं। पर इस दुर्बल शरीरसे वह सुख साध्य न होगा। इसलिए शरीर-संरक्षणके लिए आवश्यक मात्रामें अन्न खाना चाहिए।[2]

६१. अनन्तर बोधिसत्त्व शरीर-संरक्षणके लिए आवश्यक अन्न सेवन करने लगे। यह देखकर उनके साथके पाँच भिक्षु बहुत निराश हुए और यह समझकर कि श्रमण गोतम ढोंगी बन गया है, वे उन्हें छोड़कर चले गये। तपश्चर्याके कारण बोधिसत्त्वके शरीरमें बिलकुल बल नहीं रह गया था। परन्तु थोड़ा-थोड़ा अन्न सेवन करनेसे उनके शरीरमें शक्ति आई और वे समाधि-सुखका फिर अनुभव करने लगे।

बुद्धका मध्यम मार्ग

६२. आजकल हम जिसे बुद्ध गया कहते हैं वहाँ ध्यान-समाधिका अनुभव करते हुए बोधिसत्त्वको तत्त्वबोधका नया मार्ग मिला। इस मार्गका लोगोंको उपदेश देना चाहिए या नहीं, इस सम्बन्धमें बोधिसत्त्वके मनमें बहुतसे अनुकूल-प्रतिकूल विचार आये। अन्तमें उन्होंने यह मार्ग सबको दिखा देनेका निश्चय किया। आडार कालाम तथा उद्रक रामपुत्र इन दोनोंको इस मार्गका तुरन्त बोध हो गया होता पर कुछ ही समय पूर्व उनकी मृत्यु हो चुकी थी। रह गये उनके साथ तपश्चर्या करनेवाले पाँच भिक्षु। उस समय वे वाराणसीमें ऋषिपत्तनमें[3] रहते थे। उनसे मिलनेके लिए बुद्ध भगवान् यात्रा करते हुए वाराणसी आये और बड़े परिश्रमसे उन पाँच भिक्षुओंको इतमीनान करा दिया कि उन्होंने (बुद्धसे) जो मार्ग ढूँढ़ निकाला है वही तत्त्व-बोधका सच्चा मार्ग है।

---

१. वि० २।५४ देखिये।

२. मज्झिम नि० महासच्चक सुत्त।

३. इसीको आजकल सारनाथ कहते हैं।

६३. भगवान् बुद्धने इन पाँच भिक्षुओंको नीचे लिखे अनुसार उपदेश दिया—"भिक्षुओ, धार्मिक मनुष्यों (प्रव्रजितों) को इन दो अंतोंको न जाना चाहिए। ये दो कौनसे? पहला कामोपभोगोंमें सुख मानना यह अंतहीन, ग्राम्य, सामान्य-जनसेवित, अनार्य और अनर्थकारी है। दूसरा शरीर पीडन। यह दुःख-कारक, अनार्य और अनर्थावह है। इन दो अंतोंको न जाते हुए तथागतने सुदृष्टि और ज्ञान उत्पन्न करनेवाला, उपशम, प्रज्ञा, संबोध और निर्वाणका कारणी-भूत मध्यम मार्ग ढूँढ़ निकाला है। वह मार्ग कौन-सा है? सम्यक दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि यही वह आर्य अष्टांगिक मार्ग है।

६४. "भिक्षुओ, दुःख नामका पहला आर्य सत्य यह है कि जाति (जन्म) दुःखकारक है, जरा दुःखकारक है, व्याधि भी दुःखकारक है, मरण भी दुःख-कारक है, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास ये भी दुःखकारक हैं। अप्रियोंका समागम दुःखकारक है और प्रियोंका वियोग दुःखकारक है। इच्छित वस्तु मिलती न हो तो भी दुःख होता है। संक्षेपमें पाँच उपादानस्कंध दुःखकारक हैं।[१]

६५. "भिक्षुओ, पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाली और अनेक विषयोंमें रमनेवाली तृष्णा--जिसे कामतृष्णा, भवतृष्णा और विनाशतृष्णा कहते हैं—दुःखसमुदय नामका दूसरा आर्य सत्य है।

६६. "वैराग्यसे उस तृष्णाका पूर्ण निरोध करना, उससे मुक्ति प्राप्त करना, यह दुःखनिरोध नामका तीसरा आर्य सत्य है।

६७. "और (उपर्युक्त) आर्य अष्टांगिक मार्ग, यह दुःखनिरोधगामिनी प्रति-पदा नामका चौथा आर्य सत्य है।"

बुद्ध और पार्श्वके उपदेशोंकी तुलना

६८. ऊपर श्रमणोंके जो छः पंथ बताये गये हैं उनके तत्वज्ञानसे ही बुद्धका यह मध्यम मार्ग निकला है। वैदिक ब्राह्मण प्रतिपादन करते थे कि यज्ञ-यागोंसे

१. रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँचोंको पंच स्कंध कहते हैं। ये पाँच स्कंध वासनायुक्त हों तो उन्हें उपादान-स्कंध कहते हैं।

ही मोक्ष मिलता है। यज्ञ करके मांसाहार और सोमरस-पान यही उनका प्रधान मार्ग था। इस मार्गसे ऊबकर जो परिव्राजक जंगलोंमें रहा करते थे वे समझते थे कि शरीर-पीडनमें ही सब कुछ है। उपर्युक्त बड़े-बड़े छः पंथ इन्हीं परिव्राजकोंसे बने होनेपर भी उच्छेदवादी अजित केसकंबली तपश्चर्याके सिद्धान्त-को बिलकुल नहीं मानता था। जान पड़ता है कि उसका मत यह था कि यद्यपि यज्ञमें पशु हिंसा करना अत्यंत ग्राम्य है फिर भी शरीरको पुष्ट करनेके लिए मद्य-मांसादिका सेवन करनेमें कोई हर्ज नहीं। बुद्ध भगवान्ने वैदिक ब्राह्मणों और केसकंबली जैसे देहात्मवादी तत्वज्ञोंका प्रथम अन्तवालोंमें समावेश किया है। यज्ञ-यागादि द्वारा हो या उनके बिना भी हो, विलासके पदार्थोंमें सुख माननेका मार्ग (अन्त) हीन और ग्राम्य है। उसी प्रकार निर्ग्रन्थोंका और मक्खलि गोसाला-दिकोंका तपश्चर्याका मार्ग (अन्त) यद्यपि हीन और ग्राम्य नहीं है फिर भी वह दुःखकारक और अनर्थावह है, अर्थात् उससे किसीको भी लाभ नहीं। इस प्रकार ये दोनों अन्त त्याज्य सिद्ध होते हैं।

६९. आचरणमें मध्यम मार्ग जिस प्रकार दो अन्तोंके बीचसे जाता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञानमें चार आर्य सत्योंका तत्त्वज्ञान दोनों अन्तोंके बीचसे जानेवाला है। एक ओर देहको आत्मा समझकर उसकी पुष्टि करना ही परम श्रेयस्कर मानने वाला तत्त्वज्ञान है और दूसरी ओर आत्मा अमर है, वह किसी भी कामसे भ्रष्ट नहीं होता या देहदंडनादिसे आत्माको मुक्त करना चाहिए आदि तत्त्वज्ञान है। इन दोनों अन्तोंके बीचका मध्यम मार्ग चार आर्य सत्योंका मार्ग है। ये चार आर्य सत्य इस प्रकार हैं—(१) संसारमें दुःख है और (२) वह आत्मासे या और किसीसे नहीं, मनुष्यकी तृष्णासे उत्पन्न हुआ है। (३) इस तृष्णाका पूर्ण त्याग ही मोक्ष है। (४) वह त्याग दूसरोंसे समताका व्यवहार करनेसे ही होता हैं। अष्टांगिक मार्ग यही सिखाता है कि दूसरोंसे समताका व्यवहार किस प्रकार करना चाहिए।

७०. पार्श्वनाथके चातुर्याम और बुद्धके अष्टांगिक मार्गमें थोड़ा अन्तर है। यद्यपि दोनोंका ध्येय अहिंसा द्वारा मानव जातिसे तादात्म्य प्राप्त करना ही है तथापि पार्श्वके चारों नियम निषेधात्मक और तपश्चर्यासे सम्बद्ध हैं और बुद्धके

आठ नियम विधायक तथा तपश्चर्यासे अलिप्त हैं । सम्यक् कर्ममें केवल अहिंसाका अन्तर्भाव ही नहीं होता, उसमें अस्तेय और अव्यभिचारका भी समावेश होता है । फिर सम्यक् कर्ममें केवल हिंसा न करनेका ही नहीं, हिंसासे जनताको मुक्त करनेके प्रयत्नका भी; केवल चोरी न करने का ही नहीं, दूसरोंको चोरीसे निवृत्त करनेके प्रयत्नका भी; केवल व्यभिचारसे निवृत्त होनेका ही नहीं, दूसरोंको उससे निवृत्त करनेके प्रयत्नका भी समावेश होता है । यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि इसमें पार्श्वके अहिंसा और अस्तेय इन दोनों यामोंका समावेश होता है ।

७१. स्वयं असत्य भाषण न करना और दूसरोंको भी उससे निवृत्त करना, स्वयं चुगली न करना और दूसरोंको भी उससे निवृत्त करना, अपशब्द न कहना और दूसरोंको भी उससे निवृत्त करना, इसे सम्यक् वाचा कहते हैं । स्पष्ट ही है कि इसमें पार्श्वकी असत्य-विरतिका समावेश हो जाता है ।

७२. रहा अपरिग्रहका चौथा याम । उसका समावेश सम्यक् आजीवमें किया जाना चाहिए । पार्श्वनाथ और उनके शिष्य अपने पास एक या तीन वस्त्र रखा करते थे । पर बादमें इस अपरिग्रहका यह अर्थ लगाया जाने लगा कि अपने पास कोई भी वस्त्र न रखना चाहिए । उनका अनुसरण कर बुद्धसमकालीन, जैन पंथके तीर्थंकर महावीर स्वामी तथा तदनुयायी जैन साधु नग्न रहा करते थे, पर बुद्धको यह पसन्द नहीं था । सम्यक् आजीवमें बुद्ध भगवान्ने बताया है कि साधुओंको तीन चीवर और एक भिक्षा-पात्र अपने पास रखना चाहिए और गृहस्थोंको भी बहुत सादगीके साथ रहना चाहिए । इसके अलावा किसी हिंसात्मक या अपायकारक साधनसे उपजीविका न करनेका भी सम्मक् आजीवमें समावेश होता है ।

७३. इस प्रकार पार्श्वके चार यामोंका समावेश अष्टांगिक मार्गके तीन अंगोंमें हुआ है और शेष पाँच अंग भी अहिंसाके पोषक ही हैं । उनका संक्षेपमें नीचे क्रमानुसार विचार किया जाता है ।

७४. इनमेंसे प्रथम अंग है सम्यक् दृष्टि । यह संसार किसने निर्माण किया ? इसका अन्त होगा या नहीं ? आत्मा एक ही है या प्रत्येक शरीरका आत्मा भिन्न है ? इन प्रश्नोंके विचारसे मानव-जातिको कोई लाभ नहीं । मानव-जाति दुःखमें

पड़ी हुई है, मानवी तृष्णा यही उस दुःखका मूल है और उस तृष्णाका निरोध ही मोक्ष है तथा अष्टांगिक मार्ग उस मोक्षका उपाय है। इस तत्त्वज्ञानकी स्वीकृति ही सम्यक् दृष्टि है।

७५. कामोपभोगोंके विचारोंसे मनुष्यकी बहुत हानि होती है, उसी प्रकार दूसरेपर आघात करने तथा उपद्रवकारी आन्दोलनसे मनुष्यकी बहुत हानि होती है, एतदर्थ ऐसे विचारोंको मनमें न आने देकर निष्काम वृत्ति, प्रेम तथा सौजन्य-पूर्ण व्यवहार करनेका निश्चय करना सम्यक् संकल्प कहलाता है।

७६. अकल्याणकारक विचार मनमें आये न हों तो उन्हें आगे आने न देना और ऐसे जो विचार आ गये हों उन्हें तुरत मनसे निकाल देना तथा जो कल्याण-कारक विचार मनमें आये न हों उन्हें मनमें लाना और जो आये हुए हों उनका पोषण कर उन्हें पूर्ण करना सम्यक् व्यायाम है।

७७. शरीर, वेदना, मन और विचारका यथोचित अवलोकन करना सम्यक् स्मृति है तथा चार ध्यानोंके अभ्यासको सम्यक् समाधि कहते हैं।

७८. पार्श्वके चार यामोंमें अष्टाङ्गिक मार्गके इन पाँच अंगोंका समावेश नहीं किया गया है। हिंसा न करनी चाहिए, असत्य न बोलना चाहिए, चोरी न करनी चाहिए तथा परिग्रह न रखना चाहिए—इन्हीं चार व्रतोंका पालन पार्श्वके शिष्य किया करते थे और शेष समय देह-दंडनमें लगाया करते थे। अवश्य ही यह बुद्धको पसन्द नहीं था। बुद्धका कहना था कि शरीर और वाचाका संयमन करनेपर बचा हुआ समय सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधिके अभ्यासमें लगाना चाहिए; इससे काया और वाचाका संयमन होकर मानसिक सुखकी अभिवृद्धि होगी। इसीलिए उन्होंने देह-दंडनका निषेधकर अष्टांगिक मार्गका प्रचार किया।

७९. ऊपर जिन छः बड़े-बड़े संघनायकोंका उल्लेख[1] किया गया है उन सबमें बुद्ध तरुण थे। भरण्डु कालामकी पूर्वोक्त कथासे[2] यह भी स्पष्ट है कि आरंभमें बुद्धके पास बड़ा संघ नहीं था। ऐसा होते हुए भी बुद्धके इस मध्यम

१. वि० २।२४–२९ देखिए।

२. वि० २।४९–५१ देखिए।

मार्गका जनतापर शीघ्र प्रभाव पड़ा और बौद्ध संघ अन्य संघोंसे बढ़ गया। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। कारण, यह तत्त्वज्ञान लोगोंको अन्य प्रचलित तत्त्व-ज्ञानोंकी अपेक्षा अधिक पसन्द आया।

८०. बुद्धकालके पूर्व यज्ञ-यागोंका जोर बहुत था और जनताको उससे बड़ी घृणा थी। पर राजा तथा धनी ब्राह्मण कृषिके लिए उपयोगी पशुओंको कृषकोंसे जबर्दस्ती छीन लाते थे और बड़े-बड़े यज्ञ-यागोंमें उनका वध किया जाता था। लोग इसे कितना नापसन्द करते थे यह दिखानेके लिए यहाँ एक छोटा सुत्त उद्धृत करना उचित है।

८१. "बुद्ध भगवान् श्रावस्तीमें रहते थे। उस समय कोसल राजा पसेनदिका महायज्ञ आरंभ हुआ था। पाँच सौ बैल, पाँच सौ बछड़े, पाँच सौ बछियाँ, पाँच सौ बकरे और पाँच सौ भेड़ यज्ञके लिए यूप-स्तंभोंसे बँधे थे। राजाके दास, दूत और दूसरे कर्मचारी दंड-भयसे भयभीत हो रोते हुए यज्ञके सब काम कर रहे थे। यह स्थिति कुछ भिक्षुओंने देखी और भगवान्‌को इसकी सूचना दी।

८२. "तब भगवान्‌ने कहा—'अश्वमेध, नरमेध, सम्यक-पाश, वाजपेय और निरर्गल यज्ञ बहुत खर्चीले हैं पर महत्फलदायक नहीं। जिस यज्ञमें भेड़-बकरे, गाय, बैल आदि विविध प्राणी मारे जाते हों उसमें संत महर्षि नहीं जाते। पर जिस यज्ञमें प्राणियोंकी हिंसा नहीं होती, भेड़-बकरे, गाय-बैल आदि प्राणी मारे नहीं जाते और जो सर्वदा लोगोंको अच्छा लगता है उसमें संत महर्षि जाया करते हैं। इसलिए सुज्ञ पुरुषको ऐसा यज्ञ करना चाहिए।"

८३. इस प्रकारके लंबे-चौड़े यज्ञ लोगोंको कितने अप्रिय होते जा रहे थे इसके और भी बहुत-से उदाहरण बौद्ध साहित्यमें मिलते हैं। इन यज्ञोंसे ऊबकर तो तापस जंगलोंमें चले जाते थे वे यदि कभी ग्रामोंमें आते भी थे तो लोगोंको उपदेश देनेके फेरमें नहीं पड़ते थे। पहले-पहल ऐसा प्रयत्न संभवतः पार्श्वनाथने किया। उन्होंने जनताको दिखा दिया कि यज्ञ-याग धर्म नहीं, चार याम ही सच्चा धर्म मार्ग है। यज्ञ-यागसे ऊबी हुई सामान्य जनताने तुरत इस धर्मको अपनाया। तो भी राजा लोग तथा धनी ब्राह्मण अपने स्वार्थके लिए

१. कोसल-संयुक्त, वग्ग १, सुत्त ९।

यज्ञ-याग करते ही थे। दूसरे श्रमण संप्रदायोंने भी विभिन्न मार्गोंसे यज्ञ-यागके इस धर्मपर आक्रमण किये तथापि मौर्य कालतक किसी-न-किसी रूपमें यज्ञ-यागोंका अस्तित्व बना ही रहा।

अशोक और श्रमण-संस्कृति

८४. जैनोंका कहना है कि चन्द्रगुप्त मौर्य जैन था और यह ठीक भी हो सकता है। पर चन्द्रगुप्तने यज्ञ-याग बन्द करनेका प्रयत्न नहीं किया। उसने स्वयं यज्ञ-याग नहीं किये और ब्राह्मणोंको इस संबंधमें उत्तेजित नहीं किया। इसी कारण ब्राह्मण ग्रन्थकारोंने उसे शूद्रवंशी कहा होगा। उसका पुत्र बिंदुसार किस पंथका था इसका पता नहीं लगता। वह किसी भी पंथका रहा हो, उसने अपने राज्यका प्रबंध करनेके अतिरिक्त और कुछ किया हो ऐसा नहीं जान पड़ता। उसका पुत्र अशोक अवश्य श्रमण-संस्कृतिका पूर्ण समर्थक बना।

८५. राज्याभिषेकके पश्चात् आठवें या नवें वर्ष अशोकने कलिंग देशपर चढ़ाई की। वहाँ एक लाख आदमी मारे गये और डेढ़ लाख आदमी पकड़ कर लाये गये।[१] इससे कलिंग देशमें बड़ा हाहाकार मचा और अशोकके मनपर उसका विलक्षण प्रभाव हुआ। वह जितना हिंसक था उतना ही अहिंसक बना। उस समय जो श्रमण पंथ मौजूद थे उनमेंसे बौद्ध पंथ उसे विशेष अच्छा लगा और वह बुद्धका पूर्ण भक्त बना। बौद्ध धर्मके प्रचारके लिए उसने जो प्रयत्न किया वह प्रसिद्ध ही है। पर वह किसी प्रकार भी सम्प्रदाय-वादी नहीं था। बौद्ध सम्प्रदायकी यद्यपि उसने सब तरहसे सहायता की, तो भी वह इसका ध्यान रखता था कि अन्य श्रमण सम्प्रदायोंका निर्वाह भली भाँति होता रहे। इतना ही नहीं, उसने इसकी भी यथासंभव व्यवस्था की थी कि श्रमणसम्प्रदाय आपसमें लड़कर समयका अपव्यय न करें।

८६. सातवें शिलालेखमें वह कहता है—"सब स्थानोंपर सब पाषण्ड (श्रमणसम्प्रदायी) रहें, कारण वे संयम और भावशुद्धिकी इच्छा रखते हैं..... बहुत दानधर्म करके भी जिस मनुष्यमें संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति नहीं, वह सचमुच नीच है।"

---

१ दे० अशोकका तेरहवाँ शिलालेख।

८७. अशोकका यह उपदेश गृहस्थोंके लिए है। जो गृहस्थ अपने सम्प्रदायको विपुल दान देते थे पर दूसरे सम्प्रदायोंकी निन्दा करते या उन्हें नष्ट करनेका प्रयत्न करते थे, उनके लिए अशोक कहता है—"सब श्रमणसम्प्रदाय संयम और अन्तःकरणकी शुद्धि चाहते हैं। इसलिए यदि तुमने बहुत दान-धर्म किया पर वाचाका संयम नहीं किया, तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध न हुआ, तुममें ऐसे लोगोंके प्रति कृतज्ञता और दृढभक्ति उत्पन्न न हुई, तो तुम्हें नीच ही कहना पड़ेगा।"

८८. फिर अपने बारहवें शिलालेखमें अशोक कहता है—"देवोंका प्रिय प्रियदर्शी राजा सब प्रकारके श्रमणोंकी (पाषंडियोंकी), परिव्राजकोंकी और गृहस्थोंकी दान-धर्मसे तथा अन्य अनेक प्रकारोंसे पूजा करता है। पर देवोंका प्रिय दान और पूजाको उतना महत्त्व नहीं देता जितना सब पाषंडियोंकी सारवृद्धिको। सारवृद्धिके अनेक प्रकार हैं। उसका मूल है वाचागुप्ति। उदाहरणार्थ, आत्मा-पाषंडकी भरमार न करे और पर-पाषंडकी निन्दा न होने दे। यदि कोई झगड़ेका कारण उपस्थित हो ही जाय तो उसे महत्त्व न दे। पर-पाषंडका मान रखना अनेक प्रकारसे उचित है। ऐसा करनेसे वह आत्म-पाषंडकी निश्चयसे अभिवृद्धि करता है और पर-पाषंडपर भी उपकार करता है। एक-दूसरेका धर्म एक-दूसरा सुने और एक-दूसरेकी शुश्रूषा करे, इसलिए एकता अच्छी। सब पाषंड बहुश्रुत और कल्याणागम[1] हों, यही देवोंके प्रियकी इच्छा है......इसके लिए धर्ममहा-मात्योंकी (तथा दूसरोंकी) नियुक्ति की गई है......"

८९. इस शिलालेखसे दिखाई देता है कि जितने भी अहिंसात्मक पंथ थे उन सबके साथ अशोक समानताका व्यवहार करता था। इतना ही नहीं, उसने इसके लिए भी बहुत प्रयत्न किया कि इन पंथोंमें झगड़ा न होकर ऐक्यकी अभिवृद्धि हो और ये लोगोंको संयम और आत्मशुद्धिका मार्ग दिखा दें। वैदिक संस्कृतिका आधार है यज्ञ-याग। उनका निषेध अशोकने पहले ही शिलालेखमें किया है[2]; और उसने सर्वसाधारणको जिस धर्मका उपदेश किया उसमें अहिंसाको अग्रस्थान दिया है। फलतः अशोकके साम्राज्यमें ही नहीं, उसके आसपासके राज्योंमें

१. जिनके धर्मग्रंथ कल्याणकारक हों।

२. इध न किंचि जीवं आरभित्वा प्रजुहितव्वं।

भी यदि श्रमण-संस्कृतिका, उसमेंसे भी बौद्ध पंथका, बहुत जोरसे फैलाव हुआ हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

श्रमण-संस्कृतिके गुण-दोष

९०. सर्वस्वका त्यागकर, केवल मनुष्य ही नहीं, अन्य प्राणियोंपर भी दया करना लोगोंको सिखाना साधारण काम नहीं। इस कार्यमें ब्राह्मणोंकी ओरसे बहुत विरोध हुआ। त्रिपिटिक साहित्यमें इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। पर ऐसे विरोधकी परवाह न कर श्रमण सम्प्रदायोंने, विशेषकर बौद्ध और जैनोंने दया-धर्मके प्रसारका अनुपम प्रयत्न किया। अशोक जैसे राजाकी सहायता मिलनेसे तो हिन्दुस्तानके बाहर भी बौद्ध धर्म फैला। अशोकके समयसे शीलादित्यके समयतक बौद्ध धर्म पूर्वकी ओर बराबर फैलता गया। जिन भारतीय श्रमणोंने इस धर्मके प्रसारमें सहायता की उनकी उज्वल कीर्ति सिंहल, बर्मा, स्याम, चीन, जापान आदि देशोंके लोग अब भी गाते हैं।

हिन्दुस्तानमें अब बौद्ध धर्म नहीं रह गया है और जैन धर्म अल्प प्रमाणमें है। तिसपर भी साधारण जनतापर इन धर्मोंकी अच्छी छाप पड़ी हुई है। ब्राह्मणोंके बहुत प्रयत्न करनेपर भी यज्ञ-यागोंका पुनरुज्जीवन न हो सका। अशोकके बाद पुष्यमित्रने और उसके बाद (ईसाके बाद चौथी शताब्दिमें) समुद्रगुप्तने अश्वमेघ-यज्ञ किया। पर जनतामें यज्ञकी प्रथा पुनः प्रचलित करना असंभव हो गया।

९२. सर्वसाधारणमें आज जो सदाचार दिखाई देता है उसकी नींव भी श्रमणोंने ही डाली थी। ब्राह्मणोंका व्यवसाय यज्ञ करना और राजाओं तथा ऊँची जातियोंके अन्य धनी लोगोंसे दक्षिणा वसूल करना रहा। शूद्र तो श्मशान जैसा त्याज्य समझा जाता था। उसे ब्राह्मण क्यों पूछते? पर श्रमणोंमें यह पंक्ति-प्रपंच नहीं था। उनके लिए शूद्र क्या और ऊँची जातिके लोग क्या, सब एकसे थे। किंबहुना, उनका तो यह प्रयत्न था कि सब लोगोंमें समता स्थापित हो।

९३. बुद्धके विरुद्ध ब्राह्मणोंका सबसे बड़ा अभियोग यह था कि "बुद्ध यह प्रतिपादन करता है कि चारों वर्णोंके लिए मोक्ष है[१]।" पर ऐसे अभियोगोंकी परवाह न कर बुद्ध और उनके शिष्योंने हिन्दुस्तानमें और उसके बाहर सब

जातियोंमें सदाचार फैलानेका प्रयत्न किया। उनका प्रभाव आजकल भी हिन्दू समाजपर दिखाई देता है।

९४. यज्ञ करना हो तो उसके लिए एक बड़ा तथा भव्य मंडप बनाना पड़ता था और वहाँ हजारों यूप (यज्ञ-स्तम्भ) गाड़ने पड़ते थे। ये मण्डप सजाये जाते रहे होंगे पर उनकी आयुर्मर्यादा यज्ञकी समाप्तितक ही रहती थी। फलतः याजक ब्राह्मणोंके हाथसे कलाकौशलकी उन्नति होना संभव नहीं था। वह काम श्रमण संस्कृतिने किया। यज्ञ-यागोंके प्रति लोगोंका अनादर बढ़ता जानेके कारण उनकी प्रवृत्ति विहार और स्तूप बनानेकी ओर हुई। आज हिन्दुस्तानमें प्राचीन कला-कौशलकी जो चीजें हैं उनमें अशोकके शिलास्तभ, कार्ला आदि स्थानोंकी गुफाएँ और साँची आदि स्थानोंके स्तूपोंको अग्रस्थान दिया जाता है। बौद्धोंका अनुसरण-कर जैनोंने भी कला-कौशलकी बहुत उन्नति की और पौराणिक कालमें शैव तथा वैष्णवोंने भी उनका अनुकरण किया।

बाहुसच्च च सिप्पं च विनयो च सुसिक्खितो
सुभासिता च या वाचा एतं मंगलमुत्तमं ॥

(बहुश्रुतता, शिल्पकला, उत्तम व्यवहारका अभ्यास और समयोचित भाषण, ये उत्तम मंगल हैं।) मंगलसुत्तकी इस गाथासे स्पष्ट दिखाई देगा कि बौद्धोंने कला-कौशलको किस प्रकार उत्तेजना दी।

९५. श्रमणसंस्कृतिमें जो दोष आये उसका मुख्य कारण उसे राजाश्रय मिलना रहा होगा। बुद्धने अपनी छोटी जमींदारी छोड़कर संन्यास लिया और पैंतालिस वर्षतक धर्मप्रचारका काम किया। इस काममें महाराजोंसे उनका संबंध क्वचित् ही रहा। बिंबिसार राजाने बुद्धका बड़ा सम्मान किया और उसे वेणुवन दान दिया, आदि जो कथाएँ विनय-महावग्गमें हैं वे बिलकुल कल्पित जान पड़ती हैं। कारण सुत्तपिटकमें उनके लिए कोई आधार नहीं मिलता। बिंबिसार राजा उदार था और वह सब पंथोंके श्रमणोंसे समान व्यवहार करता था। इस दशामें उसने यदि बुद्ध तथा उनके संघको अपने वेणुवनमें रहनेकी अनुमति दी हो, तो इसमें कोई विशेषता नहीं।

"समणो गोतमो चातुवण्णिं सुद्धिं पञ्ञापेति"—मज्झिम नि० म० पण्णासक, अस्सलायन सुत्त।

९६. बुद्धका मुख्य विहार श्रावस्तीका अनाथपिंडिकका आराम था। पर वह राजाका बनवाया हुआ नहीं था। उसे अनाथपिंडिक या सुदत्त नामके प्रसिद्ध व्यापारीने बनवाया था। श्रावस्तीमें ही विशाखा नामकी एक धनी स्त्रीने बौद्ध संघके लिए एक प्रासाद बनवाया था। विशाखा मिगार माताके नामसे प्रसिद्ध थी और इसलिए लोग उस प्रासादको मिगार माताका प्रासाद कहा करते थे। बुद्धने अपने आयुष्यके बहुतसे चातुर्मास इन दो स्थानोंपर ही व्यतीत किये थे। बीच-बीचमें राजा पसेनदि बुद्धसे मिलनेके लिए अनाथपिंडिकके आराममें आया करता था। पर उनके यज्ञके उपर्युक्त वर्णनसे स्पष्ट है कि उसपर बौद्ध धर्मका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था[१]।

९७. अन्य स्थानोंपर बुद्धके जो विहार थे उनमेंसे एक कपिलवस्तुमें शाक्योंका बनवाया हुआ निग्रोधाराम था। शाक्य राजा बुद्धके स्वजातीय थे। उन्होंने बुद्धकी ढलती उम्रमें यह विहार बनवाया होगा। कौशाम्बीमें घोषित श्रेष्ठीने भी बुद्धके लिए एक विहार बनवाया था। इससे यह दिखाई देता है कि बुद्धके जीवन-कालमें किसी भी महाराजने उनके लिए विहार नहीं बनवा दिया। उनका धर्म राजाओंके लिए नहीं, साधारण जनताके लिए था और केवल मध्यम वर्गके उदार लोग ही उनके रहने आदिकी व्यवस्था किया करते थे।

९८. पर अशोकके बाद यह स्थिति बदली। बौद्ध धर्म राजाश्रित बना। राजाश्रय प्राप्त करनेका प्रयत्न प्रथमतः बौद्धोंने किया या जैनोंने, यह नहीं कहा जा सकता। यदि यह सच माना जाय कि चन्द्रगुप्त मौर्य जैन था तो कहना पड़ेगा कि राजाश्रय प्राप्त करनेका प्रथम प्रयत्न जैनोंने किया। पर यह प्रश्न बहुत महत्त्वका नहीं है। इतना सच है कि अशोकके बाद बौद्ध और जैन दोनों ही पन्थोंने राजाश्रय प्राप्त करनेका प्रयत्न किया।

९९. अशोकके शिलालेखोंमें इनके लिए कोई आधार नहीं मिलता कि अशोकको बुद्धोपासक बनानेका किसी बौद्ध साधुने प्रयत्न किया। पर यह बात भी विशेष महत्त्वकी नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध बननेके बाद उसने अनेक विहार बनवाये और ऐसी व्यवस्था की कि हजारों भिक्षुओंका निर्वाह सुखपूर्वक

---

१. बि० १।८१।८२ देखिए।

होता रहे। दन्तकथा तो यह है कि अशोकने चौरासी हजार विहार बनवाये, पर इसमें तथ्य इतना ही जान पड़ता है कि अशोकका अनुकरण कर उसकी प्रजाने और आसपासके राजाओंने हजारों विहार बनवाये और उनकी संख्या अस्सी-नब्बे हजारतक पहुँची।

१००. अशोक राजाके इस कार्यसे बौद्ध-भिक्षुसंघ परिग्रहवान् बना। भिक्षुकी निजी संपत्ति तो केवल तीन चीवर और एक भिक्षापात्र-भर थी। पर संघके लिए रहनेकी एकाध जगह लेनेकी अनुमति बुद्ध कालसे ही थी। उस जगहपर मालिकी गृहस्थकी होती थी और वही उसकी मरम्मत आदि कराता था। भिक्षुसंघ इन स्थानोंमें केवल चातुर्मास-भर रहता और शेष आठ महीने प्रवास करता हुआ लोगोंको उपदेश दिया करता था। चातुर्मासके अतिरिक्त यदि भिक्षुसंघ किसी स्थानपर अधिक दिन रह जाता था, तो लोग उसकी टीका-टिप्पणी करने लगते थे[1]। पर अशोक-कालके बाद यह परिस्थिति बिलकुल बदल गयी। बड़े-बड़े विहार बन गये और उनमें भिक्षु स्थायी रूपसे रहने लगे।

१०१. असन्तं भावनं इच्छेय पुरेक्खारञ्च भिक्खुसु।
आवासेसु च इस्सरियं पूजा परकुलेसु च॥
ममेव कतं मञ्ञन्तु गिही पब्बजिता उभो।
ममेवातिवसा अस्सु किच्चाकिच्चेसु किस्मिचि॥
इति बालस्स सङ्कप्पो इच्छा मानो च वड्ढति।
अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बानगामिनी॥
एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खु बुद्धस्स सावको।
सक्कारं नाभिनन्देय्य विवेकं मनुब्रूहये॥

(ध्यान समाधिकी भावना न होनेपर भी वह मुझे है यह दिखानेकी, भिक्षुओंका नेतृत्व प्राप्त करनेकी, विहारमें अधिकार और गृहस्थ-कुलोंमें सम्मान प्राप्त करनेकी इच्छा; तथा गृहस्थ और भिक्षु मेरा ही कहना मानें,

१. तेन खो पन समयेन भगवा तत्थेव राजगहे वस्सं वसि, तत्थ हेमन्तं, तत्थ गिम्हं। मनुस्सा उज्झायन्ति...न इमेसं दिशा पक्खायन्तीति।

—विनय पि० महावग्ग, महाक्खन्धक

किसी भी कृत्याकृत्यमें वे मेरे ही वशमें रहें, यह मूर्खका (भिक्षुका) संकल्प है। इससे इच्छा और अभिमान बढ़ते जाते हैं। परन्तु लाभका रास्ता और है और निर्वाणको जानेका रास्ता और है, ऐसा समझकर बुद्धके भिक्षु श्रावकको चाहिए कि वह सत्कारका अभिनन्दन न करे और विवेकको बढ़ावे।) धम्मपदकी ये गाथाएँ इसी कालमें रची गई होंगी। स्पष्ट ही है कि जब बड़े-बड़े विहार स्थापित हुए तो उनमें अगुआ बननेकी प्रतियोगिता भी आरंभ हुई। सारे श्रमण पंथोंमें एकता स्थापित करनेका अशोकका प्रयत्न तो एक ओर धरा रहा, स्वयं बुद्धके संघोंमें भी ऐसी वासनाके कारण, दलबन्दी तथा झगड़े होने लगे और अशोकके सारनाथके शिलालेखसे मालूम होता है कि, ऐसे झगड़ोंको निबटानेके लिए अशोकको बहुत परिश्रम करना पड़ता था।

१०२. विहारोंके भिक्षुओंका निर्वाह केवल भिक्षासे न हो सकता था। तब उनके लिए आरामिकोंकी व्यवस्था करनी पड़ी। आरामिकका अर्थ है आरामके (विहारके) सेवक। उनकी हालत करीब-करीब वैसी थी, जैसी आज-कल युक्त प्रान्तके किसानोंकी है। उन्हें जमीनका लगान विहारको देना पड़ता, इसके सिवाय समय-समयपर आरामकी मरम्मत आदि काम भी करने पड़ते। इस संबंधका पहला उल्लेख महावग्गमें मिलता है—

१०३. "उस समय आयुष्मान् पिलिंदवच्छ राजगृहमें लेण या गुहा बनवानेके उद्देश्यसे पहाड़के कगारेके नीचे मरम्मत करवा रहे थे। उस समय मगधराज बिंबिसार उनके पास आया और अभिवन्दन कर एक ओर बैठकर बोला—'भदंत, यह क्या करवा रहे हैं?' पिलिंदवच्छने उत्तर दिया—'महाराज, गुहा बनवानेके उद्देश्यसे इस कगारेकी मरम्मत करवा रहा हूँ।' राजा बोला—'आपको आरामिक चाहिए?' पिलिंदवच्छने कहा, 'महाराज, भगवान्ने आरामिक रखनेकी अनुज्ञा नहीं दी है।' राजाने कहा, 'भदंत, ऐसा है तो भगवान्से पूछकर मुझे सूचना दें।'

१०४. "अनन्तर पिलिंदवच्छने भगवान्के पास दूत भेजकर आरामिक रखनेकी अनुमति माँगी और भगवान्ने वह दे दी। इसके बाद फिर एक बार बिंबिसार राजा उनके पास आया। उस समय उसे मालूम हुआ कि आरामिक

रखनेकी अनुमति भगवान्से मिल गई है। इसपर उसने कहा—'ऐसा है तो भदन्त, मैं आपको एक आरामिक देता हूँ।'

१०५. "कार्यमें व्यग्र रहनेके कारण बिंबिसार राजा अपनी यह बात भूल गया। पर कुछ काल बाद उसे इसका स्मरण हुआ और उसने अपने महामात्यसे पूछा—'आपने पिलिंदवच्छको आरामिक दिया?' उत्तर मिला—'नहीं।' इसपर फिर पूछा—'आरामिक देनेका वचन देकर आज कितने दिन हुए?' महात्मात्यने दिन गिनकर बताया—'पाँच सौ दिन।' तब राजाने पिलिंदवच्छको पाँच सौ आरमिक देनेकी आज्ञा दे दी। इन पाँच सौ आरामिकोंका एक ग्राम ही बस गया और लोग उसे 'आरामिक ग्रामक' वा 'पिलिंदवच्छ ग्रामक' कहने लगे।"

१०६. यह बुद्धके समयकी घटना नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि यह कथा अशोकके बाद गढ़ी गई है। इसी प्रकारकी एक दूसरी कथा ह्यूएनत्संगके यात्रा-वर्णनमें हैं। यहाँ उसका सारांश दिया जाता है—

१०७. "काश्मीरके राज्यकी परिधि सात हजार ली है और वह चारों ओर पर्वतोंसे घिरा है।...बुद्धके परिनिर्वाणके बाद आनन्दका शिष्य अरहन्त माध्यन्तिक इस देशमें आया। उस समय यह प्रदेश एक बड़ा तालाव ही था और यहाँ एक नाग रहता था। माध्यन्तिक अरहन्तने अपने ऋद्धिबलसे नागको वशमें कर लिया और उसे इस तालाबका पानी सोखनेके लिए बाध्य किया। इससे यह प्रदेश बस्ती-के योग्य बना। पर स्वयं नागको रहनेके लिए स्थान नहीं था। तब अरहन्तने एक छोटेसे तालाबमें जो इस देशकी वायव्य दिशामें था, उसे रहनेके लिए स्थान दिया। अनन्तर उस नागने कहा—'यह प्रदेश मैं आपको दान देता हूँ।' माध्यान्तिक बोला—'मैं शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त होनेवाला हूँ, तब तेरा यह दान लेकर मैं क्या करूँगा?' नागने कहा—'यदि यह नहीं हो सकता तो जबतक बुद्धके धर्मका अस्तित्व रहे तबतक मेरा यह दान पाँच सौ अरहन्तोंको स्वीकार करने दीजिए।'

१०८. "उसकी इस प्रार्थनाके अनुसार माध्यान्तिक अरहन्तने उस प्रदेशमें पाँच सौ संघाराम (विहार) बनवाये और आसपासके प्रदेशोंसे गरीब आदमियोंको खरीदकर उन संघारामोंका आरामिक बनाया। माध्यान्तिककी मृत्युके बाद ये

---

१. महावग्ग, भेसज्जक्खन्धक.

आरामिक आसपासके प्रदेशोंके राजा बन गये, पर आसपासके लोग इन्हें हीन समझने लगे और 'क्रीत' (खरीदे हुए)[१] कहने लगे।

१०९. "बुद्धके परिनिर्वाणके सौ वर्ष बाद अशोक राजाने सारा संसार जीता और दूर-दूरके प्रदेशोंमें भी उसका सम्मान बढ़ा। त्रिरत्नोंका वह बहुत आदर करता था और प्राणिमात्रसे प्रेम करता था। उस समय एक हजार भिक्षुओंमें झगड़ा खड़ा हुआ। इनमेंसे पाँचसौ भिक्षु अरहन्त थे और पाँच सौ दांभिक थे। इनमें अच्छे कौन हैं और बुरे कौन, यह मालूम न होनेके कारण अशोकने उन सबको ही जल-समाधि देनेके उद्देश्यसे गंगाके किनारे एकत्र किया। अरहन्तोंको यह बात मालूम हो गई। तब वे सहसा आकाशमार्गसे इस प्रदेशमें (काश्मीरमें) चले आये। उनका ऋद्धिबल देखकर अशोकने उन्हें अपने देशमें आनेके लिए कहा, पर वे नहीं आये। तब अशोकने इस प्रदेशमें पाँच सौ संघाराम बनवाये और यह देश संघको दान कर दिया।

११०. "बुद्धके परिनिर्वाणके बाद ४००वें वर्ष कनिष्क राजा गद्दीपर बैठा।...उसने अपने राज्य-कालमें इस प्रदेशमें भिक्षुओंकी एक बड़ी सभा की और त्रिपिटकका संशोधन कराया। यह संस्करण उसने ताम्रपटोंपर लिखवाकर पत्थरकी एक बड़ी पेटीमें भरकर जमीनमें गड़वाया और उसपर एक स्तूप बनवाया। इस देशसे जाते समय उसने पुनरपि यह सारा प्रदेश घुटने टेककर संघको दान दिया। कनिष्ककी मृत्युके बाद क्रीत लोगोंने राज्यपर कब्जा कर लिया, भिक्षुओंको इस प्रदेशसे निकाल दिया और बुद्धधर्मका विध्वंस कर दिया।

१११. "तुखार देशमें हिमतल स्थानका रहनेवाला राजा शाक्यवंशीय था। वह बुद्धके परिनिर्वाणके छः सौ वर्ष बाद गद्दीपर बैठा। क्रीतोंके द्वारा बौद्ध-धर्मके विध्वस होनेकी बात जब उसे मालूम हुई तो उसने अपने राज्यके तीन हजार

---

१. संस्कृत 'क्रीत' शब्दकी उत्पत्ति चीनी शब्द कि-लि-तोसे होनी चाहिए। पर अनुवादकर्ता Samuel Beal ने 'क्रितीय' शब्द दिया है। किरात जो लोग थे और जिनका महाभारतमें अनेक स्थानोंपर उल्लेख मिलता है, वे ही तो ये 'क्रीत' नहीं थे?

अत्यन्त शूर योद्धा एकत्र किये और उन्हें कारवानोंका रूप दे कर काश्मीर देशमें प्रवेश किया। इन कारवानोंके पास तरह-तरहका माल अवश्य था, पर अन्दर सब शस्त्रास्त्र छिपाकर रखे हुए थे। काश्मीरके राजाने आदरपूर्वक उनका स्वागत किया। तुखारका राजा व्यापारी वेशधारी पाँच सौ योद्धा और राजाको भेंट देनेके लिए उत्तमोत्तम वस्तुएँ साथ लेकर राजासे भेंट करने गया। वहाँ उसने एकाएक अपनी पगड़ी फेंककर क्रीतोंके राजापर आक्रमण कर दिया और उसे मार डाला तथा उसके अमात्योंको भगा दिया, पर लोगोंको किसी प्रकारका कष्ट नहीं दिया। उसने भिक्षुओंको पुनः बुलवाकर उनके लिए एक संघाराम बनवाया और उसमें उनकी स्थापना की। पश्चिमकी घाटीसे वह लौट गया। जाते समय उसने पूर्वकी ओर साष्टांग दंडवत कर यह देश भिक्षु-संघको दान कर दिया।

११२. "इस प्रकार क्रीतोंने अनेक बार भिक्षु-संघके विरुद्ध विद्रोह किया है और इस कारण वे उत्तरोत्तर बुद्धधर्मका द्वेष करते आये हैं। कुछ वर्षोंके बाद उन्होंने फिर इस राज्यपर कब्जा कर लिया। इस कारण इस प्रदेशमें आजकल बौद्ध धर्मका विशेष प्रचार नहीं है। मिथ्यादृष्टि लोगोंके मन्दिरोंका यहाँ बहुत आदर है।"[१]

११३. इस दन्त-कथामें दिया हुआ अशोक और कनिष्कका समय ठीक नहीं है। अशोकका राज्याभिषेक महावंसके अनुसार बुद्ध-परिनिर्वाणके २१८ वर्ष बाद हुआ और पाश्चात्य ग्रन्थकारोंके मतानुसार २१४ वर्ष बाद। पर किसीके भी मतसे वह बुद्ध-परिनिर्वाणके सौ वर्ष बाद नहीं हुआ। कनिष्कका समय बुद्धके बाद सातवीं शताब्दीमें निश्चित होता है। तब इसमें सन्देह नहीं कि हुएनत्संगके दोनों विधान गलत हैं। दूसरी बात यह कि माध्यान्तिक स्थविर आनन्दका शिष्य नहीं था, वह अशोकका समकालीन था। महावंसमें इसका प्रमाण मिलता है कि अशोकके राज्यकालमें मोग्गलिपुत्त तिस्सने उसे काश्मीर और गांधार देशमें भेजा था;[२] और यही बात ठीक होनी चाहिए।

१. Buddhist Records, i. PP. 150-158.

२. थेरं कस्मीरगंधारं मज्झन्तिकमपेसयि।—महावंस १२।३

११४. इस दन्त-कथासे अनुमान होता है कि अशोक-कालसे काश्मीर देशमें संघारामोंकी संख्या बढ़ती गई और राजे-रजवाड़ोंने भिक्षुओंकी सेवा करनेके लिए लाखों आरामिक दिये। गरज यह कि काश्मीर देशमें दूसरे देशोंकी अपेक्षा आरामिकोंकी संख्या अधिक हो गई। उनपर लगाया गया कर उन्हें अखरने लगा और उन्होंने भिक्षुओंके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उनका दमन करनेके लिए भिक्षुओंको बाहरके राजाओंकी सहायता लेनी पड़ी और इस कारण आरामिकोंको बुद्धका धर्म अप्रिय हो गया।

११५. इस प्रकार भिक्षुओंके परिग्रही बन जानेपर उन्हें अपने परिग्रहकी रक्षा करनेके लिए झूठी-सच्ची बातें बनानी पड़ीं। शस्त्र धारण करके परिग्रहकी रक्षा करना तो संभव नहीं था, कारण वह प्रत्यक्ष हिंसा हो जाती और संघारामोंको किलोंका स्वरूप देना पड़ता। इसलिए कल्पित कथाओंकी रचनाकर उनके द्वारा राजाओंकी खुशामद करके अपने संघारामोंकी रक्षा करनेके लिए उन्हें बाध्य होना पड़ा। अर्थात् परिग्रहके कारण उनके हाथसे सत्यके यामका भी भंग हुआ।

११६. असत्य कथाओंकी रचनामें बौद्धों और जैनोंमें मानों होड़ लग गई थी। उदाहरणार्थ, बौद्धोंने दशरथादि राजाओंको सोलह हजार स्त्रियाँ होनेका वर्णन किया है। पर जैन साधुओंने उन्हें भी मात कर दिया है। चक्रवर्ती राजाकी स्त्रियोंका जैन साधुओंने जो हिसाब दिया है वह इस प्रकार है—

> ऋतुकल्याणिकानां स्युः पुरंध्रीणां सहस्रकाः।
> द्वात्रिंशतश्च सुस्पर्शाः सर्वर्तुषु सुखावहाः॥ ५४४॥
> देशाधिपानां कन्या या उदूढाश्चक्रवर्तिना।
> तासामपि सहस्राणि द्वाविंशत्स्वर्वधूश्रियाम्॥ ५४५॥
> पुरन्ध्रीणां भवन्त्येवं चतुष्षष्टिः सहस्रकाः।
> भवन्ति द्विगुणास्ताभ्यः सरूपा वारयोषितः॥ ५४६॥
> एकं लक्षं द्विनवति-सहस्राभ्यधिकं ततः।
> अंतःपुरीणां निर्दिष्टं भोगार्थं चक्रवर्तिनः॥ ५४७॥

(चक्रवर्ती राजाको ऋतुओंमें सुखकारक और सुखस्पर्शवती बत्तीस हजार ऋतुकल्याणी स्त्रियाँ होती हैं। अन्य राजाओंकी कन्याओंसे

चक्रवर्ती राजा जो विवाह करता है, उनकी संख्या भी बत्तीस हजार होती है। वे देवांगनाओंके समान सुरूपसम्पन्न होती हैं। इस प्रकार कुल चौंसठ हजार स्त्रियाँ होती हैं। और इसकी दूनी अर्थात् एक लाख अट्ठाईस हजार रूपवती वारांगनाएँ होती हैं। इस प्रकार चक्रवर्तीके उपभोगके लिए उसके अन्तःपुरमें कुल एक लाख बानबे हजार स्त्रियाँ रहती हैं।)

११७. ये बातें साधारण कवियोंने नहीं, जैन साधुओंने लिखी हैं और वह किसलिए ? सिर्फ किसी राजाको प्रसन्न कर उससे अपने मन्दिरों तथा वसति-स्थानोंकी रक्षा करानेके लिए।

११८. इस प्रकार जैन और बौद्ध साधुओंने मन्दिर और विहारोंके रूपमें परिग्रहका आरम्भ करनेके बाद, इस तरहकी असत्य कथाएँ गढ़-गढ़कर राजाओं-को सन्तुष्ट रखनेका धन्धा शुरू कर दिया। परन्तु दलित आरामिक या भिक्षुओंके सेवक इन कथाओंपर विश्वास कर शान्त नहीं होते थे। तब राजाओं द्वारा उनकी हिंसा कराना आवश्यक हुआ। अर्थात् अपरिग्रह, सत्य और अहिंसा, इन तीनों यामोंका भंग हुआ। बाकी रहा, अस्तेय याम सो राजाओंके दबानेपर आरामिकों या अन्य प्रजाजनोंसे विहारों और मन्दिरोंको जो कर मिलता था, उसे अस्तेय किस प्रकार कह सकते हैं ? वह लोगोंसे बलात् ली हुई सम्पत्ति थी, स्वेच्छासे दिया गया दान नहीं।

११९. राजाओंकी सहायतासे किसानोंसे जबर्दस्ती पशु छीन लाकर ब्राह्मण उनका यज्ञ-यागोंमें वध किया करते थे और इसी कारण साधारण जनता श्रमण संस्कृतिकी ओर झुकी थी। पर जब ये ही श्रमण संघारामों और मन्दिरोंके कारण धनी हुए और राजाश्रय लेकर साधारण जनतासे संघारामों और मन्दिरोंके लिए कर वसूल करने लगे, तो ये भी यदि लोगोंको अप्रिय हुए तो इसमें आश्चर्य क्या ? अवश्य ही ये श्रमण समझते होंगे कि केवल यज्ञ-यागोंमें पशु-हत्या करना ही हिंसा है, इस प्रकार लोगोंसे जबर्दस्ती कर वसूल करना हिंसा नहीं ! इस तरह श्रमण संस्कृति निर्जीव होती गई और उसके स्थानपर कोई समुज्वल संस्कृति न आनेसे पौराणिक संस्कृतिको अवसर मिला और उसका उदय हुआ।[1]

१. श्री काल-लोक-प्रकाश, सर्ग ३१।

३—पौराणिक संस्कृति

पौराणिक संस्कृतिका उदय

१. बुद्धके समय यज्ञ-यागोंकी प्रथा बड़े आदमियोंमें तो प्रचलित थी पर वह सर्वसाधारणका धर्म नहीं था। देहातोंमें आजकल जैसे पथरियाऊ देवी और भैंसासुर मिलते हैं वैसे ही उस समय यक्षों और देवताओंकी भरमार थी। यक्षोंके लिए मन्दिर या चबूतरे थे, पर देवता वृक्षों, पर्वतों आदिमें वास किया करते थे। उन सबकी अनेक कथाएँ बौद्ध और जैन साहित्यमें मिलती हैं। जैसे-जैसे बौद्धधर्मका बल बढ़ता गया, वैसे-वैसे इन यक्षों और देवताओंमें परिवर्तन होकर ये बुद्धके अनुयायी बनते चले अथवा यह कहिए कि उन्हें बौद्ध भिक्षुओंने बुद्धका अनुयायी बना दिया।

२. उदाहरणार्थ, आलवीमें एक बली यक्षकी पूजा हुआ करती थी। उसके सम्बन्धमें बौद्ध भिक्षुओंने नीचे लिखे अनुसार कथा रची—"एक समय बुद्ध भगवान् आलवक यक्षके भवनमें (मन्दिरमें) आकर रहे। तब आलवक यक्षने उनसे कहा, 'श्रमण, यहाँसे बाहर जाओ।' बुद्ध भगवान् वहाँसे बाहर निकले। यक्ष बोला, 'श्रमण, अन्दर आओ।' बुद्ध भगवान् अन्दर आ गये। ऐसा तीन बार हुआ। पर चौथी बार जब आलवक यक्षने भगवान्‌से बाहर जानेके लिए कहा, तब भगवान्‌ने वैसा करना स्वीकार नहीं किया। भगवान्‌ने कहा 'मैं यहाँसे बाहर न जाऊँगा, तुम्हें जो कुछ करना हो करो।' यक्ष बोला—'मैं तुमसे कुछ प्रश्न पूछता हूँ। उनका यदि तुमने उत्तर न दिया, तो तुम्हें पागल बना दूँगा या तुम्हारा हृदय फाड़ दूँगा या तुम्हारा पैर पकड़कर गंगाके उसपार फेंक दूँगा।' भगवान्‌ने कहा, 'ऐसा करना संसारमें किसीके लिए सम्भव नहीं, तो भी प्रश्न पूछना हो तो पूछ लो।'

३. "यक्षने पूछा, 'मनुष्यका श्रेष्ठ धन कौन-सा? किसका अच्छा अभ्यास करना सुखकारक होता है? रसोंमें उत्तम रस कौन-सा? किस प्रकार रहना श्रेष्ठ जीवन कहा जा सकेगा?' भगवान्‌ने उत्तर दिया, 'श्रद्धा मनुष्यका श्रेष्ठ धन

है। धर्मका अच्छा अभ्यास सुखकारक होता है। रसोंमें उत्तम रस सत्य है। प्रज्ञापूर्वक जीनेको श्रेष्ठ जीवन कहते हैं।'

४. "यक्षने पूछा, 'पानीकी बाढ़ किस प्रकार तरी जाती है? समुद्र कैसे तरा जाता है? दुःखके पार किस प्रकार हुआ जाता है और परिशुद्ध किस प्रकार होता है?' भगवान्ने उत्तर दिया—'श्रद्धासे बाढ़ तरी जाती है। अप्रमादसे समुद्र तरा जाता है। उत्साहसे दुःखके पार हुआ जाता है और प्रज्ञासे परिशुद्ध होता है।'

५. "यक्ष—'प्रज्ञा किस प्रकार प्राप्त होती है? धन किस प्रकार प्राप्त होता है? कीर्ति किस प्रकार मिलती है? मित्र किस प्रकार मिलता है? क्या करनेसे इस लोकसे परलोक जानेपर शोक करनेकी नौबत नहीं आती?' भगवान्—'अरहन्तोंके निर्वाण-प्राप्तिके धर्मपर श्रद्धा रखते हुए शुश्रूषा करनेसे सावधान तथा बुद्धिवान् मनुष्यको प्रज्ञा प्राप्त होती है। उचित व्यवहार करनेवाला धुरंधर और उत्साही मनुष्य धन प्राप्त करता है; सत्यसे कीर्ति प्राप्त करता है और दानसे मित्र प्राप्त करता है। सत्य, दम, धृति और त्याग, ये चार गुण जिस श्रद्धालु गृहस्थके पास हैं, वह परलोकमें शोक नहीं करता। तुम दूसरे भी अनेक श्रमण ब्राह्मणोंसे पूछो कि सत्य, दम, त्याग और क्षमा इनसे भी बढ़कर कोई चीज है?'

६. "यक्ष—'अब मैं दूसरे श्रमण-ब्राह्मणोंसे क्यों पूछूँ? आज मुझे पार-लौकिक अर्थ मालूम हुआ। सचमुच मेरे लाभके लिए बुद्ध आलवीमें आये। किसे दान देना महत्फलदायक होता है, यह मुझे आज मालूम हुआ। अब मैं बुद्ध और धर्मकी सुधर्मताको नमन करते हुए ग्राम-ग्राम और नगर-नगर घूमता रहूँगा।"[1]

७. यहाँ आलवक यक्षको बौद्ध बनानेका प्रयत्न स्पष्ट दिखाई देता है। इसी प्रकार सातागिरि और हेमवत यक्षोंकी भी कथा इसी सुत्त निपातमें आई है। संयुत्त निकायके यक्ख संयुत्तमें अनेक यक्षोंकी कथाएँ हैं। देवता और देवपुत्त संयुत्तमें अनेक देवताओं और देवपुत्रोंकी कथाएँ हैं। इसी प्रकार वन संयुत्तमें वनदेवताओंकी कथाएँ हैं। ये प्रायः बड़ी रोचक पर पुराणमय हैं।

---

१. आलवक सुत्त, सुत्तनिपात। यही सुत्त यक्ख संयुत्तमें भी मिलता है।

८. यह कल्पना प्रचलित थी कि चार दिशाओंमें चार महाराजा वास करते हैं और उनके अधीन यक्षादि सब देवगण रहते हैं। इन चार महाराजाओंका वर्णन दीघनिकायके आटानाटिय और महासमय सुत्तमें आया है। इनमें से आटानाटिय सुत्तका सारांश यहाँ दिया जाता है—

९. "एक समय भगवान् राजगृहमें गृध्रकूट पर्वतपर रहते थे। उस समय चार महाराज अपनी-अपनी बड़ी सेनाएँ लेकर उनके दर्शनके लिए आये और भगवान्को नमस्कार कर एक ओर बैठ गये। तब वेस्सवण (वैश्रवण) महाराजने भगवान्से कहा—'उदार, मध्यम और हीन यक्षोंसे कुछ यक्ष भगवान्के भक्त हैं और कुछ अभक्त भी हैं। क्योंकि प्राणातिपात, अदत्तादान, काममिथ्याचार, मृषावाद, और सुरा मैरेयादि मादक पदार्थोंसे विरत होनेका भगवान् धर्मोपदेश देते हैं, पर जो यक्ष इन बातोंसे विरत नहीं हुए हैं उन्हें बुद्धका उपदेश अप्रिय लगता है। भगवान्के शिष्य अरण्यमें एकान्तवास करते हैं इसलिए वहाँ रहनेवाले जो यक्ष भगवान्के भक्त न हों उनका मन फेरनेके लिए यह आटानाटिय रक्षा भगवान् स्वीकार करें। वह भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक और उपासिकाओंके रक्षण और सुख-निवासके लिए उपयोगी होगी।'

१०. "भगवान्ने वैश्रवणकी प्रार्थना मौन रहकर स्वीकार की। तब वैश्रवणने आटानाटिय रक्षा कही—विपस्सीको नमस्कार। सिखीको नमस्कार। वेस्सभूको नमस्कार। ककुसंधको नमस्कार। कोनागमनको नमस्कार। और सक्य-पुत्तको नमस्कार। पूर्व दिशाका पालक महाराज धृतराष्ट्र है; वह गंधर्वोंका अधिपति है। उसे बहुत पुत्र हैं। वे भी बुद्धको देखकर दूरसे नमस्कार करते हैं। दक्षिण दिशाका पालक महाराज विरूढ़ है। वह कुंभण्डोंका अधिपति है। उसे बहुत पुत्र हैं। वे भी बुद्धको देखकर दूरसे नमस्कार करते हैं। पश्चिम दिशाका पालक महाराज विरूपाक्ष है। यह नागोंका अधिपति है। उसे भी बहुत पुत्र हैं; वे भी बुद्धको देखकर दूरसे नमस्कार करते हैं। उत्तर दिशाका पालक महाराज कुबेर (कुबेर) है, वह यक्षोंका अधिपति है। उसे भी बहुत

१ बुद्धघोषाचार्यका यह मत जान पड़ता है कि अटानाट नामका यक्ष-नगर था और यह रक्षा यक्षोंने वहाँ एकत्र होकर तैयार की थी।

पुत्र हैं। वे भी बुद्धको देखकर दूरसे नमस्कार करते हैं। हे मारिष, यही वह आटानाटिय रक्षा है। इसका भलीभाँति संपादन करनेसे यक्ष, गंधर्व, कुंभण्ड या नाग इनमेंसे कोई भी बाधा न करेगा।

११. "पर यह मारिष, कुछ अमनुष्य (यक्षादि) बड़े विकट विद्रोही हैं। वे महाराजोंकी आज्ञाका पालन नहीं करते, उनमेंसे कोई यदि दुष्टतासे भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक या उपासिकाका पीछा करे, तो यक्षोंके महासेनापतियोंका आह्वान करके कहे कि यह यक्ष पीछा करता है, अन्दर आना चाहता है, उपद्रव करता है, त्रास देता है, छोड़ता नहीं। वे यक्षोंके महासेनापति कौनसे ?

इन्दो सोमो वरुणो च भारद्वाजो पजापति।
चन्दनो कामसेट्ठो च किन्नूघण्टु निघण्टु च ॥
पमादो ओपमञ्ञो च देवसूतो च मातलि।
चित्तसेनो च गन्धब्बो नलो राजा जनेसभो ॥
सातागिरि हेमवतो पुण्णको करतियो गुलो।
शिवको मुचलिन्दो च वेस्समित्तो युगन्धरो ॥
गोपालो सुप्पगेधो च हिरि नेत्ति च नन्दियो।
पञ्चालचदो आलवको पज्जुण्णो सुमुखो दधिमुखो ॥
मणि मानिचरो दीघो अथो सेरीसको सह ॥

१२. "यह रक्षा बताकर उन चार महाराजोंने भगवान्को नमस्कार कर प्रदक्षिणा की और वहीं अन्तर्धान हुए। उस रातके बाद भगवान्ने यह घटना भिक्षुओंको बताई और यह आटानाटिय रक्षा धारण करनेका उपदेश किया। भिक्षुओंने भगवान्के भाषणका अभिनन्दन किया।"

१३. यक्षादिके सम्बन्धमें जो कथाएँ त्रिपिटक साहित्यमें मिलती हैं उनका दिग्दर्शन करना भी सम्भव नहीं। कारण वह एक बड़ा भारी ग्रन्थ हो जायगा। बुद्धके शिष्योंका रुख समझनेके लिए उपर्युक्त दो उद्धरण पर्याप्त हैं। ईसाई या मुसलमान धर्मप्रचारकोंने जिस प्रकार दूसरोंके देवी-देवताओंका नाश किया उस प्रकार बुद्धके शिष्योंने नहीं किया। उनका प्रयत्न यह रहा कि यदि देवता आलवक यक्षकी तरह हिंसक हों तो उन्हें अहिंसक और बुद्धभक्त बनावें और तिब्बत, ब्रह्मदेश, स्याम आदि देशोंमें जहाँ बौद्धधर्मका अव्याहत प्रचार हुआ

वहाँ यह प्रयत्न अच्छी तरह सफल भी हुआ। पर हिन्दुस्तानमें बौद्धधर्मके विरु वैदिक धर्म वर्तमान था और वह हिंसा धर्मको छोड़नेके लिए तैयार नहीं था फलतः इस देशमें हिंसक और अहिंसक दोनों प्रकारके देवता रह गये और इ देवताओंकी पूजासे ही पौराणिक संस्कृतिका उदय हुआ।

इन्द्र

१४. ब्राह्मणोंका इन्द्र हिंसक था यह बतानेकी आवश्यकता नहीं। यज्ञ-यागों उसके नामसे बलिदान होता था। इस कारण उसकी हिंसकता बुद्धकालके बा भी शेष रह गई थी। फिर भी बुद्धके शिष्योंने उसे अहिंसक बना ही दिया।

१५. इन्द्रके पुनर्जन्मकी कथा कुलावक जातक (नं० ३१) में आई है "पूर्वजन्ममें मगध देशके मचल ग्रामके एक बड़े परिवारमें उसका जन्म हुअ था। उसे मघकुमार या मघमाणव कहते थे। उस गाँवमें तीस परिवार थे। ए दिन ग्राम-कृत्यके लिए सब लोगोंके एकत्र होनेपर मघने अपना स्थान स्वच किया और उसे दूसरेने ले लिया। इस प्रकार उसने सभी स्थान स्वच्छ किया लोग खुले स्थानमें एकत्र होते थे, इसलिए उसने मंडप बनाया और कुछ का बाद वह मंडप हटाकर वहाँ एक बड़ी ग्रामशाला बनाई और उसमें आसनों त पानीका प्रबन्ध किया। इस कार्यसे मघने उन तीसों परिवारोंका मन आकर्षि कर लिया।

१६. "वे सब खेतोंमें जानेके पहले एकत्र होकर ग्रामके मार्गोंकी मरम्म करते, पुल बाँधते, तालाब खोदते और धर्मशाला बनाते। इस प्रकार वे सुशी बने, पर गाँवके पटेलको (ग्रामभोजकको) यह अच्छा न लगा, कारण पहले जब शराब पीकर आपसमें झगड़ा-बखेड़ा करते थे तब दंडके रूपमें उसे पर्याप्त आ दनी हो जाया करती थी, जो अब बन्द हो गई। उसने उनके विरुद्ध राजा यहाँ शिकायत की कि ये चोर लोग बड़ा विद्रोह कर रहे हैं। राजाने बिना विच किये तुरत उन्हें पकड़ लानेकी आज्ञा दी और हाथीके पैरके नीचे कुचलवाने आदेश दे दिया। वे बाँधकर राजप्रासादके हातेमें पृथ्वीपर लिटाये गये। बोधिसत्वने अपने सहायकोंसे कहा, 'तुम अपने शीलका चिन्तन करो और इ शिकायत करनेवालेपर, राजापर, हाथीपर, और अपने शरीरपर समान मैत्री भावना रखो'। उन्होंने वैसा ही किया।

१७. "उन्हें कुचलनेके लिए हाथी लाया गया। महावतने हाथीको आगे बढ़ाया पर वह उनके ऊपरसे नहीं गया और सहसा जोरसे चिल्लाकर पीछेकी ओर भागा। दूसरा हाथी लाया गया, तीसरा हाथी लाया गया पर इन्होंने भी पहले हाथीका ही अनुकरण किया। मघके लोगोंके पास हाथीको भगानेकी कोई ओषधि होगी ऐसा अनुमान कर उनकी तलाशी ली गई पर उनके पास कुछ न मिला। तब राजाके आदमियोंने प्रश्न किया—'क्या तुम लोगोंके पास कोई मन्त्र है?' मघके 'हाँ' कहने पर वे सब राजाके सामने लाये गये। तब राजाने कहा—'अपना मन्त्र हमें बताओ?' मघने कहा—'महाराज, हमारे पास कोई विशेष मन्त्र नहीं है पर हम तीस आदमी प्राणघात नहीं करते, चोरी नहीं करते, व्यभिचार नहीं करते, झूठ नहीं बोलते और शराब नहीं पीते। हम मैत्रीकी भावना रखते हैं, दान देते हैं, सड़कोंकी मरम्मत करते हैं, तालाब खोदते हैं और धर्मशाला बनाते हैं। यही हमारा मन्त्र, यही हमारी रक्षा और यही हमारी सम्पत्ति है।' यह सुनकर राजाने पटेलको निकाल दिया और गाँव और हाथी सहित उस गाँवके सब अधिकार, उन्हें दे डाले।

१८. "इस प्रकार मघने उस जन्ममें अनेक पुण्यकार्य किये। उसने ये सात व्रत-नियम स्वीकार किये थे—

(१) आमरण मैं माता-पिताका पोषण करूँगा।

(२) आमरण परिवारके वृद्धजनोंका सम्मान करूँगा।

(३) आमरण मृदुभाषी रहूँगा।

(४) आमरण चुगलखोरी न करूँगा।

(५) आमरण मत्सर किये बिना गृहस्थी चलाऊँगा; उदारतापूर्वक दान-धर्म करनेवाला बनूँगा।

(६) आमरण सत्य बोलूँगा।

(७) आमरण क्रोधरहित रहूँगा और यदि किसी समय क्रोध आया तो तत्काल उसे दबा दूँगा।'[1]

---

१. ये नियम सक्क संयुत्तके तीन सुत्तोंमें मिलते हैं। उनकी गाथाएँ (श्लोक) कुलावक जातकमें ज्योंकी त्यों ले ली गई हैं। पर नियमोंका क्रम बदल दिया है। यहाँ वे सुत्तोंके अनुसार दिये गये हैं।

१९. "इस प्रकार पुण्यकार्य कर और वृत्त नियमोंका पालन कर म
मृत्युके बाद देवलोकमें जन्म लिया और देवोंका इन्द्र (राजा) हुआ। पूर्व ज
नामसे उसे मघवान् कहते और देवलोकमें वह शक्र कहा जाता। एक
असुरोंने उसपर आक्रमण किया। यह खबर सुनकर शक्र अपने वैजयन्त र
सवार हो असुरोंके साथ युद्ध करनेके लिए दक्षिण समुद्रकी ओरसे आगे ब
वहाँ असुरोंने उसे पराजित किया और इन्द्र भाग खड़ा हुआ। उसका
वेगसे जा रहा था जिससे जंगलके सेमरके पेड़ टूट-टूटकर समुद्रमें गिरने लगे
उनमेंके गरुड़ पक्षियोंके घोंसले समुद्रमें गिरे तथा गरुड़ोंके बच्चे चिल्लाने ल
तब शक्रने मातलिसे पूछा—'यह अत्यन्त करुण शब्द किसका है।' मात
उत्तर दिया—'देव, अपने रथके वेगसे सेमरके पेड़ टूट-टूटकर समुद्रमें गि
उसमेंके गरुड़ पक्षियोंके बच्चे बराबर चिल्ला रहे हैं।' शक्रने कहा, 'हे मात
इस सेमरके जंगलसे रथ न ले चलो। असुर हमारे प्राण ले लें, तो भी
चिन्ता नहीं, पर इन पक्षियोंके घोंसले नष्ट न होने दो।'

२०. "यह सुनकर मातलि सारथीने एकदम रथ घुमा दिया। यह दे
असुर समझे कि दूसरे चक्रवालसे अनेक शक्र इस शक्रकी सहायताके लिए
होंगे। ऐसा समझकर वे भाग निकले और अपने असुर भवनमें घुस गये।
शक्रने दो अयोध्य नगरोंके बीच[1] उरग करोटि पयस्स हारी और मदनयुत
महन्त, इस प्रकार पाँच समुदायोंको पाँच स्थानोंपर रक्षा करनेके लिए नियुक्त
दिया और वह दिव्य सम्पत्तिका उपभोग करने लगा।"

२१. सक्क संयुत्तमें शक्रकी दूसरी एक मनोरंजक कथा है। वह इस प्र
है—"एक बार शक्रका वेपचित्ति असुरेन्द्रके साथ युद्ध हुआ। उस युद्धमें
चित्तिने कहा, 'अब हम सुभाषितोंकी लड़ाई लड़ें।' शक्रने इसे स्वीकार कि
किसका सुभाषित अच्छा है, इसका निश्चय करनेके लिए देव और असुरोंने
परिषद् नियुक्त की। तब वेपचित्तिने कहा, 'हे देवेन्द्र, अपना सुभाषित कह
शक्र बोला—'आप पूर्वदेव हैं इसलिए, हे वेपचित्ति, पहली गाथा आप ही क

२२. "वेपचित्तिने कहा—'मूर्खोंका निषेध करनेवाला कोई न हो

---

१. दे० वि १—५६।

वे अधिक ही फूल जाते हैं। इसलिए बुद्धिमान् दंडनीतिसे मूर्ख मनुष्यका निषेध करे।' इसे सुनकर असुरोंने वेपचित्तिका अभिनंदन दिया। देव चुप हो रहे।

२३. "इसपर शक्र बोला, 'मूर्ख मनुष्यके क्रुद्ध होनेपर बुद्धिमान् पुरुष सावधानतापूर्वक शांति रखे, यही मूर्ख मनुष्यका निषेध है।' शक्रके इस सुभाषितका देवोंने अभिनदन किया। असुर चुप रहे।

२४. "तब वेपचित्तिने कहा—'मूर्ख मनुष्य समझता है कि यह भयके कारण क्षमा कर रहा है और जिस प्रकार भागते हुए मनुष्यके पीछे बैल लग जाता है उसी प्रकार यह दुष्ट बुद्धिमान्के पीछे पड़ जाता है। हे वासव, क्षमामें मुझे यही दोष दिखाई देता है।' यह सुनकर असुरोंने वेपचित्तिका अभिनंदन किया, पर देव चुप रहे।

२५. "इसपर शक्र बोला, 'मूर्ख भले ही समझे या न समझे कि वह मुझे भयके कारण क्षमा कर रहा है पर पुरुषार्थमें सदर्थ श्रेष्ठ है और क्षमासे श्रेष्ठ दूसरा सदर्थ नहीं। जो स्वयं बलवान् होते हुए दुर्बलको क्षमा करता है वही परम क्षमावान् है। दुर्बल मनुष्य तो सदा ही क्षमा करता है। मूर्खताका बल बल नहीं, पर धर्मके अनुसार आचरण करनेवालेका जो बल होता है उसके विरुद्ध बोलनेवाला कोई न मिलेगा। क्रोध करनेवाले मनुष्यपर जो क्रोध करता है उसका उसमें हित नहीं। पर क्रोध करनेवालेपर जो क्रोध नहीं करता, वही दुर्जय संग्राममें विजय प्राप्त करता है। दूसरेके क्रोध करनेपर जो स्वयं शान्तिसे रहता है वह अपना और दूसरेका कल्याण करता है। अपने और दूसरेके रोगको अच्छा करनेवाले ऐसे मनुष्यको सद्धर्म न जाननेवाले साधारण लोग पागल समझते हैं।" यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि परिषद्ने शक्रके पक्षमें निर्णय दिया। क्योंकि वेपचित्ति असुरेन्द्रका मार्ग शस्त्र तथा दण्डका है और इन्द्रका मार्ग अशस्त्र तथा अदण्डका है। इसलिए इन्द्र ही सुभाषितोंमें विजयी हुआ।

२६. बौद्ध इन्द्रका स्वभाव समझनेके लिए ये उदाहरण पर्याप्त हैं। जो वैदिक इन्द्र अपने ही पिताकी हत्या करता है, नगरके-नगर ध्वस्त कर डालता है, ब्राह्मण और यतियोंको मार डालता है, सैकड़ों भैंस खाता है और उसके

बाद सरोवरके सरोवर सोमरस गटागट पी जाता है, उसे ही बौद्ध श्रमणों किस प्रकार अहिंसक बनाया, यह इन उदाहरणोंसे स्पष्ट हो जायगा। इ श्रमणोंको झूठा साबित करना ब्राह्मणोंके लिए कुछ भी कठिन न होता। वेदों चार-पाँच उद्धरणोंसे श्रमणोंका झूठापन तत्काल सिद्ध किया जा सकता था पर ब्राह्मणोंने वह क्यों न किया होगा?

२७. एक तो ब्राह्मणोंमें ही इन्द्रका विशेष महत्त्व नहीं रह गया था इन्द्रका साम्राज्य कभीका नामशेष हो चुका था और बुद्धके समय जो क्षत्रिय थे उनमेंसे किसी महाराजका कुल-देव इन्द्र नहीं था। यज्ञ-यागों इन्द्रकी ऋचाएँ पढ़ी जाया करती थीं पर इनका अर्थ बहुत थोड़े लो समझते थे। ऐसे समय वैदिक इन्द्रका पक्ष लेनेमें ब्राह्मणोंका कं लाभ नहीं था। दूसरे, यह सिद्ध करनेसे कि इन्द्र क्रूर था, हिंसक था, आ बातोंसे लोगोंमें इन्द्रके प्रति जो थोड़ी-बहुत श्रद्धा रह गई थी वह भी न हो गई होती। इसलिए ब्राह्मणोंने इन्द्रको चाहे जैसा बना लेनेकी स्वतंत्र श्रमणोंको दे दी, पर उसका परिणाम यह हुआ कि इन्द्रके प्रति सर्वसाधारण बिलकुल श्रद्धा नहीं रह गई और पौराणिकोंने उसे बिलकुल निम्नपद पहुँचा दिया। 'वह अहिल्याका जार, अति व्यभिचार करनेसे उसका वृष गलकर गिर पड़ा और देवोंने उसे बकरेका वृषण लगागा।' ऐसी कथ महाभारतमें मिलती है[1]।

ब्रह्मदेव

२८. इस प्रकार इन्द्र पीछे तो पड़ गया। पर बुद्धकालमें ब्रह्मा अ आया। ऋग्वेदमें ब्रह्मका अर्थ है प्रार्थनाका मन्त्र, और जो उसे गावे व ब्रह्मा। होते-होते यज्ञके अध्यक्षको ब्रह्मा कहनेकी प्रथा आरम्भ हुई। ('ए विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चार्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवंमेव ब्रह्मा कुर्वीत।' छान्दोग्य उ० ४।१७।१०।) इन्द्रका साम्राज्य नष्ट होनेपर राजाओं

१. इन्द्रो मुष्कवियोगं मेषवृषणत्वं चावाप ॥ २३ ॥ कुंभकोण, शांति पर्व अ० ३५१।

उसका महत्त्व न रह जानेके कारण ब्राह्मणोंने इस ब्रह्माको ऊपरकी सीढ़ीपर चढ़ाते-चढ़ाते संसारका कर्ता बना दिया। (ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।'—मुण्डक उ० १।१) पर इस कल्पनाको किसी भी महाराजका समर्थन न मिलनेके कारण ब्रह्माका यह अधिकार चिरकाल न रह सका। बौद्ध श्रमणोंने तो उसका मजाक ही उड़ाया। उसके सम्बन्धमें बौद्ध साहित्यमें बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं। उनमेंसे कुछ यहाँ देना अप्रासंगिक न होगा।

२९. "एक बार एक भिक्षुके मनमें यह प्रश्न उठा कि पृथ्वी, आप, तेज और वायु ये महाभूत कहाँ बिला-जाते हैं। उसे इस प्रश्नका उत्तर न सूझा। तब वह चातुर्महाराजिक देवोंके पास गया। उन्हें भी इस प्रश्नका उत्तर नहीं मालूम था। उन्होंने उस भिक्षुको चार महाराजोंके पास भेजा। चार महाराज भी उसके प्रश्नका उत्तर न दे सके। उन्होंने उसे तावत्त्रिंशत् देवोंके पास, इन देवोंने इन्द्रके पास, इन्द्रने याम देवोंके पास, यामोंने अपने अध्यक्ष सुयामके पास, उसने तुसित देवोंके पास, तुसित देवोंने अपने अध्यक्ष संतुसितके पास, उसने निर्माण-रति देवोंके पास, उन्होंने अपने अध्यक्ष सुनिर्मितके पास और उसने परनिर्मित वशवर्ती देवोंके पास, उन्होंने अपने अध्यक्षके पास, और उस अध्यक्षने ब्रह्मकायिक देवोंके पास भेजा।

३०. "उन्हें भी इस प्रश्नका उत्तर मालूम नहीं था। उन्होंने कहा—'हम तुम्हारे प्रश्नका उत्तर नहीं दे सकते पर हमारा महा-ब्रह्मा इस प्रश्नका उत्तर दे सकेगा।' भिक्षुने पूजा—'पर वह इस समय है कहाँ?' ब्रह्मकायिकोंने उत्तर दिया, 'यह हमें मालूम नहीं। पर ऐसे चिह्न दिखाई देते हैं कि ब्रह्मा यहाँ प्रकट होगा, कारण आलोक और अवभास दिखाई दे रहा है।'

३१. "इतनेमें ब्रह्मा वहाँ प्रकट हुआ। तब उस भिक्षुने यह प्रश्न उससे पूछा। इसपर ब्रह्माने कहा—'मैं ब्रह्मा हूँ; अभिभू, अनभिभूत, सर्वदर्शी, वशवर्ती, ईश्वर, कर्त्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, सजिता, वशी और भूत भविष्य प्राणियोंका पिता।' भिक्षुने कहा—'पर यह पूछनेके लिए मैं नहीं आया हूँ। मेरा प्रश्न यह है कि पृथ्वी, आप, तेज और वायु ये चार महाभूत पूर्ण रूपसे कहाँ विलीन होते हैं।'

३२. "महाब्रह्माने भाषणकी पुनरुक्ति की, पर उससे भिक्षुका समाधान न

हुआ। उसने पुनः वही प्रश्न किया। ऐसा तीन बार हुआ। चौथी बार जब भिक्षुने वही प्रश्न पूछा तब ब्रह्मदेव उस भिक्षुको हाथ पकड़कर एक ओर ले गय और उसने कहा, 'हे भिक्षु, ये जो ब्रह्मकायिक देव हैं वे समझते हैं कि ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मुझे अज्ञात हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे मैंने देखा न हो इसलिए उनके सामने मैं तुमसे यह कह नहीं सका कि तुम्हारे इस प्रश्नका उत्त मुझे मालूम नहीं। भगवान्को छोड़कर तुम मेरे पास आये यह तुम्हारा अपराध है, यह तुम्हारा अकृत्य है। अब तुम भगवान्के पास जाओ और उनसे यह प्रश्न पूछो तथा वे जो उत्तर दें उसे ठीक समझो।"[1]

३३. यह हुई महाब्रह्माकी बात। पर बौद्ध श्रमणोंकी एक ब्रह्मदेवसे तृप्ति नहीं हुई। उन्होंने अनेक ब्रह्मदेव निर्माण किये। उनमेंसे सहंपति ब्रह्मा बुद्धका विशेष भक्त जान पड़ता है। "बुद्धने उरुवेलामें जब प्रथम धर्मको जाना तब उनके मनमें यह विचार आया कि 'इस धर्मको मैंने बड़े परिश्रमसे जाना है। लोगोंको उसका उपदेश देना उचित नहीं। कारण रागद्वेषसे बुद्ध लोग इस धर्मको सुगमतासे समझ नहीं सकेंगे। प्रवाहके विपरीत जानेवाले, सूक्ष्म, गम्भीर, दुर्दर्श तथा अणुमय ऐसे इस धर्मको अन्धकारसे घिरे लोभी समझ न सकेंगे।

३४. बुद्धका यह विचार सहंपति ब्रह्मा जान गया। उसने मनमें कहा, 'तथागत अर्हत सम्यक् संबुद्ध अधिक झंझटमें न पड़नेका विचार करते हैं। धर्मोपदेश करनेका विचार नहीं करते। हाय। हाय! इस लोकका विनाश होगा!' ऐसा सोचकर ब्रह्मा सहसा बुद्धके सामने प्रकट हुआ और बुद्धको हाथ जोड़कर बोला 'भगवन्! आप धर्मोपदेश करें। संसारमें अल्परजस्क प्राणी हैं। धर्मको न जाननेके कारण उनकी हानि हो रही है। वे आपका धर्म समझेंगे। हे भगवन् इस मगध देशमें मलिन मनुष्यों द्वारा उपदिष्ट धर्म माना जा रहा है। इन लोगोंके लिए आप यह अमृत-द्वार मुक्त करें। निर्मल बुद्ध द्वारा ज्ञात यह धर्म लोगोंको जानने दें...।' ब्रह्मदेवकी प्रार्थना सुनकर बुद्धने, प्राणियोंपर करुणा होनेके कारण धर्मोपदेश करनेका निश्चय किया।"[2]

---

१. दीघनिकाय, केवट्टसुत्त।

२. विनयमहावग्ग, महाक्खन्धक, ब्रह्मयाचनकथा, मज्झिमनिकाय, अरियपरियेसनसुत्त।

३५. जान पड़ता है कि बुद्धके समय ब्राह्मणोंमें इसपर बड़ा मत-भेद था कि ब्रह्म-सायुज्यता किस प्रकार प्राप्त की जाय। उसका कुछ वर्णन दीघनिकायके तेविज्ज सुत्तमें आया है, जो इस प्रकार है—"एक बार भगवान् कोसलदेशमें यात्रा करते हुए ब्राह्मणोंके मनसाकट नामके ग्राममें आये और वहाँ ग्रामके उत्तर अचिरवती नदीके किनारे आम्रवनमें ठहरे। उस समय चंकी, तारुक्ख, पोक्खर-साति, जानुस्सोणि तोदेय्य आदि प्रसिद्ध ब्राह्मण मनसाकटमें रहते थे। उनमेंसे वासिष्ठ और भारद्वाज नामके तो तरुण ब्राह्मणोंमें एक विवाद उपस्थित हुआ। वासिष्ठ कहता था कि पोक्खरसाति ब्राह्मणका बताया ब्रह्मसायुज्यताका मार्ग ठीक है। भारद्वाजका कहना था कि तारुक्ख ब्राह्मणका बताया मार्ग ठीक है। वे एक दूसरेका समाधान नहीं कर सके। तब वासिष्ठने भारद्वाजसे कहा, आजकल यह श्रमण गोतम शाक्यपुत्र आम्रवनमें रहता है। चलो, वहाँ चलकर उससे हम यह प्रश्न पूछें।

३६. "वे दोनों बुद्धके पास आये और उनसे यह प्रश्न किया। इसपर भगवान् ने पूछा, 'तुम अलग अलग मार्ग मानते हो। उसमें तुम्हारा मतभेद क्या है?' वासिष्ठने कहा, 'अध्वर्य ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छांदोग्य ब्राह्मण, बह्वृच्च ब्राह्मण ब्रह्मसायुज्यताका भिन्न-भिन्न मार्ग बताते हैं, फिर भी वे सब मार्ग ब्रह्म-सायुज्यताको जाते हैं। जिस प्रकार एक ही ग्राम या निगमको भिन्न-भिन्न मार्ग जाते हैं उसी प्रकार विभिन्न ब्राह्मणों द्वारा उपदिष्ट ये मार्ग ब्रह्मसायुज्यताको ही जाते हैं।' भगवान्ने कहा, 'पर, हे वासिष्ठ, क्या किसी ब्राह्मणने अथवा उनके आचार्य-प्राचार्योंमेंसे किसीने अथवा वामदेव विश्वामित्रादि मंत्रद्रष्टा ऋषियोंने ब्रह्मदेवको देखा है?'

३७. "वासिष्ठने उत्तर दिया, 'नहीं।' इसपर भगवान्ने कहा, 'ऐसा होते हुए त्रैविद्य ब्राह्मण ब्रह्मसायुज्यताका मार्ग दिखावें, यह क्या विचित्र नहीं है?' वासिष्ठने उत्तर दिया—'हाँ, गोतम।' भगवान्ने कहा—'फिर यह कहिए कि यह ब्राह्मणोंकी अंधपरंपरा है। हे वासिष्ठ, चंद्र और सूर्यको ब्राह्मण देखते हैं, उनकी प्रार्थना करते हैं, स्तुति करते हैं और उन्हें नमस्कार करते हैं। ऐसा होते हुए उनकी सायुज्यताका मार्ग क्या वे दिखा सकेंगे?' वासिष्ठने उत्तर दिया 'नहीं गोतम।'

३८. "भगवान्‌ने कहा, 'फिर जिस ब्रह्माको वे देखते नहीं उसका सायुज्यताका मार्ग वे दिखा सकें, यह संभव नहीं। उदाहरणार्थ, कोई मनुष्य यदि कहे कि इस प्रदेशमें जो अत्यन्त सुन्दर तरुणी है उसको मैं प्रेम करता हूँ, तो लोग उससे पूछेंगे कि ऐसी सुन्दर तरुणी आखिर है किस जातिकी, उसका नाम क्या है, गोत्र क्या है, वह ऊँची है या नाटी, उसकी कान्ति किस प्रकारकी है और उसका पता क्या है? ऐसा पूछनेपर यदि वह आदमी कहे कि यह सब मुझे नहीं मालूम, तो क्या उस आदमीकी बात व्यर्थ न सिद्ध होगी? कोई मनुष्य चौराहेपर सीढ़ी बनाना आरम्भ करे तो लोग उससे पूछेंगे कि यह सीढ़ी तुम किस प्रासाद-पर चढ़नेके लिए बना रहे हो? इसपर यदि वह कहे कि मुझे वह प्रासाद मालूम नहीं, तो क्या उस आदमीकी बात व्यर्थ न सिद्ध होगी? उसी प्रकार जिन त्रैविद्य ब्राह्मणोंको ब्रह्मदेवकी कोई जानकारी नहीं उनका ब्रह्मसायुज्यताका मार्ग बताना क्या व्यर्थ नहीं सिद्ध होता?' वासिष्ठने उत्तर दिया, 'हाँ गोतम।'

३९. "भगवान्‌ने कहा—'हे वासिष्ठ, यह अचिरवती नदी पानीसे लबालब भरी है। कोई मनुष्य इस तीरपर आकर यदि उस तीरपर जानेके उद्देश्यसे प्रार्थना करे कि हे परतीर, मेरी ओर आओ, हे परतीर, मेरी ओर आओ, तो क्या उसकी प्रार्थनासे (सामने दिखाई देनेवाला) परतीर उसकी ओर आवेगा?' वासिष्ठने उत्तर दिया, 'नहीं गोतम।' भगवान्‌ने कहा, 'इसी प्रकार, हे वासिष्ठ, ब्रह्मदेवके उपयुक्त गुणोंको स्वीकार न कर ब्रह्मदेवको शोभा न देनेवाले गुणोंको स्वीकार कर त्रैविद्य ब्राह्मण इन्द्रकी प्रार्थना करते हैं, वरुणकी प्रार्थना करते हैं, प्रजापतिकी प्रार्थना करते हैं? पर उनकी इस प्रार्थनासे वे ब्रह्मसायुज्यताको प्राप्त हों, यह संभव नहीं।'

४०. "पुनः भगवान् बोले, 'हे वासिष्ठ, कोई मनुष्य परतीरपर जानेके उद्देश्यसे इस तीरपर आवे और यहाँ उसे यदि दृढ़ताके साथ बाँध रखा जाय तो क्या वह परतीर जा सकेगा?' वासिष्ठने उत्तर दिया—'नहीं गोतम।' भगवान्‌ने कहा—'उसी प्रकार, हे वासिष्ठ, पंचेन्द्रियोंके पाँच विषय इहलोकके दृढ़ बन्धन हैं। इन बन्धनोंसे त्रैविद्य ब्राह्मण बँधे हुए हैं (अर्थात् वे पांच विषयोंका खूब उपभोग कर रहे हैं), ऐसी अवस्थामें वे ब्रह्मसायुज्यताको प्राप्त हों, यह संभव नहीं।'

४१. "पुनः भगवान् बोले, 'हे वासिष्ठ, दूसरा कोई मनुष्य यदि परतीरपर जानेके उद्देश्यसे अचिरवतीके इस तीरपर आवे और सिरपरसे ओढ़ना लेकर यहीं सो रहे, तो क्या वह परतीर जा सकेगा ?' वासिष्ठने उत्तर दिया, 'नहीं, गोतम ।' भगवान्ने कहा, 'उसी प्रकार, हे वासिष्ठ, कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यान-मिद्ध (आलस), औद्धत्य (भ्रान्तचित्तता) और विचिकित्सा (शंका) इन बुद्धिके पाँच आवरणोंसे आवृत्त त्रैविद्य ब्राह्मण ब्रह्मसायुज्यताको प्राप्त हों, यह सम्भव नहीं ।'

४२. "भगवान् फिर बोले, 'हे वासिष्ठ, अब मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि ब्रह्मा सपरिग्रह है कि अपरिग्रह ? सवैरचित्त है कि अवैरचित्त ? सव्यापादचित्त है कि अव्यापादचित्त ? संल्किष्टचित्त है कि असंक्लिष्टचित्त ? वशवर्ती है कि अवश-वर्ती ?' वासिष्ठने उत्तर दिया, 'हे गोतम, ब्रह्मा अपरिग्रह, अवैरचित्त, अव्यापाद-चित्त, असंक्लिष्टचित्त और वशवर्ती है ।' भगवान्ने पूछा, 'हे वासिष्ठ, त्रैविद्य ब्राह्मण सपरिग्रह हैं कि अपरिग्रह ? सवैरचित्त हैं कि अवैरचित्त, सव्यापादचित्त हैं कि अव्यापादचित्त ? संक्लिष्टचित्त हैं कि असंक्लिष्टचित्त ? वशवर्ती हैं कि अवशवर्ती ?' वासिष्ठने उत्तर दिया, 'हे गोतम, त्रैविद्य ब्राह्मण सपरिग्रह, सवैर-चित्त, सव्यापादचित्त, संक्लिष्टचित्त और अवशवर्ती है ।' भगवान्ने कहा, 'तब फिर, हे वासिष्ठ, ऐसे ब्राह्मण अपरिग्रह, अवैरचित्त, अव्यापादचित्त, असंक्लिष्ट-चित्त तथा वशवर्ती ब्रह्माकी सायुज्यताको प्राप्त हों, यह सम्भव नहीं ।"

४३. इन्द्रके बाद ब्राह्मणोंने ब्रह्मदेवको ऊँचे पदपर पहुँचाया, पर वह उलटा उनके विरुद्ध पड़ा । दयामय तथा सर्वगुणसम्पन्न ब्रह्माकी सायुज्यता प्राप्त करनेके लिए ब्राह्मण भी दयामय और सब प्रकार समभावसे व्यवहार करनेवाले होने चाहिए । यह तो ब्राह्मणोंको इष्ट नहीं था; कारण दृढ़ होते हुए जातिभेदके कारण मिले हुए श्रेष्ठत्वको छोड़नेके लिए वे तैयार नहीं थे । फिर समभावसे व्यवहार करना कैसे सम्भव होता ? फलतः शीघ्र ही उन्हें इस ब्रह्मदेवका पक्ष छोड़ देना पड़ा । इतना बड़ा ब्रह्मा और उसका केवल एक ही मन्दिर अजमेरके पास पुष्करमें बच रहा है ! सुनता हूँ कि दूसरा एक छोटा-सा मन्दिर बंगाल प्रान्तमें कहींपर है, पर वह विशेष प्रसिद्ध नहीं है ।

४४. कविकुलगुरु कालिदासने तो इस ब्रह्मदेवका मजाक ही उड़ाया है। विक्रमोर्वशीय नाटकमें पुरूरवा उर्वशीको देखकर कहता है—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः।
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः॥
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो।
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः?

(अंक १, श्लोक ९ या १०)

(इसे रचनेके लिए कान्तिप्रद चन्द्र अथवा शृंगाररसपरिपूर्ण स्वयं मदन अथवा वसन्त मास तो प्रजापति न बना होगा? कारण वेदभ्याससे जिसकी मति जड़ हो गई है और विषय-सेवनमें जिसे आनन्द नहीं मिलता ऐसा वह बूढ़ा मुनि ऐसा मनोहर रूप निर्माण करनेमें कैसे समर्थ होगा?)

४५. यहाँ कविने वैदिक ब्रह्मदेव और बुद्धकालीन ब्रह्मदेवका सम्मिश्रण कर दिया है। वेदकालमें वह केवल मंत्र कहनेवाला होता था और बुद्धकालमें वह संसारका कर्ता बना। पर ब्राह्मण और बौद्ध श्रमणोंकी खींचातानीमें बेचारेको कोई स्थान नहीं मिला, और इस प्रकार कविको उसका चाहे जैसा मजाक उड़ानेका मौका मिला।

४६. वेदोंमें ब्रह्मका अर्थ है मंत्र, पर बुद्ध-कालमें उसका अर्थ 'श्रेष्ठ' होने लगा। होते-होते संसारके श्रेष्ठ तत्त्वको ब्रह्म कहने लगे और उसी अर्थमें यह शब्द अबतक प्रचलित है। उसका मजाक नहीं उड़ाया गया।

अशोकसे शकोंतक

४७. अशोकके समय यज्ञ-यागोंका महत्त्व बिलकुल घट गया। अपने पहले ही शिलालेखमें अशोकने पशुवधयुक्त यज्ञकी मनाही की है और उसके अन्य शिलालेखोंसे स्पष्ट दिखाई देता है कि उसने आखिरतक पशु-वधके विरुद्ध लोकमत तैयार करनेका प्रयत्न किया। यज्ञ-याग बन्द करके उसने यदि वैदिक देवोंमेंसे किसी देवको या उसके बाद ब्राह्मणों द्वारा तैयार किये गये ब्रह्मदेवको अपना कुलदेव बनाया होता तो पुजारीके नातेसे ब्राह्मणोंकी कुछ

व्यवस्था हो सकती। पर वैसा न कर उसने बुद्धको ही अपना देव बनाया। वह कहता है कि बुद्धोपासक बनकर प्रयत्न करके मैंने इस देशके उन देवोंको जो सच्चे समझे जाते थे, झूठा सिद्ध कर दिया।[१] अर्थात् अशोक बुद्धके सिवाय और किसीका भक्त नहीं था। ऐसा नहीं जान पड़ता कि ब्राह्मणोंको उसने किसी दूसरी तरहसे तंग किया हो। पाली-साहित्यमें 'श्रमण-ब्राह्मण' ऐसा समास मिलता है पर अशोकके शिलालेखोंमें ब्राह्मणोंको प्रथम स्थान दिया गया है (ब्राह्मणसमणानं साधु दानं)। इससे जान पड़ता है कि अशोक ब्राह्मणोंको भी दान देता था पर उनका वह सम्मान नहीं होता था, जो उन्हें यज्ञ-यागपुरस्सर मिलता था।

४८. जब-यज्ञ-याग न रहे और वैदिक देव भी चले गये, तब केवल भिक्षुकवृत्तिसे पेट भरनेकी नौबत आनेपर ब्राह्मणोंका मान ही क्या रहा? गृह्यसस्कारोंमें गृहस्थोंकी थोड़ी-बहुत सहायता कर किसी तरह अपना निर्वाह करनेकी ब्राह्मणोंपर पाली आई। पुराणोंमें मौर्य राजाओंकी शूद्रोंमें गणना करके ब्राह्मणोंने उनके संबंधमें जो इतना तिरस्कार प्रदर्शित किया है, उसका रहस्य इसीमें है।

४९. मौर्योंका अस्त होनेपर पुष्यमित्रका उदय हुआ। उसने ब्राह्मणधर्मको अर्थात् यज्ञ-यागोंको पुनरुजीवित करनेका प्रयत्न किया पर उसमें उसे विशेष सफलता नहीं मिली जान पड़ती। आसपासके बौद्धोंको उसने थोड़ा-बहुत त्रास दिया होगा, पर बौद्धधर्म अशोकके समयमें ही चारों दिशाओंमें फैलकर बहुत-कुछ दृढ़ हो चुका था, अल्प-स्वल्प प्रयत्नसे उसका उन्मूलन संभव नहीं था।

५०. दूसरा कारण यह कि पुष्यमित्रके समय यवन (ग्रीक), शक आदि बाहरके लोगोंके आक्रमण हिन्दुस्तानपर पुनः आरंभ हो गये थे। इन लोगोंमें जाति-भेद न होनेके कारण साधारण व्यवहारमें उनका ब्राह्मणधर्मकी अपेक्षा बौद्धधर्मकी ओर अधिक झुकाव था। उनसे यज्ञ-यागोंको सहायता मिलना संभव नहीं था। फलतः पुष्यमित्र और अग्निमित्रके बाद राजकीय यज्ञ-याग बन्द हुए और कई शतकतक सिर न उठा सके।

१ "जंबुदीपसि अभिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा।"—रूपनाथका शिलालेख।

५१. इस सम्बन्धमें डॉ० रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकरकी छोटी-सी पर अत्यन्त उपयुक्त पुस्तक "A peep into the Early History of India" से एक छोटा-सा उद्धरण देना उचित जान पड़ता है। "Thus from about the beginning of the second century before christ, to about the end of the fourth century after, princes of foreign races were prominent in the history of India and ruled some times over a large portion of the country up to the limits of Maharashtra.. During this period it is the religion of the Buddha alone that has left prominent traces, and was professed by the majority of the people." (p. 44) (इस प्रकार सरसरी तौरपर ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दिके आरम्भसे ईसाके पश्चात् चौथी शताब्दिके अन्ततक हिन्दुस्तानमें विदेशी राजाओंको ही महत्त्व प्राप्त हुआ था और समय-समयपर उनका राज्य देशके बहुत बड़े भागमें, महाराष्ट्रकी सीमातक पहुँच गया था।···इस कालमें केवल बौद्धधर्मके ही मुख्यतः अस्तित्वमें होनेके चिह्न दिखाई देते हैं और यही बहुसंख्यकोंका धर्म था।) ऐसी परिस्थितिमें ब्राह्मणोंको एक नये ही देवता मिले। आगेके विवेचनसे उनका परिचय मिलेगा।

महादेव

५२. महादेव और वैदिक रुद्रका निकट सम्बन्ध है। ऋग्वेदमें रुद्रकी बहुत-सी ऋचाएँ हैं। उनसे जान पड़ता है कि वह इन्द्रके साथी मरुतोंका पूर्वज था, 'आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु' ऋ० २। ३३। १। वह कपर्दी था। कपर्दका अर्थ जटा समझा जाता है पर जान पड़ता है कि वैदिक कालमें कपर्दका अर्थ बालोंका सिखों-जैसा जूड़ा होता था, कारण 'कपर्दिनो धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सवः', ऋ० ७।८३।८ में सब तृत्सुओंको ही 'कपर्दिनः' कहा है। सब तृत्सुओंका जटाधारी होना सम्भव नहीं। बाबिलोनियामें अक्कैडियन लोगोंमें जूड़ा बाँधनेकी प्रथा थी, पर सुमेरियनोंमें वह नहीं थी। इसलिए यह मरुतोंका पूर्वज रुद्र अक्केडियनोंकी भाँति जूड़ा बाँधता रहा होगा।

५३. रुद्र इन्द्रके समय मौजूद था, ऐसा नहीं जान पड़ता। कमसे कम ऐसा उल्लेख ऋग्वेदमें तो नहीं मिला। पर उसके वंशज मरुत् इन्द्रको बहुत सहायता करते थे, इसका वर्णन अनेक स्थानोंमें है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेदके

आठवें मंडलके छिहत्तरवें सूक्तमें इन्द्रको मरुत्सखा और मरुत्वान् ये दोनों विशेषण दिये गये हैं। इसलिए यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि इन्द्रको विजयमें मरुतोंसे बहुत सहायता मिली।

५४. अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ये मरुत् कौन थे। उन्हें रुद्राः रूद्रियाः और रूद्रासाः कहा गया है। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि वे रुद्रके वंशज अथवा भक्त थे। 'सं ता इन्द्रो असृजदस्य शाकैः' ऋ० ५।३०।१० इस ऋचामें शाकका अर्थ सायणाचार्य 'मरूत्' करते हैं। वही अर्थ ऋ० ४।१७। ११, ऋ० ६।१९।४, ऋ० ६।२४।४ इत्यादि ऋचाओंमें भी लागू होता है। सायणाचार्यके कथनानुसार यदि यह माना जाय कि मरुत् ही शाक थे तो यह अनुमान करना बिलकुल निरर्थक न होगा कि शकोंके पूर्वज मरूत् ही थे। इस लिए हम यह मानते हुए आगे बढ़ेंगे कि इन्द्रके पहले भी इन शकोंमें रुद्रकी पूजा प्रचलित थी। पर यह निश्चित है कि ऋग्वेदके समय रुद्रका महत्त्व इन्द्रके बराबर था।

५५. पर यजुर्वेदके समय स्थिति कुछ अंशोंमें बदल गई होगी। तैत्तिरीय संहिताके चौथे कांडके पाँचवें प्रपाठकमें रुद्रकी जो स्तुति है उसमें एक ही रुद्र नहीं, अनेक रुद्र मिलते हैं। इससे इस प्रकरणको शतरुद्रीय भी कहते हैं। उनमेंके कुछ उद्धरण यहाँ देते हैं।

(१)

५६. "हे रुद्र तेरे क्रोधको नमस्कार। तेरे बाणको नमस्कार। धनुष्य धारण करनेवाले तुझे नमस्कार। तेरे बाहुओंको नमस्कार। तेरे बाण सुखकारक हों। तेरा धनुष्य सुखकारक हो। तेरा जो तूणीर है, उससे हमारा रक्षण कर।...हे नीलग्रीव, सहस्राक्ष, वृष्टिकर्त्ता तुझे नमस्कार। और इसके जो सेवक हैं उन्हें भी मैं नमस्कार करता हूँ।...अपने धनुष्यका शर-संधान हमपर न होने दे। अपना तरकश हमसे दूर रख।"

(२)

५७. "हिरण्यबाहुको, सेनापतिको, दिशाओंके स्वामीको नमस्कार।..."

(३)

५८. "...उन्नतको, धनुर्योधाको, चोरोंके अधिपतिको नमस्कार। धनुर्योधा-

को, बाणोंका तूणीर धारण करनेवालेको, डाकुओंके अधिपतिको नमस्कार।···
धनुष्य-बाण धारण करनेवाले तुम लोगोंको नमस्कार।···[१]"

(४)

५९. "···व्रातोंको और व्रात-पतियोंको तुम लोगोंको नमस्कार। गणोंको और गणपतियोंको तुम लोगोंको नमस्कार। विरूपोंको और विश्वरूपोंको तुम लोगोंको नमस्कार। महंतोंको और क्षुल्लकोंको तुम लोगोंको नमस्कार। रथियोंको और अरथियोंको तुम लोगोंको नमस्कार। रथियोंको और रथोंके अधिपतियोंको तुम लोगोंको नमस्कार। सेनाओंको और सेनापतियोंको तुम लोगोंको नमस्कार। ···बढ़इयोंको और रथ तैयार करनेवालोंको तुम लोगोंको नमस्कार। कुम्हारोंको और लोहारोंको तुम लोगोंको नमस्कार। पुंजिष्ठोंको और निषादोंको तुम लोगोंको नमस्कार। बाण और धनुष्य तैयार करनेवालोंको तुम लोगोंको नमस्कार। शिकार करनेवालोंको और कुत्ते पालनेवालोंको तुम लोगोंको नमस्कार। कुत्तोंको और कुत्तोंके अधिपतियोंको तुम लोगोंको नमस्कार।"

(५)

६०. "भवको और रुद्रको मनस्कार। रविको और पशुपतिको नमस्कार। नीलकंठको और श्वेतकंठको नमस्कार। कपर्दीको और शिरो-मुण्डन किये हुएको नमस्कार।···"

(६)

६१. "सोमको और रुद्रको नमस्कार। ताम्रको और अरुणको नमस्कार। शंगको और पशुपतिको नमस्कार। उग्रको और भीमको नमस्कार···।"

६२. ऋग्वेदमें इनमेंसे कुछ विशेषण मिलते हैं पर यहाँ उनका बहुत अधिक विकास हुआ जान पड़ता है। यहाँ रुद्रको चोरोंका, डाकुओंका और व्रातोंका अधिपति कहा है। उसी प्रकार गणोंका, पुंजिष्ठोंका और निषादोंका वह अधिपति है, कुम्हार, लोहर आदिका अधिपति है। इसके सिवाय भव, शर्व, पशुपति, नीलकण्ठ आदि उनके नाम यहाँ अधिक मिलते हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यजुर्वेद-कालमें सीमाप्रान्तके पहाड़ी प्रदेशोंके लोग इन नामोंसे

१. यहाँसे बहुवचनका प्रयोग हुआ है, यह ध्यानमें रखने योग्य है

अपने देवताओंकी पूजा किया करते थे। वे वृक्षोंकी भी पूजा करते थे। वायव्य सीमाके लोग आज जिस प्रकार चोरी और डाकोंसे अपना निर्वाह करते हैं उसी प्रकार यजुर्वेद-कालमें भी करते रहे होंगे। उन्हें काबूमें रखनेके लिए बड़ी सेना ब्राह्मण नहीं रख सकते थे। इसलिए उनके भव, शर्व आदि देव रुद्र ही हैं ऐसा दिखाकर इन टोलियोंके लोगोंको मिलानेका यह प्रयत्न रहा होगा। इसमें कहाँतक सफलता मिली होगी यह नहीं कहा जा सकता।

६३. जान पड़ता है कि धीरे-धीरे इन टोलियोंके देवताओंमेंसे भव और शर्व ये दो ही देवता अथर्ववेदके समय आगे आये। सम्भवतः छोटी-मोटी टोलियोंको पराजित करके प्रमुख टोलियोंने उनपर स्वामित्व स्थापित किया होगा और इन दो टोलियोंके देवता ही बच रहे होंगे। अथर्ववेदके चौथे कांडके अट्ठाइसवें सूत्रमें उनकी प्रार्थना मिलती है, जो इस प्रकार है—

भव शर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद्विरोचते।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पादस्तौ नो मुञ्चतमहंसः॥

(हे भव और शर्व, सब दिशाओंमें जो तुम प्रकाशित हो, वह तुम्हारा सामर्थ्य है। जो तुम सब द्विपदों और चतुष्पदोंपर स्वामित्व करते हो, वह तुम हमको पापों से मुक्त करो।)

६४. फिर ग्यारहवें कांडके दूसरे सूक्तकी प्रार्थना देखिए—

भव शर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहितामा यतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः॥

(हे भव और शर्व, हमारा रक्षण करो, हमारे समीप न आओ। तुम भूतपति और पशुपतिको नमस्कार। धतुष्यपर चढ़ाया हुआ बाण हमपर न छोड़ो। हमको, हमारे द्विपदोंको और हमारे चतुष्पदोंको न मारो।)

६५. जान पड़ता है कि अथर्ववेदके बाद शतपथ ब्राह्मण के समय सीमा प्रांतके इन सब देवोंको अग्निका रूप देनेका प्रयत्न किया गया। "प्रजापतिको उषादेवीसे एक कुमार हुआ और वह रोने लगा। प्रजापतिने पूछा कि 'क्यों रोते हो?' (उसने उत्तर दिया) 'मुझे नाम नहीं है इसलिए, मेरा नाम रखो।' तब

वह रोता है इसलिए उसका नाम रुद्र रखा गया। उसने फिर और एक नाम रखनेके लिए कहा। तब उसका सर्व (शर्व) नाम रखा गया। सर्वका अर्थ है पानी, कारण उससे सब उत्पन्न होते हैं। उसके बाद उसका नाम पशुपति रखा गया। पशुपतिका अर्थ है वनस्पति। वनस्पति मिलती है तो पशु जीवित रहते हैं। उसके बाद उसका उग्र नाम रखा गया। उग्रका अर्थ है वायु। वह जब जोरसे चलता है तो उग्रतासे चलता है, ऐसा कहा जाता है। उसके बाद उसका अशनि नाम रखा गया। अशनिका अर्थ है बिजली। अनन्तर उसका नाम भव रखा गया। भवका अर्थ है वर्षा। उससे सब होता है (भवति)। अनन्तर उसका महादेव नाम रखा गया। महादेवका अर्थ है चन्द्र। अनन्तर ईशान नाम रखा गया। ईशानका अर्थ है सूर्य...ये आठों अग्निके रूप हैं; और नवाँ कुमार।" [शत० ब्रा० ६।१।३] कुमार, भव, शर्व, आदि जो देवता सीमाप्रान्तमें पूजे जाते थे उन्हें यज्ञोंमें शामिल कर यज्ञोंका आडम्बर बढ़ानेका यह प्रयत्न था।

६६. इसके बाद आश्वलायन-गृह्यसूत्रोंमें इन देवताओंको रुद्ररूपी समझकर उनके नामसे शूलगव नामक यज्ञ किस प्रकार करना चाहिए इसका वर्णन मिलता है। "शूलगव शरत्काल अथवा वसंत कालमें करना चाहिए। वह आर्द्रा नक्षत्रमें करना चाहिए। अपनी गोशालाका सबसे अच्छा बैल छाँट लेना चाहिए। वह पृषद्वर्ण होना चाहिए। कोई चित्रवर्ण भी कहते हैं। उँचे स्कंधवाला काला बैल हो, तो उत्तम ही है। उसका चावल या जौके पानीसे अभिषेक करना चाहिए। वह इस प्रकार—'रुद्राय महादेवाय जुष्टो वर्धस्व।' अनंतर उसको मारकर आहुतियाँ दे। वह इस प्रकार—'हराय कृपाय शर्वाय शिवाय भवाय महादेवायोग्राय पशुपतये रुद्राय शंकरायेशानायाऽशनये स्वाहा।' उसकी पूँछ, चमड़ा, सिर और पैर अग्निमें डाले। पर शांबव्य आचार्य कहते हैं कि चमड़ेका उपभोग करे।" (अ० ४, खंड १०)।

६७. इससे जान पड़ता है कि गृह्यसूत्रोंके समय महादेव हिंसक था और शर्वादि देवताओंका उसीमें समावेश हुआ था। यह महादेव अहिंसक किस प्रकार बन गया, यह बतलाना कठिन है। इस सम्बन्धमें अनुमान करनेके सिवा और कोई मार्ग नहीं। कारण उस कालका इतिहास अबतक उपलब्ध नहीं है।

६८. बुद्धके जीवन-कालमें ही उनकी कीर्ति सीमाप्रान्ततक फैलनेका प्रमाण पाली ग्रन्थोंमें मिलता है। महाकप्पी सीमाप्रान्तके राजकुलमें उत्पन्न हुआ और पिताके मरनेपर राजा हुआ। श्रावस्तीसे आये हुए व्यापारियोंसे भगवान्‌की कीर्ति सुनकर वह भिक्षु बननेके लिए उत्सुक हुआ और उद्यानसे ही अपने अमात्योंके साथ श्रावस्तीको जाननेके लिए रवाना हुआ। यह समाचार सुनकर उसकी पटरानी अनोजादेवी उसके पीछे-पीछे अपने परिवारके साथ श्रावस्तीको जानेके लिए निकली। भगवान् और उन सबकी भेंट चन्द्रभागा नदीके किनारे हुई। कप्पिन और उसके अमात्योंको भगवान्‌ने भिक्षु बनाया और उप्पलवण्णा भिक्षुणी द्वारा अनोजादेवी और उसके परिवारको भिक्षुणी।

६९. यह दंतकथा मनोरथपूरणी तथा सारत्थ-पकासिनी इन दो अट्ठकथाओंमें मिलती है। संयुत्त निकायके मूल सुत्तमें कप्पिनके संबंधमें जो वर्णन मिलता है वह इस प्रकार है—"भगवान् श्रावस्तीमें रहते थे। उन्होंने आयुष्मान् महाकप्पिनको आते हुए दूरसे देखा और भिक्षुओंसे कहा—'हे भिक्षु, इधर आनेवाले गोरे, दुबले-पतले, ऊँची नाकवाले इस भिक्षुको तुम देख रहे हो? इसे सब प्रकार-की समाधि प्राप्त हो चुकी है और जिसके लिए कुलपुत्र गृहत्याग करते हैं उस निर्वाणका इसने साक्षात्कार कर लिया है।"[1]

७०. यद्यपि यह नहीं कहा सकता कि महाकप्पिनका जन्म राजकुलमें हुआ था या नहीं तथापि इस सुत्तके वर्णनसे ऐसा जान पड़ता है कि वह काबुल या कंदहार प्रान्तका रहनेवाला था। यहाँ हमें केवल इतना ही देखना है कि बुद्ध भगवान्‌के जीवन-कालमें ही उस प्रान्तके लोगोंपर उनके धर्मका प्रभाव पड़ने लगा था। कुरुदेशमें ब्राह्मणोंका बड़ा जोर था, तो भी सीमाके प्रान्तोंमें बुद्धका अहिंसावादी धर्म लोगोंको प्रिय होने लगा था। उसका परिणाम यह हुआ कि जिस पशुपति महादेवको बड़े बैलकी बलि देकर प्रसन्न करना पड़ता था वही महादेव गाय बैलोंका संरक्षक बना—बैल उसका वाहन हुआ और उसके मन्दिरके सामने नन्दीकी स्थापना होने लगी। वेमा कद्‌फिसेस (Wema Kadphises) के सिक्कोंपर महेश्वरकी मूर्ति और नन्दी बैल चिह्नित मिलते हैं। इसका राज्यकाल अबतक निश्चित नहीं हुआ है, फिर भी

---

१. निदानवग्ग, भिक्खु संयुत्त, सुत्त ११।

उसे ईसवी सन्की पहली शताब्दीके आरंभमें मान लेनेमें कोई हर्ज नहीं। उसके कमसे कम दो-तीन शताब्दी पूर्व महादेवका परिवर्तन गोरक्षक महेश्वरमें हुआ होगा।

७१. येनाक्षरसमाम्नयमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥

यह पाणिनीय शिक्षाके आरंभका श्लोक है। इससे मालूम होता है कि पाणिनि महेश्वरका भक्त था। इस दंत-कथाके लिए ह्युएन्त्संगके यात्रा-वर्णनमें भी आधार मिलता है। "वह गांधार देशमें यात्रा करते हुए शलातुर ग्राममें आया। यहाँ पाणिनिका जन्म हुआ था। व्याकरणके नियम शुद्ध करनेका उसने विचार किया और अपना विचार ईश्वरदेवको बताया। ईश्वरदेवने पाणिनिको सहायता देनेका वचन दिया। पाणिनि ऋषिने महेश्वरसे शास्त्र समझ लिया और बड़े परिश्रमसे व्याकरणकी रचना की। उसकी श्लोकसंख्या एक हजार है और प्रत्येक श्लोकमें बत्तीत अक्षर हैं।"

७२. अब इसीका निश्चय करना है कि जिस महेश्वर या महादेवका पाणिनि भक्त था वह महादेव पाणिनिके समय उपर्युक्त शूलगवका स्वीकार करता था या नहीं। हमारे मतसे पाणिनिके समय महादेव महेश्वर बना और महेश्वर होनेके बादसे वह अहिंसक बना। गांधार देशके राजाओंने व्यवहारमें तो बौद्धधर्मको उत्तेजन दिया पर कुलपरंपरासे चले आये हुए महादेवको छोड़नेके लिए वे तैयार नहीं थे। उनमेंसे किसीने अशोककी भाँति बौद्धधर्मको पूर्ण रूपसे स्वीकार किया होता तो अशोकके कथनानुसार अन्य सब देव झूठे पड़कर एकमात्र बुद्ध ही सच्चे सिद्ध हुए होते और बौद्ध श्रमण ब्रह्मदेवकी भाँति महादेवका भी तुरत परिवर्तनकर उसे बुद्धकी शाखामें ले आये होते।

७३. शक राजाओंके राज्यका ज्यों-ज्यों विस्तार होता गया त्यों-त्यों महादेवका भी महत्त्व बढ़ता गया। शकों और दक्षिणके शालिवाहनवंशीय राजाओंमें युद्ध होनेकी बात शिलालेखोंसे मालूम होती है। फिर शालिवाहन वंशके

१. Buddhist Records, i, 114—115.

राजाओंने महेश्वरको स्वीकार किया। अर्थात् उस कालमें राजे-रजवाड़ोंमें महादेवकी पूजा करनेका फैशन ही चल गया था। महाराष्ट्रमें मुसलमानोंका राज्य नष्ट होकर मराठोंका राज्य स्थापित हो गया, फिर भी मराठा-सरदारोंकी स्त्रियाँ मुसलमानोंमें प्रचलित परदा-प्रथाका पालन करती थीं, और इस समय भी वह कई सरदार-घरानोंमें प्रचलित है। उसी प्रकार शकोंका प्रभाव घटते जानेपर भी महेश्वरदेवका प्रचार चारों ओर बढ़ता गया।

७४. इस समय ब्राह्मणोंकी बड़ी विचित्र स्थिति हुई। दक्षिणमें कुछ राजाओं द्वारा बीच-बीचमें एकाध यत्न किये जानेका उल्लेख मिलता है पर इससे ब्राह्मणोंको स्थायी राजाश्रय मिलना सम्भव नहीं रहा। गृह्य-संस्कारोंमें भाग लेकर साधारण जनतासे अल्प-स्वल्प दक्षिणा प्राप्त करनेका ही मार्ग उनके लिए खुला था। पर वहाँ भी बौद्ध-धर्मकी बाधा थी। कारण साधारण जनतापर उसी धर्मका अधिक प्रभाव था। इस दशामें ब्राह्मणोंके लिए स्थायी राजाश्रय प्राप्त करनेका एक ही सीधा रास्ता था और वह था महेश्वरके पुजारी बनना, जिसे उन्होंने स्वीकार किया। वराहमिहिरके कथनानुसार ब्राह्मण भस्मभूषित होकर महेश्वरकी पूजा करने लगे।[1]

७५ शक राजाओंने दूसरी एक कल्पनाको विशेष महत्त्व दिया। यहूदी अपने देवता जेहोवाको जिस प्रकार जगका कर्ता समझते थे उसी प्रकार शक राजा महादेवको जगका कर्ता समझते रहे होंगे। सम्भव है, यह कल्पना उन्होंने यहूदियोंसे ही ली हो, कारण पश्चिमकी ओर उनका यहूदियोंसे निकट सम्बन्ध था। बाइबिलके ओल्ड टेस्टामेण्टका जेहोवा महासंहारक देवता था, वह क्रुद्ध होकर क्या करेगा इसका ठिकाना नहीं। ईसाने उसे सौम्य रूप दिया। तो भी न्यू टेस्टामेण्टमें उसकी इस प्रकार प्रार्थना की गई है—'हे देवता, तू हमें बुरे मार्गपर न ले जा।'[2] अर्थात् ईसाके बाद भी जेहोवाकी लोगोंको संकटमें डालनेकी शक्ति बनी रही।

1. बृहत्संहिता अ० ६०।१९.

2. 'And lead us not into temptation.' (Luke 11, 4)

७६. कुछ-कुछ ऐसी ही बात महादेवकी दिखाई देती है। वेदकालसे शकों-तक महादेव अत्यन्त क्रूर देव था। उसकी प्रार्थना केवल इसीलिए की जाती थी कि वह भक्तोंका संहार न करे। उसे शूलगव आदि यज्ञोंके रूपमें जो बलिदान दिया जाता था वह बौद्धधर्मके प्रभावसे बन्द हुआ। तो भी उसकी क्रूरता नष्ट नहीं हुई, उसकी संहारक शक्ति थोड़ी-बहुत बच ही रही। इस समय श्वेताश्वतर नामके किसी पण्डितने किसी शक राजाको प्रसन्न करनेके लिए श्वेताश्वतरोपनिषद् लिखा होगा। उसमें बाइबिलकी ही भाँति भक्ति-मार्गके भक्तका वर्णन दिखाई देता है। यह कहनेके लिए कोई आधार नहीं है कि यह भक्ति-मार्ग बाइबिलसे लिया गया, पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह बाइबिलसे नहीं लिया गया। इस उपनिषदमें बाइबिलके जेहोवा और उपनिषदोंके परमात्माका मिश्रण हुआ दिखाई देता है और पूरा सन्देह होता है कि किसी शक राजाको प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे वैसा किया गया। अल्लोपनिषद् रचकर अकबरको सन्तुष्ट करनेका ब्राह्मणोंने जैसा प्रयत्न किया वैसा ही यह भी रहा होगा।

७७. जेहोवाके पत्नी नहीं थी पर महादेवको थी। यह कल्पना कहाँसे आई, कहा नहीं जा सकता।[1] पर उससे लाभ यह हुआ कि ब्राह्मण महादेव और पार्वतीमें उन सब देवी-देवताओंका अन्तर्भाव कर सके जो साधारण जनतामें पूजे जाते थे। उनकी पूजासे एक ओर शक आसानीसे प्रसन्न किये जा सकते थे और दूसरी ओर सर्वसाधारणको वशमें करनेका यह एक राज-मार्ग था।

७८. महादेव और पार्वती ब्राह्मणोंके देवता न होते हुए भी सहसा सब देवताओंसे श्रेष्ठ किस प्रकार बन गये, इसका वर्णन महाभारतके शान्ति पर्वमें

१. By the side of En-Iil in the early days there was ranged a consort, Nin-Iil, the queen of the lower world, and when En-Iil was identified with Bel she became Belit. She is also called Nin-khar-sag, "queen of the great mountain." [The religion of Babylonia and Assyria. by R. W. Rogers, p. 81.] पार्वतीका सम्बन्ध इस देवतासे तो न होगा?

मिलता है[1]। दक्षने हिमालयमें गंगाद्वारपर यज्ञ आरंभ किया। उस यज्ञमें देव, दानव, गंधर्व, पिशाच, उरग, राक्षस, ऋषि आदि सब आये। तब दधीचिने कहा—'जिसमें रुद्रकी पूजा नहीं की जाती वह यज्ञ भी नहीं और धर्म भी नहीं। तुम लोग इन पशुओंको बाँधने और मारनेके फेरमें क्या पड़े हो ! कैसा समयका विपर्यास है ? यह इन्हें क्यों नहीं समझमें आता कि इस यज्ञसे घोर बिनाश होगा।'

७९. "अनन्तर उस ऋषिने ध्यान-चक्षुसे महादेव, पार्वती और उसके समीप नारद मुनिको देखा और वह संतुष्ट हुआ। उसे मालूम हो गया कि दक्षादिने षड्यंत्र कर महादेवको निमंत्रण नहीं दिया है और वहाँसे कुछ दूर हटकर उसने कहा—'अपूजनीय देवताओंकी पूजासे और पूजनीय देवताओंकी पूजा न करनेसे मनुष्यको सदा नर-हत्याका पाप लगता है।.........यहाँ यह पशुपति, जगका कर्ता, यज्ञका भोक्ता, सबका प्रभु आया हुआ है। उसे क्या तुम लोग नहीं देख रहे हो ?' दक्षने कहा—'शूलहस्त, जटा-धारण करनेवाले और ग्यारह स्थानोंमें रहनेवाले बहुतसे रुद्र हमारे पास हैं। इस महेश्वरको मैं नहीं पहचानता।'

८०. "दधीचि बोला—'तुम सबने षड्यंत्र करके इसे निमंत्रण नहीं दिया है पर चूँकि मैं शंकरके अतिरिक्त दूसरा कोई श्रेष्ठ देवता नहीं देखता, इसलिए मैं समझता हूँ कि यह यज्ञ उत्तम न होगा।' दक्षने कहा—'विधि और मन्त्रसे पवित्र किया गया यह हवि मैं विष्णुको अर्पण करता हूँ। वह प्रभु विभु हवनीय है।' यह बात पार्वतीको अच्छी नहीं लगी। तब महादेवने अपने मुखसे एक भयंकर पुरुष उत्पन्न किया और उस पुरुषने दक्षके यज्ञका विध्वंस किया।"

८१. यह पौराणिक भाषा है। वास्तविक बात यह हो सकती है कि ब्राह्मणों द्वारा आरम्भ किये गये किसी महायज्ञका किसी शक राजाने ध्वंस किया होगा। यहाँ हमें चंगेजखाँकी बात याद आती है। उसने जब समरकन्दमें प्रवेश किया तब वहाँकी मुख्य मसजिदमें नमाज पढ़नेवाले मौलवियोंको देखा और उनसे पूछा कि यहाँ यह क्या कर रहे हो। उनके यह उत्तर देनेपर कि हम परमेश्वरकी प्रार्थना

१. कुम्भको०, अध्याय २९० ; औंध, अ० २८४

कर रहे हैं वह क्षुब्ध हुआ और मौलवियोंका कुरान लेकर उसे उसने अपने घोड़ोंके पैरोंतले रौंद डाला। महादेव द्वारा उत्पन्न किये गये पुरुषका दक्षके यज्ञका विध्वंस करना करीब-करीब ऐसा ही दिखाई देता है।

८२. महाभारतमें इस कल्पनाका भी समावेश किया गया है कि महेश्वरके प्रभावसे क्षत्रियोंका नाश होगा। नारद मुनिने धर्मराजको तीन प्रकारके उत्पात बताये। वे सब चैद्य (शिशुपाल) की मृत्युके बाद हुए। उसपर धर्मराजने व्याससे प्रश्न किया कि उन उत्पातोंका फल क्या होनेवाला है? व्यासने बताया कि उनका फल यह होगा कि तेरह वर्षके बाद सब क्षत्रियोंका संहार होगा और कहा—

> 'स्वप्ने द्रक्षसि राजेन्द्र क्षपान्ते त्वं वृषध्वजम्।
> नीलकण्ठं भवं स्थाणुं कपालिं त्रिपुरान्तकम्॥
> उग्रं रुद्रं पशुपतिं महादेवमुमापतिम्।
> हरं शर्वं वृषं शूलं पिनाकिं कृत्तिवाससम्॥
> कैलासकूटप्रतिमे वृषभेऽवस्थितं शिवम्।
> निरीक्षमाणं सततं पितृराजाश्रितां दिशम्।
> एवमीदृशकं स्वप्नं द्रक्षसि त्वं विशाम्पते।
> मा तत्कृते ह्यनुध्याहि कालो हि दुरतिक्रमः॥'

(हे राजेन्द्र, आज रातको तुम स्वप्नमें वृषध्वज, नीलकण्ठ, भव, स्थाणु, कपालि, त्रिपुरान्तक, उग्र, रुद्र, पशुपति, महादेव, और शर्व, उसका वृषभ, शूल, पिनाक धारण और चर्म-वसन देखोगे। कैलासकूटके समान बैलपर बैठे हुए और बराबर यमदिशा (दक्षिण दिशा) की ओर देखनेवाले शिवको तुम देखोगे। हे लोकपति, तुमको इस प्रकारका स्वप्न दिखाई देगा पर तुम चिन्ता न करना, कारण काल दुरतिक्रम है।)

८३. इसमें यह भविष्यवाणी की गई है कि केवल पाण्डवों और कौरवोंका ही नहीं, सब क्षत्रियोंका क्षय होगा और इस सम्बन्धमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं कि चारों ओर शकोंकी विजय होनेके बाद यह भविष्यवाणी व्यासके

१. औंध सभापर्व, अ० ४६।१३–१६; कुम्भकोण, अ० ७३।१६–१९.

मुँहसे कहलावाई गई। निरन्तर दक्षिण दिशाकी ओर देखनेवाला महादेव दिखाई देगा, इसका यह अर्थ समझना चाहिए कि दक्षिणकी ओर शकोंकी बराबर विजय होती जायगी।

८४. महाभारतके इस वर्णनसे अनुमान किया जा सकता है कि ब्राह्मणोंको शक राजा अधिक प्रिय नहीं थे। तथापि दूसरा कोई मार्ग न रह जानेके कारण उन्होंने इस महादेवकी पूजा आरंभ की और वह उनके लिए लाभप्रद सिद्ध हुई।

लिंग-पूजा

८५. अब इस प्रश्नपर विचार किया जाय कि महेश्वरकी पूजासे लिंग-पूजा किस प्रकार निकली? इस संबंधमें भी हमें अधिकांशमें अनुमानपर ही अवलंबित रहना पड़ेगा। बुद्ध या महावीर स्वामीके समय श्रमण चातुर्मासको छोड़ और कभी एक स्थानपर नहीं रहते थे। वे बराबर चारों ओर घूमकर धर्मोपदेश किया करते थे। दूसरी बात यह थी कि वे गृहस्थाश्रमका उपभोग करके और संसार-दुःखसे ऊबकर श्रमण हुआ करते थे। इन दो कारणोंसे उनकी काम-वासनाको बिलकुल अवसर नहीं मिलता था पर दूसरी ओर तीसरी शताब्दिमें यह स्थिति बिलकुल बदल गई। इन दोनों पन्थोंमें छोटे बच्चोंको भी दीक्षा देकर संन्यासी बनानेकी प्रथा आरंभ हुई और बड़े-बड़े विहार तथा उपाश्रयोंका आश्रय लेकर ये लोग सुखसे रहने लगे। इस कारण काम-वासनापर विजय प्राप्त करना इन लोगोंके लिए कठिन हो गया। इन श्रमण-पंथोंमें स्त्री-प्रसंग तो दूर रहा, स्त्री-स्पर्शतककी सख्त मनाही है। इस समय भी यदि कोई भिक्षु रेलगाड़ी या नावसे उतरते समय किसी स्त्रीको हाथका सहारा दे दे तो उसे बड़ा प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। इस कठोर नियमके कारण यदि उस समयके तरुण संन्यासियोंकी वाम-मार्गकी ओर प्रवृत्ति हुई हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। हस्तस्पर्शादि न कर केवल नग्न स्त्रीको देखनेसे कोई नियम भंग नहीं होता था और काम-वासना अंशतः तृप्त भी हो जाती थी। इसी तरहसे यह लिंग-पूजा निकली होगी।

८६. जटिल तापसोंका पन्थ बुद्धके समय वर्तमान था। महावग्गमें यह दंतकथा आई है कि बुद्धने उरुवेल कश्यप, नदी कश्यप और गया-कश्यपको उनके एक हजार जटिल शिष्योंके साथ, भिक्षु बनाया था। इसका अर्थ इतना ही होगा कि बुद्धके भिक्षु-संघमें जटिलोंकी भरती अधिक थी। इन तापसोंको कोई तत्त्वज्ञान तो था ही नहीं, ये अग्निकी पूजा करते और जंगलोंमें रहते थे।

८७. बुद्धके समय जो दूसरे बड़े संघ थे उनमेंसे यदि कोई श्रमण बौद्ध-पन्थमें आता था तो उसे चार मासतक परिवास दिया जाता था। परिवासका अर्थ श्रामणेर होकर भिक्षुओंकी सेवा करके रहना। चार मास बाद यदि उसका व्यवहार सन्तोषजनक समझा जाता, तो वह भिक्षु-संघमें संमिलित कर लिया जाता। परिवास देनेका कारण यह बताया गया है कि एक दूसरे पन्थका श्रमण भिक्षु-संघमें प्रविष्ट हुआ और अपने उपाध्यायको ही बादमें हराकर फिर अपने पुराने श्रमण संघमें लौट गया। ऐसी घटनाएँ न हों इस विचारसे दूसरे पन्थोंके श्रमणोंको चार मास परिवास देकर फिर संघमें लिया जाता था।

८८. पर ऐसा परिवास शाक्यों और जटिलोंको नहीं दिया जाता था। शाक्य बुद्धके संबंधी ही थे, इसलिए उन्हें परिवास न दिया जाना ठीक था। पर जटिलोंको वह न देनेका क्या कारण रहा होगा? इसका कारण यह जान पड़ता है कि जटिलोंका कोई साम्प्रदायिक दर्शन था ही नहीं और इसलिए बौद्ध श्रमणोंका विश्वास था कि वे वादविवादमें पड़ेंगे ही नहीं।

८९. आजकल भी जटाधारी साधुओंकी यही स्थिति है। उनका कोई स्वतंत्र दर्शन या तत्त्वज्ञान नहीं है। धूनी रमाना, शरीरमें राख पोतना और बदरी-नारायणसे रामेश्वरतक घूमते रहना, यही उनका काम है। इधर उनमें भी कुछ सम्प्रदाय दिखाई देते हैं पर उन सम्प्रदायोंका कोई विशेष दर्शन होगा, ऐसा नहीं जान पड़ता। प्रचलित दर्शनोंसे ही वे अपना काम चला लेते हैं। तात्पर्य यह कि बुद्धके समयसे लेकर आजतक इस जटिल सम्प्रदायकी यदि कोई विशेषता रही है तो यह धूनी रमाना है।

९०. एक ओर वाम-मार्गमें प्रविष्ट तरुण भिक्षु और दूसरी ओर ये जटिल तपस्वी, इन दोनोंमेंसे पाशुपतोंका पंथ निकला और शकोंके राज्यकालमें बराबर फैलता गया। इस पंथने अपना एक भिन्न पाशुपत दर्शन बनाया। यहाँ उसकी

चर्चा करनेकी आवश्यता नहीं जान पड़ती। उनके आचारोंमेंसे कुछ थे जटा धारण करना, शरीरको तीन बार भस्म लगाना, नग्न रहना अथवा चर्मखंड धारण करना तथा लिंगपूजा करना। इसमें सन्देह नहीं कि इसी पन्थके कारण लिंगपूजाको महत्त्व प्राप्त हुआ।

९१. ईसवी सन्‌की चौथी शताब्दिमें तो इस लिंग-पूजाको बहुत ही महत्त्व प्राप्त हुआ जान पड़ता है। वाकाटक नामके राजा थे। उनके सम्बन्धी थे भारशिव राजा। वे अपने कंधेपर शिव-लिंग लेकर घूमा करते थे और उनका विश्वास था कि इसीके कारण उनका राजवंश स्थिर हुआ।[१] शिलालेखोंमें इसका प्रमाण मिलता है कि इसी वाकाटक वंशके द्वितीय रुद्रसेन राजाको गुप्त राजवंशके द्वितीय चन्द्रगुप्तने अपनी कन्या प्रभावती ब्याह दी थी। अर्थात् जान पड़ता है कि गुप्त, भारशिव तथा वाकाटक राजाओंमें लिंगके प्रति बड़ा आदर था।

९२. ऐसा होते हुए भी लिंग-पूजाका सर्वत्र प्रचार नहीं हुआ था। कमसे कम एक-दो शताब्दितक वह व्यक्तिगत रही होगी कारण ह्युएनत्संगके यात्रा-वर्णनमें लिंग-पूजाका वर्णन नहीं मिलता, पर महादेवकी मूर्तिके वर्णन चाहे जितने मिलते हैं। काशीमें तो उसने महादेवकी लगभग १०० फुट ऊँची ताँबेकी मूर्ति देखी थी। ऐसी अवस्थामें इस समय जो सारे हिन्दुस्तानमें लिंगपूजा दिखाई देती है, वह सार्वत्रिक कैसे हुई? और ह्युएनत्संगकी देखी हुई मूर्तियाँ गई कहाँ?

९३. महमूद गजनवीके समय लिंगकी पूजा सार्वजनिक हो गई थी; तो भी महादेवकी मूर्तियाँ मौजूद थीं। सोमनाथमें लिंग-पूजा हुआ करती थी; और दूसरे कुछ स्थानोंमें महादेवकी मूर्तियोंकी भी पूजा होती रही होगी। वे मूर्तियाँ कैसी बनाई जाती थीं इसका वर्णन अलबेरूनीने बृहत्संहिताके आधारपर किया है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानोंके आक्रमणोंके बाद महादेवकी मूर्तियाँ बनानेकी प्रथा बन्द हुई होगी। मूर्तियाँ पत्थरकी होनेपर ये लोग उन्हें छिन्न-भिन्न कर डालते थे और धातुकी होने पर उठा ले जाते थे। ऐसे समय लिंग-पूजा

१. **अंसभारसंनिवेशितलिंगोद्वहन शिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराजवंशानां... भारशिवानां, इत्यादि।** (Corpus Inscriptionum Indicarum, iii, 236-37, 254.)

२. Buddhist Records, ii, 45.

सुविधाजनक सिद्ध हुई। यदि मुसलमान लिंगको तोड़ भी डालते, जो उसे फिर बना लेनेमें अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता था।

९४. यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या तब इस पंथका प्रचार रोकना सम्भव नहीं था? बौद्ध भिक्षु अगर आरामपसन्द न बन गये होते तो यह सम्भव हुआ होता; या दूसरा मार्ग यह था कि जापानके सिंगोजी पंथके भिक्षुओंकी तरह इस देशमें भी भिक्षुओंको विवाह करनेकी अनुमति मिल जाती। ये जापानी भिक्षु एक ही बार विवाह करते हैं। उनके जीवित रहते यदि पत्नी मर जाती है तो वे दूसरा विवाह नहीं करते। जापानमें जो दस-बारह बौद्ध संप्रदाय हैं उनमें यह संप्रदाय सबसे बड़ा है। इस प्रकारका संप्रदाय यदि भारतमें भी निकला होता तो कदाचित् लिंग-पूजा जैसी बीभत्स पूजा रोकी जा सकती।

९५. परन्तु परम्पराके दास बने हुए बौद्ध-श्रमणोंमें वैसा सम्प्रदाय बनानेका साहस रह नहीं गया था। इसलिए उन्होंने वैसा पंथ निकालनेके बजाय, संघकी रक्षा करनेके लिए तंत्रोंके रूपमें वाममार्गी कार्योंको एक प्रकारका धार्मिक स्वरूप दे दिया। छठी या सातवीं शताब्दीमें बौद्ध श्रमणोंने जो तन्त्र-ग्रन्थ लिखे हैं वे लिंग-पूजाके समान ही बीभत्स हैं। उनमें नग्न स्त्रीकी पूजा, मद्यमांसादिका यथेच्छ सेवन आदि बीभत्सताएँ भरपूर हैं। यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि ऐसे श्रमणों द्वारा लिंग-पूजाका विरोध होना संभव नहीं था। इन्हीं वाममार्गी श्रमणोंसे लिंग-पूजाकी उत्पति हुई और जिस प्रकार लोहेको जंग खा जाता है उसी प्रकार यह लिंग-पूजा बढ़कर श्रमण-संस्कृतिको खा गई।

वासुदेव कृष्ण

९६. प्रथम विभागमें हम देख आये हैं कि कृष्णने इन्द्रकी दाल नहीं गलने दी। जंगली प्रदेशका आश्रय लेकर उसने अपनी और अपने अनुयायियोंकी रक्षा की।[1] ऐसी अवस्थामें मध्य हिन्दुस्तानमें यदि उसकी पूजा आरम्भ हो गई हो तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं।

---

१. वि० १। ४८–५०

सर भांडारकरका कहना है कि वह गोपालकृष्ण बादमें बना[1]। पर हम समझते हैं कि वह—गोपियोंसे क्रीड़ा करनेवाला न सही, पर गोधनके रक्षककी दृष्टिसे—वैदिककालसे ही गोपालकृष्ण था। गाय-बैलोंका बलिदान उसे पसन्द नहीं था और इसीलिए उसने इन्द्रका विरोध किया। पशु-यज्ञकी प्रथा अंगीकार कर उसने यदि इन्द्रका स्वामित्व स्वीकार कर लिया होता, तो इन्द्रसे उसका झगड़ा ही न होता।

९७. प्रथम विभागमें यह दिखाया जा चुका है कि हमारा चातुर्वर्ण्य इन्द्रके पहलेसे मौजूद था।[2] इसलिए यह मान लेना चाहिए कि कृष्णके समय भी मध्य हिन्दुस्तानमें जाति-भेद था। पर वासुदेव कृष्ण इस सम्बन्धमें बहुत सुधारक जान पड़ते हैं। जातकमें उनके सम्बन्धमें दो गाथाएँ मिलती हैं, जो इस प्रकार हैं—

यं यं कामी कामयति अपि चंडालिकामपि।
सब्बेहि सदिसो होति नत्थि कामे असदिसो॥
अत्थि जंबावती नाम माता सिबिस्स राजिनो।
सा भरिया वासुदेवस्स कण्हस्स महिसी पिया॥[3]

(कामी मनुष्य जिस-जिस स्त्रीकी इच्छा करता है, उस-उस स्त्रीके विषयमें वह तन्मय होता है, फिर वह चाण्डालिका ही क्यों न हो। कामोपभोगमें ऊँच-नीचका प्रश्न नहीं आता। सिबिकी जम्बावती नामकी माता थी। वह कृष्ण वासुदेव राजाकी अत्यन्त प्रिय पटरानी थी।)

९८. इसपर टीका करते हुए अट्ठ-कथाकार कहता है—"सिबि राजाकी माता जाम्बवती चाण्डाली थी। वह कृष्ण वासुदेवको प्रिय पटरानी बनी। एक दिन वे द्वारकासे रवाना होकर अपने उद्यानमें जा रहे थे। मार्गमें उन्होंने एक सुन्दरी तरुणीको देखा। यह बात उन्हें मालूम हो गई कि वह चाण्डाली थी। तो भी वह तरुणी और अविवाहित थी, इस कारण वे उसे लेकर उलटे पाँव राजमहलमें लौट आये और उसे रत्नराशिपर बैठाकर अपनी पटरानी बना लिया।"

१. Vaishnavism etc. pp. 49–54.

२. वि. ११७०.

३. Jataka. vi, 421 (Fausboll's edition).

९९. जातककी इस कथासे सिद्ध होता है कि कृष्ण जाति-भेदको बिलकुल नहीं मानते थे। बादमें जब यह वासुदेव गुप्त राजाओंके कुल-देवता बने और ब्राह्मणोंको इसकी पूजाकर उदर-निर्वाह करनेकी नौबत आई तब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि हजारों वर्षसे प्रचलित इस कथाका क्या किया जाय? यह कहना तो सम्भव नहीं था कि जाम्बवती कृष्णकी पत्नी नहीं थी। इसलिए उन्होंने जाम्बवतीके बापको रीछ बनाया और उसे चाण्डाल जातिसे निकालकर रीछकी जातिमें रखा। मानो पशुसे सम्बन्ध रखना चाण्डालिकासे सम्बन्ध रखनेकी अपेक्षा अच्छा होता है! पर जाति-भेदके कारण अन्धे हुए लोगोंको यह कैसे दिखाई देता?

१००. जातकके बाद वासुदेवका उल्लेख चूलनिद्देसके निम्नलिखित उद्धरणमें मिलता है—

देवतानं ति। आजीवकसावकानं आजीवका देवता। निगण्ठसावकानं निगण्ठा[१] देवता। जटिलसावकानं जटिला देवता। परिब्बाजकसावकानं परिब्बाजका देवता। अवरुद्धकसावकानं अवरुद्धका देवता। हत्थिवतिकानं हत्थी देवता। अस्सवतिकानं अस्सा देवता। गोवतिकानं गावो देवता। कुक्कुरवतिकानं कुक्कुरा देवता। काकवतिकानं काका देवता। वासुदेववतिकानं वासुदेवो देवता। बालदेववतिकानं बलदेवो देवता। पुण्णभद्दवतिकानं पुण्णभद्दो देवता। मणिभद्दवतिकानं मणिभद्दो देवता। अग्गिवतिकानं अग्गि देवता। नागवतिकानं नागा देवता। सुपण्णवतिकानं सुपण्णा देवता। यक्खवतिकानं यक्खा देवता। असुरवतिकानं असुरा देवता। गंधब्बवतिकानं गंधब्बा देवता। महाराजवतिकानं महाराजा देवता। चन्दवतिकानं चन्दो देवता। सुरियवतिकानं सुरियो देवता। इन्दवतिकानं इन्दो देवता। ब्रह्मवतिकानं ब्रह्मा देवता। देववतिकानं देवा देवता। दिसावतिकानं दिसा देवता। ये येसं दक्खिणेय्या ते तेसं देवता ति।

१०१. इस उद्धरणका अनुवाद देनेकी अवश्यकता नहीं जान पड़ती, अर्थ सबके समझने लायक है। आजीवक नामके परिव्राजक बुद्धके समयमें थे। उनके संघके नेता मक्खलि गोसालका उल्लेख पहले हो चुका है[२]। इन आजीवकोंके

---

१. सयाम संस्करण—निगन्थसावकानं निगन्था देवता।

२. वि० २।२५.

रहनेके लिए कुछ गुफाएँ अशोक और उसके पौत्र द्वारा बनवा दी जानेका उल्लेख शिला-लेखोंमें मिलता है। निद्देसके समयमें भी आजीवकोंका पंथ मौजूद था, यह स्पष्ट है। निगण्ठका अर्थ जैन। उनका सम्प्रदाय इस समय भी मौजूद है, इसलिए उनके सम्बन्धमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं। जटिलोंके सम्बन्धकी जानकारी आ चुकी है।[1] परिव्राजकोंके सम्प्रदायका बुद्धके समय बड़ा जोर था। बुद्धके प्रमुख शिष्य सारिपुत्र और मोग्गलान उसी सम्प्रदायसे आये थे। उस सम्प्रदायके तत्त्वज्ञानकी अधिक जानकारी नहीं मिलती। अवरुद्धक कौन थे, यह नहीं कहा जा सकता। उनके सम्बन्धकी जानकारी अबतक कहीं दूसरी जगह नहीं मिली है।

१०२. जान पड़ता है कि निद्देसके समयमें बौद्धसंघके अतिरिक्त उक्त पाँच श्रमण-समूह मौजूद थे। इनमेंसे केवल अवरुद्धकोंका पंथ बुद्धके समय नहीं था। केसकंबली, पूरण कस्सप, संजय बेलट्ठपुत्त तथा पकुध कात्यायन इन चार आचार्योंके सम्प्रदाय निद्देस-कालमें नष्टप्राय हो चुके थे। इसलिए निद्देसका समय अशोकके बाद मानना पड़ेगा। इसी समय यह बनना बिगड़ना हुआ होगा।

१०३. उपर्युक्त पाँच सम्प्रदायोंके उपासकोंके नाम आनेके बाद हस्तिव्रतिक आदिके नाम आते हैं। हाथीका व्रत करनेवाले हस्तिव्रतिक थे। इन हस्तिव्रतिकों-मेंसे ही वर्तमान गणेश-पूजाका पंथ निकला होगा। अश्वका व्रत करनेवाले अश्वव्रतिक थे। घोड़ेकी पूजा ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके १६३ वें सूक्तमें मिलती है। इसलिए यह मान लेनेमें कोई हर्ज नहीं कि घोड़ेका व्रत रखनेवाले वेदकालसे ही मौजूद थे। गोव्रतिक और कुक्कुर-व्रतिकोंका परिचय मज्झिम निकायके कुक्कुरोवाद सुत्तमें मिलता है।

१०४. "एक समय भगवान् कोलिय[3] देशमें हरिद्रवसन नामक नगरके समीप रहते थे। उस समय गोव्रतिक पूर्ण कोलियपुत्र और सेनिय नामका नग्न कुक्कुर-व्रतिक भगवान्के पास आया। पूर्णने भगवान्से प्रश्न किया कि सेनियकी भविष्यमें

---

१ वि० ३।८६—८८

२. विनय, महावग्ग, महाक्खन्धक।

३. कोलिय शाक्योंके सम्बन्धी थे और उनका राज्य शाक्योंके राज्यके समीप ही था।

क्या दशा होगी ? भगवान्‌ने तीन बार उत्तर देनेसे इनकार किया। तिसपर भी पूर्णने पुनः वही प्रश्न किया। तब भगवान्‌ने कहा कि 'यदि ऐसा व्रत सम्पन्न हुआ तो मनुष्य कुत्तेकी सायुज्यताको प्राप्त होगा। पर यदि वह समझता हो कि ऐसे व्रतसे मैं देव बनूँगा तो वह इस मिथ्या दृष्टिके कारण नरकमें जायगा'। यह सुनकर सेनिय रोने लगा।

१०५. "तब भगवान्‌ने कहा—'हे मूर्ख, क्या मैंने पहले ही तुमसे यह नहीं कहा था कि यह प्रश्न मुझसे न करो?' इसके बाद सेनियने पूर्णके सम्बन्धमें प्रश्न किया। भगवान्‌ने उस प्रश्नका भी उत्तर देनेसे तीन बार इनकार किया। फिर भी चौथी बार वही प्रश्न किया गया। तब भगवान्‌ने पहलेकी ही तरह उत्तर दिया कि 'गायके व्रतसे या तो मनुष्य गायकी सायुज्यताको प्राप्त होगा या देव बननेकी मिथ्यादृष्टि हो तो नरकमें जायगा।' यह सुनकर पूर्ण रोने लगा। इसके बाद भगवान्‌ने उन दोनोंको उपदेश दिया। पूर्ण भगवान्‌का उपासक बना। सेनियने प्रव्रज्या ली। उसे चार महीनेके लिए परिवास दिया गया और उसके बाद वह भिक्षु-संघमें ले लिया गया। अनंतर शीघ्र ही वह अरहंत हुआ।"

१०६. निद्देसके उपर्युक्त उदाहरणमें इसके बाद कौओंके व्रतकी चर्चा है। बलिदानके रूपमें वह अब भी जारी है। यह विश्वास अब भी बना हुआ है कि यदि कौआ बलिको स्वीकार न करे तो अन्न पितरोंको नहीं पहुँचता। इससे कल्पना की जा सकती है कि काकव्रतिक कैसे होते थे।

१०७. महाराष्ट्रके पूना आदि जिलोंमें प्रातःकाल भिक्षा माँगनेवाले वसुदेव नामके जो लोग हैं उन्हें देखकर इसकी कुछ कल्पना की जा सकती है कि वासुदेव-व्रतिक कैसे हुआ करते थे। ये लोग मोर पंखकी ऊँची नोकदार टोपी और लंबा चोगा पहनते हैं। उस टोपी और चोगेपर कौड़ियाँ लगी होती हैं। वे प्रातःकालमें वासुदेवके गाने गाकर भीख माँगते हैं। इन लोगोंको देखकर इसकी कल्पना सम्भव है कि वासुदेवव्रतिक कैसे होते थे। बलदेवव्रतिक, पूर्णभद्रव्रतिक और मणिभद्रव्रतिक भी ऐसे ही रहे होंगे। पर उनके चिह्न भिन्न-भिन्न रहे होंगे।[२]

---

१. मध्यप्रदेशके सागर आदि जिलोंमें भी 'बसदेवा' सवेरे भिक्षा माँगते हुए देखे जाते हैं।—प्रकाशक।

२. वि० ३।११८ देखिए।

१०८. अग्निकी पूजा करनेवाले अग्निव्रतिक थे। वे जंगलोंमें रहकर या अपने घरोंमें अग्नि देवताकी पूजा करते थे। वे आज भी अग्निहोत्रियोंके रूपमें अल्प संख्यामें मौजूद हैं। नागपंचमीके दिन नागोंकी पूजा की जाती है। ऐसी पूजा हमेशा करनेवालोंको नागव्रतिक कहते थे। सुपर्णव्रतिक सुपर्णकी पूजा किस प्रकार किया करते थे यह कहा नहीं जा सकता। सुपर्णका अर्थ होता है गरुड़। वह विष्णु के वाहनके रूपमें अब भी प्रसिद्ध है, पर उसकी पूजा होनेकी बात सुननेमें नहीं आती। इसके अलावा यहाँ सुपर्ण बहुवचन है। अर्थात् एक गरुड़की नहीं, सब गरुड़ोंकी पूजा एक साथ की जाती थी।

१०९. यह बात महत्त्वकी है कि निद्देसके समय असुरोंकी पूजाका अस्तित्त्व था। महाभारतकी वृत्र गीतासे जान पड़ता है कि इस देशमें बहुत समयतक वृत्रासुरका सम्मान किया जाता था। इससे स्पष्ट है कि उस समय असुरोंकी पूजाका भी अस्तित्व था।

११०. गंधर्वका व्रत करनेवाले गंधर्वव्रतिक थे। वे नट-नर्तकादि रहे होंगे। चार महाराजाओंका परिचय पहले दिया जा चुका है।[1] जान पड़ता है कि उनमेंसे पश्चिम दिशाके महाराज विरूपाक्षकी महादेवके रूपमें पूजा होना निद्देसके समयमें जारी था; क्योंकि कालांतरमें महादेवका नाम विरूपाक्ष हुआ। वह नागोंका राजा था, इसलिए महादेवके गलेमें साँप रहता है।

१११. चंद्रका व्रत पालन करनेवाले चन्द्रव्रतिक थे। चन्द्रकी पूजा वेदोंमें तो है ही और वह इस समय भी मौजूद थी, यह स्पष्ट है। सूर्यकी पूजाका वेदोंमें बहुत वर्णन है। धीरे-धीरे सूर्यके मन्दिर बनवानेकी प्रथा आरंभ हुई। निद्देसके समय ऐसे मन्दिर मौजूद थे या नहीं, कहा नहीं जा सकता। तो भी यह मालूम होता है कि सूर्यकी मूर्तियाँ बनाई जाती रही होंगी। वराहमिहिरके समयमें सूर्यकी पूजाका काम मग नामके ब्राह्मणोंके हाथोंमें था और सूर्यकी मूर्तिकी पोशाक उच्च वर्गके पर्शियनोंकी पोशाककी तरह हुआ करती थी।[2]

११२. ह्युएनत्संगके समय सूर्यका मुख्य मन्दिर मुलतानमें था और उसकी मूर्ति सोनेकी थी जो जवाहिरातसे जड़ी हुई थी।[3] पर अलबेरूनीके कुछ काल

१. वि० ३।८–१२ देखिए.
२. बृहत्संहिता अ० ६।१९, और अ० ५८।४६
३, Buddhist Records ii, *274.*

पूर्व वह लकड़ीकी बनी हुई थी और उसपर चमड़ा मढ़ा हुआ था तथा उस आँखोंके स्थानपर दो लाल जड़े हुए थे। मुहम्मद इब्न अल कासिमने मुलतानपर विजय प्राप्त की, तब उसने देखा कि इस सूर्य-मन्दिरसे मुलतान बड़ा लाभ होता है। चारों ओरसे यात्री आकर मूर्तिकी पूजा करते हैं और इ बहुत धन एकत्र होता है। इसलिए उसने वह मूर्ति नहीं तोड़ी, केवल गोमांस एक टुकड़ा मजाकमें उस मूर्तिके गलेमें लटका दिया। बादमें इब्न सायिबा वह मूर्ति तोड़ी और वहाँके सारे पुजारियोंको मार डाला।[१]

११३. इस प्रकार मुसलमानों द्वारा उक्त मूर्तिका कई बार उच्छेद वि जानेपर भी, जान पड़ता है कि, मुलतानमें सूर्यकी पूजा औरंगजेबके समयत जारी थी। पर औरंगजेब द्वारा उक्त मन्दिर तोड़ डाला गया और सूर्य-पू नामशेष हो गई। तात्पर्य यह कि ईसवी सन्‌की सतरहवीं सदीतक मूर्तिके रूप सूर्यकी पूजा जारी थी और इस समय वह कुछ स्थानोंपर सूर्य-नमस्कारके रूप प्रचलित है।

११४. यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि निद्देसके समयमें इन्द्र, ब्रह आदि अनेक देवताओंकी पूजा हुआ करती थी। दिशाओंकी पूजा करनेव प्रथा बुद्धके समयमें थी ही। उसका उल्लेख दीघनिकायके सिगालोवाद सुत्त मिलता है। वह पूजा निद्देसके समयतक जारी थी। उसके बाद वह और कि समयतक जारी रही यह नहीं कहा जा सकता।

११५. निद्देसके बाद वासुदेवका उल्लेख पाणिनि व्याकरणमें मिलता है वह इस प्रकार—'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' ४।३।९८ इस सूत्रका यह अर्थ है वि वासुदेवमें जिनकी भक्ति है उन्हें वासुदेवक कहते हैं और अर्जुनमें जिनकी भक्ति है उन्हें अर्जुनक कहते हैं।

११६. बेस नगरमें एक शिलास्तम्भ मिला है। उसपर जो शिलालेख उससे जान पड़ता है कि भागचन्द्र महाराजके समय हेलियो दोरने वासुदेवक पूजाके लिए वह शिलास्तम्भ या गरुड़ध्वज स्थापित किया। इस लेखमें वासुदेवको देवोंका देव कहा गया है। यह शिलालेख ईसवी सन्‌के पूर्व पहली या अधिकसे अधिक दूसरी शताब्दिका होगा।

११७. निद्देस, पाणिनि व्याकरण और इस शिलालेखमें मिलनेवाले वासुदेवके

१. Alberunis' India, i, 116.

उल्लेखसे सर भांडारकर सिद्ध करना चाहते हैं कि ईसवी सन्के पूर्व तीसरी सदीमें वासुदेवकी भक्तिका पंथ मौजूद था। उनका कहना है कि भगवद्गीता और एकांतिक धर्मकी स्थापना उसी समयमें हुई।[1] पर कहना पड़ता है कि उनके इस प्रमाणसे हमारा समाधन नहीं होता। उनका कहना ठीक नहीं है, यही दिखानेके लिए निद्देसके उपर्युक्त उद्धरणका वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। उससे स्पष्ट दिखाई देगा कि वासुदेव देवता उस समय पूर्णभद्र, नाग, सुपर्ण आदि देवताओंके बराबर ही प्रसिद्ध था। अर्थात् उस पूजाको विशेष महत्त्व नहीं प्राप्त था।

११८. वासुदेवके भक्तोंको भागवत कहा गया है पर इससे यह मान लेनेका कोई कारण नहीं कि वासुदेव-भक्तोंका कोई बड़ा भारी पंथ था। वासुदेवभक्तोंको वासुदेव भगत कहते थे। उसी तरह शिवके भक्तोंको शिव भागवत कहते थे। 'अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां ठकूठञौ' ५।२।७६ इस सूत्रकी चर्चा करते हुए पतंजलिने शिव भागवतोंका उल्लेख किया है। इससे जान पड़ता है कि वे शिव-भागवत हाथमें लोहेका त्रिशूल लेकर घूमते थे। 'जीविकार्थे चापण्ये' ५।३।९९ इस सूत्रके भाष्यसे सिद्ध होता है कि ये लोग शिवकी मूर्ति द्वार-द्वार ले जाकर जीविका उपार्जन करते थे। इससे जान पड़ता है कि जैसे शिव-भागवत त्रिशूल और शिवकी मूर्ति लेकर अपना उदर-निर्वाह करते थे उसी प्रकार वासुदेवक या वासुदेव भागवत भी कुछ विशेष चिह्न धारणकर और वासुदेवकी मूर्ति साथ ले द्वार-द्वार घूमकर अपना उदर निर्वाह करते थे। इनके अतिरिक्त जो गृहस्थ शिवकी और वासुदेवकी पूजा करते थे उन्हें भी शिव भागवत और वासुदेव भागवत कहते थे।

१११. नंगुट्ठ जातकमें (नं० १४४) अग्निको भगवान् कहा है।[2] ग्वालियर राज्यमें पवाया (प्राचीन पद्मावती) गाँवमें मणिभद्रकी शिरोभग्न मूर्ति मिली है। उसके आधारपीठपर जो लेख है उससे मालूम होता है कि

---

१. Vaishnavism etc. p. 5.

२. सो एकदिवसं पच्चन्तगामके गोदक्खिणं लभित्वा तं गोणं अस्समपदं नेत्वा चिन्तेसि—अग्गि भगवन्तं गोणमंसं खादापेस्सामीति...अयं अग्गि भगवा अत्तनो सन्तकंपि रक्खितुं न सक्कोति।

मणिभद्रको भी भगवान् कहते थे[१]। इसलिए यह कल्पना करना अयुक्त होगा कि अग्निके पूजकोंको अग्नि भागवत, मणिभद्रके पूजकोंको मणिभद्र भागव और उसी प्रकार उपर्युक्त निद्देसके उद्धरणमें जिन्हें वतिक (व्रतिक) कहा गः है उन सबको उन देवताओंके भागवत कहा करते थे।

१२० अब यह प्रश्न उठता है कि अग्नि भागवतादि सब भागवत तो पी रहे, केवल वासुदेव भागवत ही आगे कैसे आ गये? इसका उत्तर सहज है शकोंका कुलदेवता महादेव होनेके कारण शकोंके समय वह सर्वश्रेष्ठ देव बना उसी प्रकार गुप्तराजाओंका कुल-देव वासुदेव होनेके कारण गुप्तराजाओंके समयः वह जगन्नियन्ता बना।

१२१. ऊपर बताया जा चुका है कि वासुदेव कृष्णका अस्तित्व वेद-कालः था और मध्य हिन्दुस्तानमें विभूति रूपसे उसकी पूजा हुआ करती थी। मेगा स्थनीजके कथनानुसार वासुदेव हिन्दुस्तानका हेराक्लेस था और उसकी पूज सौरसेनी लोगोंमें प्रचलित थी। इन लोगोंके दो मुख्य नगरोंमेंसे एक मथुरा था। आजकल जिस प्रकार बलदायक होनेकी दृष्टिसे हनुमानकी पूजा होती है, उसी प्रकार उस समय वासुदेवकी पूजा होती होगी। इसीलिए मेगास्थानीजने उसे हेराक्लेस कहा है। यूनानियोंको यह हेराक्लेस यहाँ मिल जानेके कारण हेलियो दोर जैसोंने यदि उसकी पूजा आरम्भ की हो, तो उसमें आश्चर्य क्या? पर इससे यह किसी तरह सिद्ध नहीं होता कि वासुदेवका एक स्वतन्त्र पन्थ था।

१२२. गुप्त राजा शकोंके शत्रु थे। शकोंका राज्य नष्ट करके उन्हें अपना

---

१. राज्ञः स्वामिशिवनन्दिस्य संवत्सरे चतुर्थे......मणिभद्रभक्त। गर्भ-सुखिताः भगवतो मणिभद्रस्य प्रतिमा प्रतिष्ठापयन्ति। गौष्ठ्यं भगवा आयु बलं वाचं कल्याणाभ्युदयं च प्रीतो दिशतु। ब्राह्मणस्य गोतमस्य कुमारस्य ब्राह्मणस्य रुद्रदासस्य शिवत्रातायें संभूतस्य जीवस्य खंजबलस्य शिवनेमिस्य शिवभद्रस्य कुमकस्य धनदेवस्य...।

श्री मो० ब० गर्देके लेखसे यह उद्धरण लिया गया है (Archaeological Survey of India, Annual Report 1915-16, pp. 105-6 देखिये।) यह ध्यानमें रखने योग्य बात है कि मणिभद्रके भक्तोंमें दो ब्राह्मण थे।

२. Vaishnavism etc. P. 13.

राज्य स्थापित करना था। अतः उन्होंने शकोंके महेश्वर देवताको अपना कुलदेव नहीं बनाया। पर उन्हें उसी प्रकारके किसी बलवान् एतद्देशीय कुलदेवकी आवश्यकता थी और उन्हें वासुदेव मिल गया। उनका कुलदेव वासुदेव होते ही ब्राह्मणोंने उसका महत्त्व बढ़ानेमें अपनी शक्ति लगाना आरम्भ कर दिया।

१२३. गुप्त राजा सबसे समानताका व्यवहार करनेवाले थे। फलतः सर्वत्र फैले हुए महादेवका ही नहीं, महादेवके लिंगोंका भी उन्होंने उच्छेद नहीं किया। महादेवके परम भक्त वाकाटक राज-वंशके द्वितीय रुद्रसेनको द्वितीय चन्द्रगुप्तने अपनी पुत्री प्रभावती ब्याह दी थी।[१] उनके इस व्यवहारसे महादेव मूर्ति रूपमें या लिंग रूपमें, ज्योंका त्यों बना रहा। पर वे स्वयं वासुदेवके भक्त थे, इस कारण वासुदेवका भी महत्त्व बढ़ता गया। यदि गुप्तोंने वासुदेवको अपना कुल-देव न बनाया होता तो इस समय वासुदेवका कहीं पता भी न लगता, और पांचरात्रादि प्रकरणोंमें जो एकान्तिक धर्म प्रतिपादन किया गया है वह भी उत्पन्न न हुआ होता, विविध रूपमें केवल एक महादेवकी पूजा बच रही होती।

१२४. शकोंके ह्रास-कालमें जिस प्रकार महादेवका रूपान्तर लिंगमें हुआ, उसी प्रकार गुप्तोंके अवनति कालमें वासुदेवका रूपान्तर व्यभिचारी गोपालमें हुआ। इन राजाओंकी विलासिता जैसे-जैसे बढ़ती गई वैसे-वैसे वासुदेव भी विलासी और व्यभिचारी बनाया गया। कुछ लोग कहते हैं कि वासुदेवका वह रूपान्तर बहुत अर्वाचीन है। पर गुप्तोंके समकालीन कालिदासके "बर्हेणेव-स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णोः"[२] इस वचनसे यह सिद्ध होता है कि उनके समयमें वासुदेवको विलासी गोपालका स्वरूप मिलने लगा था।

महाभारत

१२५. 'अल्बेरूनीके भारतमें' पुराणोंकी निम्नलिखित सूचियाँ मिलती हैं[३]—

१. Political History of Ancient India pp .346–47

२. मेघदूत, श्लोक १५.

३. Alberuni's India, 130–131

१ आदि	१ ब्रह्म
२ मत्स्य	२ पद्म
३ कूर्म	३ विष्णु
४ वराह	४ शिव
५ नरसिंह	५ भागवत
६ वामन	६ नारद
७ वायु	७ मार्कण्डेय
८ नन्द	८ अग्नि
९ स्कन्द	९ भविष्य
१० आदित्य	१० ब्रह्मवैवर्त
११ सोम	११ लिङ्ग
१२ साम्ब	१२ वराह
१३ ब्रह्माण्ड	१३ स्कन्द
१४ मार्कण्डेय	१४ वामन
१५ तार्क्ष्य	१५ कूर्म
१६ विष्णु	१६ मत्स्य
१७ ब्रह्म	१७ गरुड
१८ भविष्य	१८ ब्रह्माण्ड

१२६. इन दो सूचियोंमेंसे दूसरी विष्णुपुराणके आधारपर दी गई है। पहली सूचीके कुछ पुराण दूसरी सूचीमें और दूसरीके कुछ पहली सूचीमें नहीं हैं। तो भी गुप्तोंके समयमें इन पुराणोंकी रचना हुई होगी। निद्देसके उपरिनिर्दिष्ट उद्धरणके आदित्य, सोम, ब्रह्म, अग्नि और गरुड़ देवता इन सूचियोंमें भी मिलते हैं। ऐसे देवताओंकी कुछ दन्तकथाएँ उनके भक्तोंमें प्रचलित थीं ही। उन्हें एकत्रकर और उनमें कुछ नई जोड़कर ये पुराण रचे गये होंगे। मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह और वामन इन देवताओंका उल्लेख निद्देसमें नहीं है। तो भी बाबिलोनियन दन्तकथाओंमें इन देवताओंकी चर्चा होगी और उन्हीं दन्तकथाओं-के आधारपर इन पुराणोंकी रचना हुई होगी। इन सब पुराणोंका अच्छी तरह अध्ययनकर उनका सारांश ढूँढ़ निकालना बड़ा कठिन है। इसके लिए

जितना समय चाहिए वह मेरे पास नहीं है, इसलिए वह काम अपने उत्तरवर्ती लेखकोंके लिए छोड़कर मैं महाभारतकी ओर आता हूँ।

१२७. उक्त सूची देकर अल्बेरूनीने महाभारतका उल्लेख किया है और उसके अठारह पर्वोंकी सूची दी है। उसका कहना है कि उसमें उन्नीसवें हरिवंश-पर्वका भी समावेश होता है। इससे जान पड़ता है कि अल्बेरूनीके समयमें महाभारत प्रायः आजके ही स्वरूपमें था।

१२८. परन्तु इस महाभारतका समय निश्चित करना प्रायः असम्भव है। उसमें मूल भाग कौन-सा है और प्रक्षिप्त कौन-सा, यह बताना किसीके लिए भी सम्भव नहीं। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि भारत काव्यको महाभारतका स्वरूप गुप्तोंके राज्यकालमें मिला। कारण उसमें अनेक स्थानोंपर हूणोंका निर्देश है। हूणोंका सामना स्कन्दगुप्तको करना पड़ा था। उसके भिटारी शिलास्तम्भ-लेखसे जान पड़ता है कि ईसवी सन् ४५५ के लगभग उसने हूणोंको पराजित किया। तो भी हूणोंके आक्रमण ईसवी सन् ५२८ तक जारी ही रहे।[१] यह माननेमें कोई हानि नहीं कि इस कालमें या इसके बाद महाभारतको वर्तमान स्वरूप प्राप्त होने लगा था। तथापि ईसवी सन्‌की तेरहवीं शताब्दीतक उसमें बराबर वृद्धि होती गई होगी।

१२९. जान पड़ता है कि वनपर्वका १९० वाँ (कुम्भकोण, १९३ वाँ) अध्याय या उसका बहुत-सा भाग मुहम्मद गोरीके आक्रमणोंके बाद लिखा गया होगा। बहुत-से पण्डितोंका यह खयाल है कि यह सारा अध्याय बौद्धोंको लक्ष्य करके है। इस भ्रमके होनेका मुख्य कारण 'एडूकान्पूजयिष्यन्ति' यह वाक्य है। यह सारा गड़बड़झाला इस कारण हुआ कि पाश्चात्य विद्वानोंने 'एडूक' शब्दका अर्थ बौद्धोंका स्तूप किया और हमारे पौरस्त्य पण्डितोंने भी उन्हींके सुरमें सुर मिला दिया।

१३०. बौद्ध या वैदिक साहित्यमें एडूक शब्दका स्तूप अर्थ नहीं मिलता। अमरकोषमें यह वाक्य है—'भित्तिःस्त्रीकुड्यमेडूकं यदन्तर्न्यस्तकीकसम्'। उसका अर्थ यह है कि 'भित्तिः शब्द स्त्रीलिङ्ग है, कुड्य भी भित्तिवाचक शब्द है। उसमें और एडूकमें केवल यही अन्तर है कि जिस दीवारमें कठिन पदार्थ डाला

१. The Early History of India pp. 326–337

हुआ हो उसे एड्रूक कहते हैं'। कीकस शब्दका साधारण अर्थ हड्डी है। टीकाकार (महेश्वरभट्ट) कहता है[1] कि यहाँ उक्त शब्द उपलक्षणसे कठि द्रव्यवाचक है; और यह बिलकुल ठीक भी है। इसका सरल अर्थ यह है जिस भीतमें मजबूतीके लिए लकड़ी या बाँस डाल दिये जाते हैं या बीच-बीच पत्थर आदिके खम्भे डाले जाते हैं उस भीतको एड्रूक कहना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानोंने कीकसका अर्थ हड्डी मान लिया, इसलिए उनकी बुि एकदम बौद्धोंके स्तूपकी ओर गई, और यह वे बिलकुल भूल गये कि भीतव एड्रूक कहते हैं तथा उनके ध्यानमें यह बात बिलकुल न रही कि भीत औ स्तूपमें बहुत अन्तर है।

१३१. तो फिर उपर्युक्त अध्यायमें बताये गये ये एड्रूक क्या हैं? इ अध्यायका अच्छी तरह अवलोकन किया जाय, तो इस प्रश्नका उत्तर देन कठिन नहीं होगा।

म्लेच्छीभूतं जगत्सर्वं निष्क्रियं यज्ञवर्जितम्।
भविष्यति निरानन्दमनुत्सवमथो तथा ॥ २९ ॥

(सारा संसार म्लेच्छमय होगा। उसमें यज्ञ-यागादि क्रियाएँ, आनन्द औ उत्सव न रहेगा।) बौद्धोंके समयमें हिंसात्मक यज्ञ-यागादि क्रियाएँ भले ही नष्ट हो गई हों, तो भी वे अहिंसात्मक अग्निहोत्रादिके रूपमें प्रचलित थीं; आनन्दमय उत्सव तो प्रथमतः अशोक राजाने आरम्भ किये थे।[2] और बौद्धोंके

---

१. कीकसं कठिनद्रव्यस्योपलक्षणम्।

२. ते अज देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो धंमचरणेन भेरीघोसो अहो धमघोसो।—चतुर्थ शिलालेख।

"कन्नौज राजधानीकी आग्नेय दिशामें एक भव्य विहार है। उसकी नींव पत्थरकी, दीवारें ईंटोंकी और ऊँचाई दो सौ फुट है...उसके दक्षिण ओर कुछ दूरपर आदित्यदेवका मन्दिर और उसके दक्षिण कुछ दूरपर महेश्वरका मन्दिर है। तीनों स्थानोंपर झाड़ू देने और पानी आदि लानेके लिए एक-एक हजार नौकर हैं, और इन मन्दिरोंमें दिनरात बराबर गायन-वादन होता रहता है।" (Buddhist Records ii, 222-223). हुएन्त्संगके इस वर्णनसे स्पष्ट है कि उसके समयमें भी बौद्ध-मन्दिरोंमें गायन-वादनका जयघोष हुआ करता था।

विहारोंमें वे अब भी जारी हैं। ऐसे ही एक बौद्ध उत्सवके कारण १९१५ में सीलोनमें बौद्धों और मुसलमानोंमें दंगा भी हो गया था। इसलिए यह भविष्यवाद करना सरासर भूल होती कि बौद्धोंके समयमें आनन्द उत्सव बन्द हो जायेंगे।

१३२. अब यह दूसरा श्लोक लीजिए—

हाहाकृता द्विजाश्चैव भयार्ता वृषलार्दिताः।
त्रातारं अलभन्तो वै भ्रमिष्यन्ति महीमिमाम् ॥ ५१ ॥

(वृषलोंसे पीड़ित अतः भयभीत ब्राह्मण कोई संरक्षक न मिलनेके कारण हाहाकार करते हुए सारे संसारमें मारे-मारे घूमेंगे।) बौद्धोंके उन्नति-कालमें ऐसा होनेकी बात कमसे-कम हमें तो मालूम नहीं है। अशोकने तो अपने शिला-लेखोंमें अनेक स्थानोंपर कहा है कि श्रमणोंके साथ-साथ ब्राह्मणोंका भी सम्मान करना चाहिए और उन्हें दान देना चाहिए। ब्रह्मदेश और स्याममें, जहाँ ब्राह्मण बिलकुल नहीं थे, वहाँ भी बौद्ध राजाओंने ब्राह्मण बुलाये और उन्हें वार्षिक वृत्ति देकर अपने पास रख लिया। आजकल ब्रह्मदेशमें राजाश्रय न होनेके कारण ब्रह्मी ब्राह्मणोंकी बड़ी दुर्दशा है। तो भी प्राचीन राजगुरु तथा अन्य कुछ ब्राह्मण-वंशजोंको ब्रह्मदेशके बौद्धोंकी ओरसे अब भी सहायता मिलती है। स्याममें तो उन्हें राजाश्रय है ही, सिंहलद्वीपमें भी यदि कोई सुशिक्षित ब्राह्मण जाता है तो उसका अच्छा सम्मान होता है, यह तो स्वयं लेखकका अनुभव है। इसलिए यह कहना क्या विलक्षण नहीं है कि बौद्धोंके समयमें कोई त्राता न मिलनेके कारण ब्राह्मण हाहाकार करते हुए इधर उधर भटकते फिरेंगे?

१३३. विपरीतश्च लोकऽयं भविष्यत्यधरोत्तरः ॥
एण्डूकान्पूजयिष्यन्ति वर्जयिष्यन्ति देवताः।
शूद्राः परिचरिष्यन्ति[1] न द्विजान्युगसंक्षये ॥ ६५ ॥
आश्रमेषु महर्षीणां ब्राह्मणावसथेषु च।
देवस्थानेषु चैत्येषु नागानामालयेषु च ॥ ६६ ॥

१. कुम्भकोण—शूद्रा प्रभविष्यन्ति न द्विजा युगसंक्षये।

एण्डूकचिह्ना पृथिवी न देवगृहभूषिता।
भविष्यन्ति युगे क्षीणे तद्युगान्तस्य लक्षणम् ॥ ६७ ॥

(यह लोक-समाज ऊपरका नीचे और नीचेका ऊपर होकर विपरीत होने वाला है। लोग एडूकोंकी पूजा करेंगे और देवताओंका बहिष्कार करेंगे युगान्तके समय शूद्र द्विजोंकी सेवा न करेंगे। महर्षियोंके आश्रमोंमें, ब्राह्मणोंके वासस्थानोंमें, देवस्थानोंमें, चैत्योंमें और नागोंके गृहोंमें, इन सब स्थानोंमें सेवा न करेंगे। जब युग क्षीण होता जायगा तब पृथिवी एडूक-चिन्होंसे अङ्कित होगी, देवालयोंसे भूषित न होगी। यह युगान्तका लक्षण समझा जाय इन श्लोकोंमें लेखक कहता है कि महर्षियोंके आश्रमोंमें, ब्राह्मणोंके देवस्थानोंमें और चैत्योंमें शूद्र लोग सेवा न करेंगे। यहाँ चैत्यका अर्थ है बौद्धोंका स्तूप अर्थात् इस लेखकका बौद्धोंसे विरोध नहीं था। उलटे उसे यह बात बुरी लगती है कि चैत्योंमें परिचर्याके लिए शूद्र नहीं मिलते।

१३४. एक अनुवादकने 'आश्रमेषु महर्षीणां...' इस श्लोकका सम्बन्ध 'एडूकचिह्ना पृथिवी...' इस श्लोकसे जोड़ा है। इस अवस्थामें उसका अर्थ यह होगा कि 'महर्षियोंके आश्रमोंमें, ब्राह्मणके वासस्थानोंमें, देवस्थानोंमें चैत्योंमें तथा नागगृहोंमें पृथिवी एडूक-चिह्नोंसे अङ्कित होगी, उन स्थानोंपर वह देवगृहोंसे भूषित न रहेगी।' कोई भी अर्थ लिया जाय, एडूकका अर्थ बौद्धोंका चैत्य सिद्ध नहीं होता, उलटे लेखक यह कहता है कि बौद्धोंके चैत्योंमें ही एडूक होंगे।

१३५. अब क्या यह बतानेकी आवश्यकता है कि एडूक क्या है? इस देशपर जब मुसलमानोंकी चढ़ाइयाँ होने लगीं तब उन्होंने इस देशमें बड़ी-बड़ी मसजिदें न बनाकर ईदगाहें बनाना आरंभ किया। ईदगाह एक दीवार होती है जिसके सामने नमाज पढ़ी जाती है। ईदगाह हो या मसजिद हो, उसमें केवल दीवार होती है। वहाँ देवताओंके लिए मनाही होगी ही। ईदगाह या मसजिदके आसपास बाजा बजाकर या अन्य प्रकारसे आनन्दोत्सव करनेका क्या परिणाम होता है, यह इस समय सभी जानते हैं। इसलिए इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह अध्याय मुसलमानोंके आक्रमणके बाद लिखा गया है।

१. श्लोकाङ्क कुम्भकोण-संस्करणके अनुसार दिये गये हैं।

१३६. मुसलमानोंकी पहली चढ़ाई ईसवी सन् ७१२ में हुई। तत्कालीन खलीफाने बहुत-सी सेना लेकर मुहम्मद इब्न कासिमको हिन्दुस्तान भेजा। उसने मुलतान आदि नगर जीते, तथापि भयङ्कर विध्वंस नहीं किया। उसके बाद दूसरे कुछ मुसलमान पञ्जाब और सिन्धमें आये। उन सबमें बड़ा विध्वंसक गजनीका महमूद था। उसने हिन्दुस्तानमें अनेक मन्दिरोंका विध्वंस किया और वह ब्राह्मणों तथा बौद्ध भिक्षुओंका बराबर उच्छेदन करता रहा। उसके इन आक्रमणोंसे चारों ओर हाहाकार मच गया। तथापि उसने मन्दिरों और चैत्योंके स्थानपर ईदगाह और मसजिदें नहीं बनवाईं। यह काम मुहम्मद गोरीने किया।

१३७. यह आगे बताया जायगा कि पाशुपतोंके अत्याचारोंसे बौद्ध और जैन पन्थोंमें क्षीणता आती गई, तो भी मुहम्मद गोरीके आक्रमणोंतक पूर्वके प्रान्तोंमें बौद्धोंके चैत्य और विहार बने रहे। ईसवी सन् ११९७ के लगभग मुहम्मद बख्त्यारने केवल दो सौ घुड़सवारोंके साथ बिहारप्रान्तके एक प्रमुख नगरमें प्रवेश किया और वहाँसे मुण्डित ब्राह्मणोंका अर्थात् बौद्ध भिक्षुओंका समूल उच्छेद कर डाला। मुहम्मदको लूटमें बहुत-सा माल मिला। पर ऐसा एक भी मनुष्य नहीं बच गया था जो वहाँके पुस्तकालयकी पुस्तकें पढ़कर बताता कि उनमें क्या है। इसके बाद उसे मालूम हुआ कि परकोटेवाला वह नगर एक मदरसा (विद्यापीठ) था और हिन्दुस्तानकी भाषामें उसे विहार कहते हैं।[1]

१३८. मुहम्मद गोरी और उसके सरदार किसी प्रकारका भेद-भाव न कर श्रमणों और ब्राह्मणोंका समान रूपसे संहार कर रहे थे। इस अवस्थामें भी इस भविष्य-वक्ताको यही बात बुरी लगती है कि ब्राह्मणोंके मन्दिरों और बौद्धोंके चैत्योंमें शूद्र सेवा करना नहीं चाहते। मुसलमानोंने चाहे जितना अत्याचार किया हो फिर भी उनके आक्रमणोंसे निम्न जातिके दलित लोगोंका थोड़ा-बहुत लाभ अवश्य हुआ होगा। ब्राह्मणोंके अन्न-सत्रों तथा देवालयों और बौद्धोंके विहारोंको जो बड़ी-बड़ी जागीरें लगी थीं उनके असामियोंपर कैसा जुल्म होता होगा, इसका

---

१. The Early History of India, pp. 419–20. मुहम्मद गोरीके ही सरदार कुतुबुद्दीनने सारनाथके बौद्ध विहारका नाश किया। वि० ३।२१९ देखिए।

अनुमान आजकल की जमींदारी प्रथासे किया जा सकता है। मुसलमानोंके आक्रमणोंने इन दलित लोगोंको स्वतन्त्र किया, उसके कारण ब्राह्मणों और भिक्षुओंको सेवाके लिए शूद्र न मिलनेसे उन्हें युग-क्षयका भास होने लगा! मुसलमानोंका एका देखकर भी उनकी आँखें नहीं खुलीं, शूद्रोंके सम्बन्धमें उनकी तुच्छ बुद्धि यत्किञ्चित् भी कम न हुई!

१३९. ऊपरके विवेचनसे प्रकट हो जाता है कि महाभारतका यह अध्याय, कमसे कम उसका उपर्युक्त विषय मुहम्मद गोरीके आक्रमणके बाद लिखा गया है। अतः उसका समय तेरहवीं सदी होता है। महाभारतमें ऐसे और भी अनेक प्रकरणोंका होना सम्भव है पर इससे कोई यह न समझ ले कि महाभारत अत्यन्त अर्वाचीन है। उसमें कुछ कथाएँ प्राचीनतम हैं। उदाहरणार्थ, ऊपर बतलाई हुई वृत्रकी ही कथा लीजिए। वृत्र विष्णुका भक्त था। यह कथा वेदोंके पूर्वकी है। महाभारतकी वृत्र-कथा उसी कथा का पौराणिक ढंगसे किया हुआ वर्णन ही हो सकता है। हमारा कहना केवल यह है कि इस महाभारतमें तेरहवीं सदीतक बराबर वृद्धि होती गई है।

१४०. आदि पर्वके पहले ही अध्यायमें व्यास कहते हैं—

> अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
> अहं वेद्मि शुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा न वा ॥ ८१ ॥

(आठ हजार और आठ सौ श्लोक मैं जानता हूँ और शुक जानता है, पर सञ्जय जानता है या नहीं भी जानता।) अर्थात् महाभारत के मूल श्लोक आठ हजार आठ सौ थे और वे भी सञ्जयको मालूम नहीं थे। ऐसी अवस्थामें छोटेसे बीजसे जैसे बड़ा वटवृक्ष होता है वैसे ही महाभारत थोड़ेसे श्लोकोंसे एक लाख श्लोकोंका बन गया। इसमें मूलके श्लोक कौनसे और प्रक्षिप्त कौनसे हैं, यह ढूँढ़ निकालना किसीके लिए भी सम्भव नहीं।

१४१. मूलकथा चाहे छोटी ही रही हो फिर भी गुप्त राजाओंके समयमें ही उसमें वृद्धि होना आरम्भ हो गया था। उन्हें शकोंका सामना करना था और इसके लिए लोगोंमें युद्ध-प्रेम उत्पन्न करनेके हेतु उन्होंने इस महाभारतका

उपयोग किया होगा। उनकी कृपादृष्टि होते ही इस ग्रन्थमें चाहे जिसने, चाहे जो जोड़ना शुरू किया; और यह काम बराबर तेरहवीं सदीतक जारी रहा; यह बात उपर्युक्त विवेचनसे साफ देख पड़ती है।

१४२. इसमें ऐसी-ऐसी विलक्षण कथाएँ भरी पड़ी हैं कि रह-रहकर आश्चर्य होता है कि हमारे पूर्वजोंने उनपर विश्वास कैसे कर लिया ? पहले तो लेखकोंने सामान्य जनताके लिए यह जाल बुना होगा, पर बादमें उनके ही वंशज इस जालमें मकड़ीकी तरह खुद ही फँसते गये। ऐसी अद्भुत कथाओंके एक-दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

१४३. "व्यासने गान्धारीको वरदान दिया कि "तुझे सौ पुत्र हों'। गान्धारी गर्भवती हुई। पर दो वर्षतक बच्चा ही न हुआ। इस बीच खबर मिली कि कुन्तीको पुत्र हुआ है। यह सुनकर गान्धारीने अपना पेट पीट लिया। इससे उसके पेटसे मांसका एक गोला निकल पड़ा। यह जानकर व्यासजी तुरन्त वहाँ आये और सौ घड़े घीसे भरवाकर सुरक्षित स्थानपर रखवाये तथा उस गोलेको ठण्डे पानीसे धुलवाने लगे। धुलते समय उसके अंगुलीके पोर बराबर एकसौ एक टुकड़े हो गये। वे टुकड़े उन घीके घड़ोंमें रखवाकर व्यासजी चल दिये। उनमेंसे प्रथम दुर्योधन निकला......अनन्तर और पुत्र निकलकर पूरे सौ हुए तथा एक महीने बाद एक कन्या निकली" (आदिपर्व, अ० ११५)[1]। यह कथा इतनी असम्भव है कि इसपर किसीका भी विश्वास होना सम्भव नहीं जान पड़ता। तथापि सौ-पचास वर्ष पहले इस कथाको ऐतिहासिक समझनेवाले हम लोगोंमें बहुत-से थे, और अब भी गाँव-खेड़ोंमें बहुत-से मिल जायेंगे।

१४४. दूसरी एक कथा खाण्डव वन जलानेकी है।[2] "अग्नि ब्राह्मण-वेशमें आकर कृष्णार्जुनसे अपनी तृप्तिके लिए कुछ माँगने लगा। उन्होंने पूछा—'कौन-सा अन्न चाहिए'। उसने कहा—'मुझे अन्न न चाहिए, पर यह खाण्डव वन खानेको चाहिए। इन्द्र उसका रक्षण करता है, इसलिए उसे मैं खा नहीं सकता। मेरे सुलगते ही इन्द्र पानी बरसा देता है।"

---

१. औंध-संस्करण। कुम्भकोण अ० १२९।

२. आदिपर्व, औंध-संस्करण अ० २२५–२३० कुम्भकोण, अ० २४९–२५४।

१४५. "यह कथा सुनकर जनमेजय पूछते हैं—'पर अग्नि खाण्डव वनको क्यों जलाना चाहता था?' वैशम्पायन बोले, 'श्वेतकि नामके राजाको यज्ञ करनेकी बड़ी चाट लगी। ऋत्विज धुएँसे ऊबकर, यज्ञ छोड़ भाग गये। उनकी अनुमतिसे दूसरे ऋत्विज लाकर वह यज्ञ-सत्र समाप्त किया गया। अनन्तर श्वेतकिने सौ वर्षोंमें समाप्त होनेवाला यज्ञ-सत्र करनेका विचार किया। वह ब्राह्मणोंके पैरों पड़ा, उन्हें दान दिया, पर श्वेतकिके यज्ञोंके लिए कोई ब्राह्मण आया नहीं। उन्होंने क्रुद्ध होकर कहा—हम थक गये हैं, तुम रुद्रको ही बुलाकर उससे अपना यज्ञ करवाओ।' तब उस राजाने कैलासमें जाकर उग्र तप किया। उससे शंकरने प्रसन्न होकर वर माँगनेके लिए कहा—श्वेतकिने वर माँगा, 'तुम ही मेरे यज्ञोंके ऋत्विज बनो'; पर महादेवके लिए याजक होना सम्भव नहीं था। उसने श्वेतकिसे बारह वर्षपर्यन्त निरन्तर घृत-धारासे अग्निपूजा करनेके लिए कहा। श्वेतकिके ऐसा करनेपर महादेव प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा मेरा ही अवतार दुर्वासा ऋषि अब तुम्हारे यज्ञोंमें ऋत्विज बनेगा।[1]

१४६. "तदनुसार श्वेतकिने यज्ञकी तैयारी की और तब महादेवने दुर्वासाको भेजा। वह यज्ञ बहुत बड़ा हुआ। उससे अग्निको विकार हो गया, वह निस्तेज हुआ और उसे बहुत ग्लानि हुई। उसने ब्रह्मदेवके पास जाकर उसका इलाज पूछा। ब्रह्मदेवने कहा—'बारह वर्ष आहुति खानेके कारण तुम्हें यह रोग हुआ है। पर तुम चिन्ता न करो। खाण्डव वनके सारे प्राणियोंकी चर्बी खानेसे तुम्हारा यह रोग अच्छा हो जायगा।' अग्नि खाण्डव वन जलाना आरम्भ करता था और वहाँके प्राणी उसे बुझा देते थे। ऐसा सात बार हुआ।

१४७ "तब अग्नि क्रुद्ध होकर ब्रह्मदेवके पास गया। ब्रह्मदेवने उसे वासुदेवार्जुनके पास भेजा। अनन्तर कृष्णार्जुनने बड़ी तैयारी करके खाण्डव वन अग्निसात् करना आरम्भ किया। उस समय खाण्डव वनके प्राणियोंकी कैसी स्थिति हुई, उसका भयावना वर्णन २२८वें अध्यायमें है। उसे पढ़नेसे महमूद गजनवीके आक्रमणोंका वर्णन बिल्कुल फीका मालूम पड़ता है। ऐसे सङ्कटके समय वहाँके प्राणी इन्द्रकी शरणमें गये। इन्द्रने एकदम पानी बरसाया। वर्षाको

१. कुम्भकोण, अ० २५२.

रोकनेके लिए अर्जुनने बाणोंसे आकाश आच्छादित कर दिया। उस समय तक्षक नाग कुरुक्षेत्रमें था। उसका पुत्र अश्वसेन आगमें फँस गया। उसे बचानेके लिए उसकी माँ उसे निगल गई और भागने लगी। अर्जुनने बाण चलाकर उसका सिर काट डाला। अश्वसेन उसके पेटसे बाहर निकला। उसकी रक्षा करनेके लिए इन्द्रने वायुप्रहार छोड़कर अर्जुनको मोहित किया, इससे अश्वसेन बच गया...

तस्मिन्वने दह्यमाने षढग्निर्न ददाह च।
अश्वसेनं मयं चैव चतुरः शार्ङ्गकांस्तथा॥

(वह वन जलाये जानेके समय अश्वसेन, मय और चार शार्ङ्गक अर्थात् शार्ङ्ग पक्षीके बच्चे, केवल ये छः प्राणी अग्निने नहीं जलाये।)[१]

१४८. यहाँ इस कथाका केवल सारांश दिया है। इससे दिखाई देगा कि इस कथामें अथसे इतितक तारतम्यका कहीं नाम भी नहीं है। अग्निको घीसे मन्दाग्नि हुई पर उसकी ओषधि क्या निश्चित की गई? खाण्डव वनके प्राणियोंकी चर्बी। अधिक घृत खानेसे उत्पन्न रोग चर्बी खानेसे अच्छा होता है, यह एक अपूर्व बात है! ब्रह्मदेव सब प्राणियोंका पितामह है पर वही खाण्डव वनके प्राणियोंको खा डालनेकी अग्निको सलाह देता है! वासुदेव और अर्जुनका खाण्डव वनके प्राणियोंसे कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसी अवस्थामें वे वहाँके प्राणिका संहार करते हैं! इतना ही नहीं, अश्वसेनके भाग जानेके कारण क्रुद्ध होकर वे और अग्नि सभी नागोंको शाप देते हैं! इन्द्र अर्जुनका पिता था।[२] दूसरे अवसरपर अर्जुनकी रक्षाके लिए वह ब्राह्मण-का वेश धारण कर कर्णका कवच-कुण्डल ले जाता है, और इस अवसरपर अर्जुनसे ही युद्ध करता है! इसलिए वारंवार सन्देह होता है कि ऐसी असम्बद्ध कथाएँ रचनेवालोंकी बुद्धि ठिकाने भी थी या नहीं!

१४९. यह सम्भव है कि इन कथाओंके पीछे थोड़ा-सा सत्य छिपा हुआ हो। कृष्ण और इन्द्रका युद्ध होनेका उल्लेख पहले विभागमें हुआ है।[३] उसमें

१ औंध, अ० २३०।४७; कुम्भकोण, अ० २५४।४७

२. औंध, आदिपर्व, अ० १११।२७–२८; कुम्भकोण, अ०१२०।४६–४८।

३. वि० १।४८–५४।

इन्द्रको पीछे हटना पड़ा। अनन्तर कृष्णने द्वारकाकी ओर जानेका प्रयत्न किया होगा। पर मार्गमें इस खाण्डव वनमें ऐसे कुछ लोगोंकी टोलियाँ थीं जो उसके मार्गमें बाधा डालने लगीं। तब कृष्णने आग लगाकर सम्पूर्ण वन भस्म किया और अपना रास्ता साफ कर लिया। सम्भव है कि मूलरूप ऐसा ही कुछ रहा हो और उसे वर्तमान महाभारतमें यह अत्यन्त विलक्षण भयानक स्वरूप मिला हो। पर महाभारतकी ऐसी कथाओंमें कोई ऐतिहासिक सत्य ढूँढ़ निकालना अलकतरेमेंसे चीनी निकालनेके समान ही कठिन काम है और अनेक स्थानोंपर तो वह प्रयत्न बालूसे तेल निकालनेके उद्योगके समान निष्फल है। इसलिए महाभारतका यह परीक्षण यहीं समाप्त कर अब उसके उस प्रकरणपर विचार किया जाता है जो आजकल लोकमान्य है।

भगवद्गीता

१५२. कौरव और पाण्डवोंकी सेनाएँ आमने-सामने डट गईं। तब अर्जुनके मनमें यह प्रश्न उठा कि अपने सम्बन्धियोंको कैसे मारा जाय और वह खिन्न होकर बैठ गया। उस समय कृष्णने उसे अनेक प्रकारसे उपदेश देकर युद्धके लिए प्रवृत्त किया। गीताका यही सार है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि ग्रन्थकारको कोई विशिष्ट तत्त्व ज्ञान बतलाना था, तो उसने उसे ऐसे अवसरपर क्यों ठूँसा। गीताके निरीक्षणसे मालूम होता है कि ग्रन्थकारका उद्देश्य कोई एक विशिष्ट तत्त्व-ज्ञान बतलाना नहीं है। अर्जुन युद्ध नहीं चाहता। उसे तरह-तरहकी युक्तियोंसे लड़ाईके लिए प्रवृत्त करना, केवल यही इस ग्रन्थका उद्देश्य है। तथापि इसमें अनेक तत्त्व-दृष्टियोंका ऐसा संमिश्रण किया गया है कि उससे विद्वान् कहलानेवालोंको भी भ्रम हो जाता है।

१५१. उदाहरणार्थ, दूसरे अध्यायको लीजिये। "यह आत्मा जन्म नहीं लेता और न मरता है। यह जन्मा था या आगे जन्म लेगा, ऐसा नहीं है। यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीरकी हत्या होनेपर भी इसकी हत्या नहीं होती।" (२०) इस प्रकार आत्माका अजरामरत्व सिद्ध करके भगवान् कहते हैं—"अब यदि तुम यह भी मानते हो कि यह आत्मा सदा जन्म लेता है और सदा मरता है तो भी, हे महाबाहो, इसके लिए शोक करना

तुम्हें उचित नहीं। कारण जिसका जन्म हुआ, उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मर गया, उसका जन्म लेना निश्चित है। अतः इस अनिवार्य बातके लिए शोक करना तुम्हें योग्य नहीं। ये प्राणी जन्मसे पूर्व अव्यक्त स्थितिमें रहते हैं; अनन्तर व्यक्त होते हैं, और मरनेके बाद पुनः अव्यक्त होते हैं। अतः उनके लिए शोक क्यों किया जाय ?" (२६–२८)। अर्थात् भगवानका कहना है कि आत्माको चाहे अविनाशी माना जाय चाहे विनाशी, युद्ध करना उचित है। यह केवल वकालत है। आत्मा नित्य हो या अनित्य, युद्ध न करना क्यों उचित नहीं ?

१५२. इसका उत्तर भगवान् देते हैं—"स्वधर्मकी दृष्टिसे भी तुम्हें हिचकना उचित नहीं, कारण क्षत्रियोंके लिए क्षत्रियधर्मानुकूल युद्धसे अधिक श्रेयस्कर दूसरा कुछ नहीं। हे पार्थ, भाग्यवश खुला हुआ यह स्वर्गका द्वार है। ऐसा युद्ध भाग्यवान् क्षत्रियोंको ही प्राप्त होता है। यदि यह स्वधर्मानुकूल युद्ध तुम न करोगे तो स्वधर्म और कीर्ति गँवाकर पापके भागी बनोगे। सब लोग तुम्हारी सदा निन्दा करेंगे और पुरुषके लिए अपकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है।" (३१–३४) यहाँ भगवान् तत्त्वज्ञान छोड़कर व्यवहारमें आ गये हैं। क्षत्रियका स्वधर्म युद्ध है। उस धर्मको छोड़कर यदि भागोगे, तो लोकमें तुम्हारी अपकीर्ति होगी और वह मरणसे भी बुरी है। इससे स्पष्ट होता है कि गीताका उद्देश्य अर्जुनको किसी-न-किसी तरह युद्धके लिए प्रवृत्त करना है।

१५३. ऐसी अवस्थामें इसी अध्यायमें जो ब्राह्मी स्थिति बतलाई गई है उसका और इस अध्यायका किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। भगवान् कहते हैं–"हे पार्थ जब कोई अपने मनकी काम-वासना छोड़ देता है और स्वयं अपनेमें ही सन्तुष्ट रहता है तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। जिसका मन दुःखोंमें उद्विग्न नहीं होता, सुखोंमें जिसे आसक्ति नहीं होती, जिसके काम, भय और क्रोध नष्ट हो जाते हैं, उसे स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं। (५५–५६)...जो पुरुष विषयोंका चिन्तन करता है उसके मनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिसे काम-वासना उत्पन्न होती है, काम-वासनासे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृति-विभ्रम, स्मृति-विभ्रमसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे वह सर्वथा नष्ट हो जाता है। (६२–६३)...सब काम-वासनाओंको छोड़कर जो मनुष्य निष्पृह रहता है और

जिसमें ममता और अहङ्कार नहीं रह जाता है, उसे शान्ति मिलती है। हे पार्थ, यही ब्राह्मी स्थिति है। यह प्राप्त होनेपर मनुष्य मोहमें नहीं पड़ता। जिसे अन्त-कालमें भी यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वह ब्रह्मनिर्वाण पाता है। (७१–७२)"

१५४. ब्राह्मी स्थिति या स्थितप्रज्ञके वर्णनके कुछ श्लोकोंका अनुवाद विस्तार-भयके कारण नहीं दिया गया। वे मूलग्रन्थमें देखे जा सकते हैं। अधिकतर पाश्चात्य विद्वानोंका मत है कि यह सारा वर्णन बौद्ध-ग्रन्थोंके आधारपर लिखा गया है और वह अन्तिम श्लोकके 'ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति' इस वाक्यसे उचित सिद्ध होता है। इसमेंके स्मृति-विभ्रम, निराहार आदि शब्दोंका अर्थ बौद्ध परिभाषा जाने बिना ठीक-ठीक समझमें नहीं आता। इस बौद्ध तत्त्व-ज्ञान और युद्धका कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी यह इस अध्यायमें ठूँस दिया गया है।

१५५. इस परस्परविरोधकी उपपत्ति लगाना हो तो पहले यह समझ लेना चाहिए कि यह ग्रन्थ किसके लिए लिखा गया। गुप्त वंशका राजा पुरगुप्त वसु-बन्धुका मित्र था। उसने अपने पुत्र और महारानीको वसुबन्धुसे बौद्ध-तत्त्वज्ञानकी शिक्षा दिलाई। पुरगुप्तकी मृत्युके बाद बालादित्यने वसुबन्धुको बुलवाकर अपनी राजधानीमें रखा। वह बार-बार उसकी सलाह लिया करता था। इस बाला-दित्यको अपने ही सम्बन्धियों और दूसरे राजाओंसे लड़नेका मौका आया होगा। उस समय उसके मनमें बार-बार यह शङ्का उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि केवल राज्यके लोभसे मैं अपने आप्त-मित्रोंसे क्यों लड़ूँ? वसुबन्धु जैसे बौद्ध-पण्डितका उसपर बहुत प्रभाव होनेके कारण बौद्धोंके प्राप्तव्यके—जिसे यहाँ ब्राह्मी स्थिति कहा गया है—सम्बन्धमें भी उसके मनमें बहुत आदर था। ऐसी स्थितिमें यदि एक ओर आप्त-मित्रोंसे युद्ध करनेके प्रसङ्ग और दूसरी ओर वसुबन्धु जैसे बौद्ध-पण्डितके उपदेशके बीच उसका मन बराबर दोलायमान होता रहा हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इस परिस्थितिमें बालादित्यने किसी ब्राह्मणको कोई मार्ग निकालनेके लिए किसी ग्रन्थकी रचना करनेको कहा होगा और उसने यह भगवद्गीता महाभारतमें जोड़ दी होगी।

१५६. यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इसका क्या प्रमाण है कि गीता बालादित्य-के समय लिखी गई? वसुबन्धु विज्ञान-वादका उत्पादक था और उस विज्ञान-

वादकी आलोचना ब्रह्मसूत्र-भाष्यके दूसरे अध्यायके दूसरे पादके निम्नलिखित सूत्रोंमें की गई दिखाई देती है। नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥ वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥ न भावोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥ क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥ अतः वसुबन्धु ब्रह्मसूत्रकारसे पूर्ववर्त्ती होना चाहिए। अधिकसे अधिक वसुबन्धु और ब्रह्मसूत्रकार समकालीन हो सकते हैं। 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' (अ० १३, श्लो० ४) इस वाक्यसे इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि गीता ब्रह्मसूत्रके बादकी है। वह ब्रह्मसूत्रके ही कर्ता या उसके किसी भक्तके द्वारा रची हुई होनी चाहिए। इस दृष्टिसे उसे बालादित्यके बाद भी लिखी गई माननेमें कोई हानि नहीं। तथापि सारे गुप्त राजाओंका कुलदेव वासुदेव होना, चातुर्वर्ण्यके सम्बन्धमें उनका पक्षपात, सार्वभौमित्व प्राप्त करनेकी उनकी महत्त्वाकांक्षा और स्वयं बालादित्यकी वसुबन्धु-सम्बन्धी आदरबुद्धि, इन सब बातोंका विचार किया जाय तो इस अनुमानकी विशेष पुष्टि होती है कि गीता बालादित्यके समयमें ही लिखी गई होगी।

१५७. विन्सेन्ट स्मिथने पेरीके आधारपर वसुबन्धुको समुद्रगुप्तका गुरु सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया है वह ठीक नहीं जान पड़ता। प्रोफेसर पाठकके लेख, परमार्थलिखित वसुबन्धुके चरित्र, ह्युएनत्संग द्वारा वर्णित वसुबन्धुकी कथा तथा तिब्बती-परम्पराका विचार करनेसे सिद्ध होता है कि वसुबन्धु बालादित्यका ही गुरु था।[१] अतः यह मान लेना उचित जान पड़ता है कि बालादित्यके समयमें बादरायण या उसके किसी शिष्यने भगवद्गीता लिखी होगी।

१. Political History of Ancient India. p. 363. **विन्सेन्ट स्मिथने** Early History of India pp. 346–47 **में वसुबन्धुके समयके सम्बन्धमें विचार किया है। उसके मतानुसार वसुबन्धु समुद्रगुप्तका गुरु था। वैसा माननेपर भी गीता गुप्त-कालकी ही सिद्ध होती है। पर अधिक सम्भव यही है कि हेमचन्द्र राय चौधरी द्वारा निर्दिष्ट बालादित्य ही वसुबन्धुका शिष्य होगा। विन्सेन्ट स्मिथका कहना है कि बालादित्य ई० स० ४६७ में गद्दीपर बैठा। वसुबन्धुका समय यही माना जाय तो परमार्थ, ह्युएन्त्संग और तिब्बती ग्रन्थकार द्वारा लिखी वसुबन्धुकी कथाओंकी इस काल-निर्णयके सम्बन्धमें सम्भवतः एकवाक्यता हो जायगी।**

१५८. भगवद्गीताको ईसाके पूर्व पहली सदीकी सिद्ध करनेके जो प्रयत्न किये जा रहे हैं वे सब व्यर्थ जान पड़ते हैं। हेलियोदोर द्वारा बेस नगरमें गरुड़-ध्वज स्थापित किये जानेके कारण यदि गीता उसके समयकी सिद्ध होती है तो वेदोंमें सैकड़ों स्थानोंपर वृत्रका नाम आनेके कारण महाभारतकी वृत्र-गीता वेदके पूर्वकी क्यों न सिद्ध हो? चूलनिद्देसमें वासुदेवका निर्देश होनेसे यह कैसे सिद्ध होता है कि उस समय भगवद्गीता थी? हम ऐसा भी नहीं समझते कि गीताको बालादित्यके समयकी माननेसे गीताका मूल्य कम होता है, कारण यह समझना भूल है कि प्राचीनतर होनेसे ग्रन्थका मूल्य बढ़ता है।

१५९. गीता वासुदेवके मुखसे कहलानेका कारण केवल इतना ही था कि वह गुप्त राजाओंका कुल-देव था। युद्ध छोड़ देनेकी प्रवृत्ति नष्ट कर देनेके लिए युद्ध-भूमिका प्रसङ्ग रखा गया है। तो भी बालादित्यको बौद्ध-धर्मके निर्वाणकी चाह थी, इसलिए दूसरे अध्यायमें ही इस ब्राह्मी स्थितिको जोड़ दिया गया है। अनन्तर बालादित्यकी रुचि देखकर ग्रन्थकारने इस ग्रन्थमें सांख्य योग आदिकी भी यथेच्छ मिलावट कर दी है। विश्वरूप-दर्शनका भी काव्यात्मक प्रसङ्ग रखा गया है। इस तरह यदि यह ग्रन्थ तत्कालीन अधिकारी वर्गको प्रिय हुआ तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इधर-उधर थोड़ा-बहुत फेरफार करके यह तत्त्वज्ञान आजकलके अधिकारी वर्गको भी स्वीकार्य होने योग्य है।

१६०. मान लीजिए कि रामजे मेकडानल्ड जैसा कोई शान्तिवादी राज-नीतिज्ञ युद्धके आधुनिक उपक्रमके अवसरपर राजनीतिके शस्त्रास्त्र फेंककर कहे— 'ये जर्मन, ये फ्रेञ्च, सब हमारे आप्त हैं। इनकी और हमारी संस्कृति एक है। इनमें हमारे गुरु हैं। हममें इनके बहुतसे सम्बन्धी हैं। ऐसी अवस्थामें इनसे युद्ध करनेकी तैयारी करनेकी अपेक्षा ये ही हमें मार डालें, यह अधिक श्रेयस्कर है (आइये हम सत्याग्रह करें।)'। इसपर पूँजीवादी भगवान् कहेगा 'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्'। भले आदमी, ऐसे विकट समयपर तुझमें यह दौर्बल्य कहाँसे आया? मैंने पूँजीवादका यह संसार गुणकर्मविभागशः निर्माण किया है। इसमें सब गुण पूँजीपतियोंको और सब कर्म (अर्थात् काम) मजदूरोंको दिये गये हैं, ऐसे संसारमें उत्पन्न हुआ तू यदि इस चक्रको आगे न बढ़ावेगा तो यह संसार नष्ट हो जायगा (बोल्शेविज्म फैल जायगा)। देख, मुझे

कोई कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है। ऐसा होते हुए भी मैं दूसरोंके समान कर्म क्यों करता हूँ ? कारण यदि मैं पूँजीवादकी रक्षाका काम न करूँ तो सङ्कर करनेवाला होऊँगा। अर्थात् पूँजीवादी और मजदूरोंका मिश्रण हो जायगा और उससे पूँजीवादियोंका संसार नष्ट होगा ! अतः तुझे लड़ना उचित है। मेरा स्मरण कर और युद्धके लिए तैयार हो।'

१६१. दूसरा कोई शान्तिवादी जापानी परराष्ट्र मन्त्री यदि यह कहकर अपनी नीति सौम्य रूपसे सञ्चालित करने लगे कि 'इन चीनी लोगोंसे हमने सब कला-कौशल सीखा। इन्होंने ही हमें बौद्धधर्म प्रदान किया। ऐसे गुरुतुल्य देशको पीड़ित कर अपनी राज्य-तृष्णा शान्त करना उचित नहीं। भविष्यमें मैं इनसे मित्रताका व्यवहार करनेका मार्ग स्वीकार करूँगा' तो जापानी भगवान् आराकी जैसे युद्धसारथीके रूपमें प्रकट होकर कहेगा, 'अरे पागल, ये कहाँके विचार लेकर बैठा है ? यह आत्मा विनाशी हो या अविनाशी, युद्ध ही श्रेयस्कर है। कारण आत्मा यदि अविनाशी हो तो गुरुको मारनेपर भी उनकी आत्मा नहीं मरती। यदि यह माना जाय कि उनकी आत्मा विनाशी है तो नाशवानोंका नाश करनेमें पाप क्या ? तुझे इस मन्त्रीपदपर आरूढ़ करनेका कारण मैं हूँ। और अब ऐन मौकेपर यदि तू रणक्षेत्र छोड़कर भागने लगेगा तो सब लोग तेरी निन्दा करेंगे, इसलिए मेरा स्मरण कर और युद्धके लिए तैयार हो।'

१६२. पर यदाकदाचित् इस शान्तिवादी परराष्ट्रमन्त्रीके मनमें यह शङ्का उपस्थित हो कि चीनका दमन करना चाहे सुलभ हो, तो भी हमारे इस कर्मसे दोनों राष्ट्रोंपर सङ्कट न उपस्थित होगा, इसका क्या भरोसा है ? इधर अमेरिका और इंगलैण्ड और उधर बोल्शेविकोंकी बढ़ती हुई शक्ति, इन दोनोंके बीचमें हम जकड़े हुए हैं। ऐसी अवस्थामें यह कैसे कहा जा सकता है कि बौद्धोंके सिद्धान्तके अनुसार प्रेम-व्यवहारसे परस्पर मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करना हितकर सिद्ध न होगा ? सैनिक भगवान्को इसका पता लगते ही वह दस पाँच बड़े-बड़े अधिकारियोंका खून करके अपना विश्वरूप प्रकट करेगा। उसे देखते ही इस परराष्ट्रमन्त्रीको विश्वास हो जायगा कि युद्धकी अपेक्षा अधिक श्रेयस्कार दूसरा कुछ नहीं है। और वह कहेगा—

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥'

(कभी न च्युत होनेवाले हे सैनिक भगवान्, तेरे प्रसादसे मेरा मोह नष्ट हुआ और स्मृति उत्पन्न हुई। मेरा संशय दूर हुआ। अब मैं तेरे वचनानुसार चलूँगा।)

१६३. इस प्रकार यह गीता सभी राष्ट्रोंके अधिकारी-वर्गके भगवान्के मुँहमें शोभा पा सकती है। यही होगा कि उसमें देशकालानुसार थोड़ा-बहुत फेरफार करना पड़ेगा। गीतामें तत्कालीन स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रोंके लिए जैसी व्यवस्था निर्धारित की गई है वैसी पूंजीवादी संसारमें आज भी की जा सकती है। इस पूँजीवादी भगवान्की पूजा स्त्रियाँ भी कर सकती हैं। वे चाहे युद्धमें भाग न ले सकें तो भी कारखानोंमें युद्ध-सामग्री आदि तैयार करनेका काम कर सकती हैं। जो बूढ़ी हों वे सैनिकोंके लिए कपड़े बुन या सी सकती हैं। इसी प्रकार युद्धमें भाग न लेनेवाले बहुतसे शूद्र खाई खोदने, रसद पहुँचाने आदिके काम कर सकते हैं। वैश्य युद्धके लिए कर्ज दे सकते हैं। अतः पूँजीवादी संसारके सब वर्गोंके स्त्री-पुरुष यदि इस प्रकार अनन्य भावसे इस भगवान्की पूजा करें, तो कौरव-पांडवोंकी भाँति सबको ही मोक्ष मिलना सम्भव है!

१६४. पहले बताया जा चुका है कि गीतामें ब्राह्मी स्थिति बौद्धोंसे ही ली गई है। पर बौद्धोंके कुछ तत्त्वोंका विपर्य्यास किया गया है। उनमेंसे मुख्य कर्म-योग है। बुद्धका कर्म-योग यह है कि 'ऐसा काम न करे जिससे दूसरोंकी किसी भी प्रकारकी हानि हो, ऐसे कर्मोंका पूर्ण विकास करे जिससे सबका कल्याण हो और उनमें भी चित्त-शुद्धि रखे, अर्थात् सत्कर्मोंका भी अभिमान न करे।'[1] इसका विपर्य्यास गीतामें इस प्रकार किया गया है—'बाप-दादोंका धन्धा स्वधर्म समझकर करे और उसमें आसक्ति न रखे, अर्थात् इसका बिलकुल विचार न करे कि उस कर्मका परिणाम क्या होगा।'

१६५. लोक-संग्रहका भी इसी प्रकार विपर्यास हुआ है। बौद्ध ग्रन्थोंमें लोक-संग्रह चार बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।
सचित्तपरियोदपनं एवं बुद्धान सासनं॥—धम्मपद

दानं च पेय्यवज्जं च अत्थचरिया च या इध।
समानत्तता च धम्मेसु तत्थ तत्थ यथारहं।
एते खो संगहा लोके रथस्साणीव यायतो॥
एते च संगहा नास्सु न माता पुत्तकारणा।
लभेथ मानं पूजं वा पिता वा पुत्तकारणा॥[1]

(यथायोग्य समयपर व्यवहारमें आनेवाले दान, प्रियवचन, अर्थचर्या और समभावका व्यवहार ये चार संग्रह इस लोकमें समाजरूपी रथके धुरेके समान हैं। यदि ये सग्रह न हों तो केवल बच्चेको जन्म देनेके कारण माता या पिताको मान और पूजा प्राप्त न होती।)

१६६. यदि माता-पिताने पुत्रको उचित पदार्थोंका दान न दिया हो, मीठे शब्दों द्वारा उसका मन सन्मार्गकी ओर न लगाया हो, उचित वयसमें उसकी शिक्षा और उन्नतिकी चिन्ता न की हो और बालिग होनेपर उसके साथ समभावका व्यवहार न किया हो, तो यह बात नहीं है कि केवल जन्म देनेके ही कारण वह पुत्र माता-पिताका सम्मान रखेगा या पूजा करेगा। अर्थात् दान, प्रियवचन, अर्थचर्या अथवा हितकी चिन्ता और समानात्मता या समभाव ये चार लोकसंग्रह उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

१६७. परन्तु भगवद्गीतामें इनका सर्वथा विपर्यास किया गया है। वह इस प्रकार है—"मैं यदि कर्म न करूँगा तो ये सब लोग नष्ट होंगे और मैं संकर करनेवाला होऊँगा तथा इस प्रजाका नाश करूँगा। कर्मोंमें आसक्त अज्ञानी लोग जिस प्रकार कर्म करते हैं उसी प्रकार लोकसंग्रहकी इच्छा रखनेवाला ज्ञानी पुरुष आसक्ति छोड़कर अपने कर्म करे; कर्मोंमें आसक्त अज्ञ-जनोंका बुद्धि-भेद न करे। विद्वान् मनुष्य स्वयं योगयुक्त होकर दूसरोंसे सब कर्म करवाये। (अ० ३, श्लो० २४–२६)

१६८. यहाँ लोकसंग्रहका अर्थ है ऐसा व्यवहार करना जिससे वर्ण सङ्कर न हो। इसके लिए स्वयं तत्त्वको जानते हुए भी अज्ञ-जनोंका बुद्धि-भेद न करते हुए उन्हें प्रचलित व्यवहारके अनुसार कार्य करनेको प्रोत्साहित

१. अंगुत्तरनिकाय, चतुक्कनिपात, पण्णासक, १।४।२; दीघनिकाय, सिगालकसुत्त।

करना चाहिए। यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि ऐसे ही विश्वासके कारण महाराष्ट्रमें गणपतिके मेले और शिवाजीके उत्सव आरंभ हुए थे। परंतु ऐसे लोक-संग्रहका परिणाम यह होता है कि जो सींग तुड़वाकर बछड़ोंमें मिल जानेका प्रयत्न करता है वह खुद भी बछड़ा बन जाता है। लिङ्ग अथवा गणपतिकी पूजा वह आरम्भ करता है लोगोंके लिए, पर अन्तमें स्वयं ही उसमें फँस जाता है। इससे लोगोंका तो कल्याण होता नहीं, उलटा वह स्वयं ही अत्यन्त धर्मान्ध बन जाता है।

१६९. अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि बौद्धोंके तत्त्वज्ञानका इस प्रकार विपर्यास किया जाता था तो किसी बौद्ध पण्डितने इसका कड़ा जवाब क्यों नहीं दिया? भगवद्गीताके समयमें दिङ्नाग जैसे बड़े-बड़े बौद्ध पण्डित थे। ऐसी अवस्थामें गीता जैसे ग्रन्थके विरोधमें उन्होंने चार-छः पंक्तियाँ भी क्यों न लिखीं? या तो उस समय यह ग्रन्थ बिलकुल अप्रसिद्ध रहा होगा, कारण कि शङ्कराचार्यके पचास वर्ष पूर्व लिखे गये शान्तरक्षितके तत्त्व-संग्रहमें गीताका कहीं उल्लेखतक नहीं है। अतः यह माननेमें कोई हानि नहीं कि शान्तरक्षितके समयतक यह ग्रन्थ अप्रसिद्ध था। प्रथमतः शङ्कराचार्यने ही टीका लिखकर इस ग्रन्थको महत्त्व दिया।

१७०. और यदि यह माना जाय कि बौद्ध पण्डितोंको इस ग्रन्थकी जानकारी थी, तो उसपर कुछ कहना उसके लिए सम्भव नहीं था। उनका कर्मयोग और लोकसंग्रह पुराना हो चुका था और उनके आधारपर भगवद्गीताकारसे वादविवाद करना सम्भव नहीं था। मान लीजिए, किसी बौद्ध पण्डितने इस ग्रन्थकारसे पूछा होता कि "क्यों जी, भगवान्‌को रणक्षेत्रमें लाकर उनके मुँहसे तुम अर्जुनको अपने ही कुलका नाश करनेका उपदेश देते हो, यह क्या तुम्हें शोभा देता है?" तो गीताकारने उत्तर दिया होता—"पण्डितजी, मैंने यह ग्रन्थ न लिखा होता तो हमारे महाराजने युद्ध छोड़कर संन्यास ले लिया होता और तब आपके विहारोंको बड़ी-बड़ी जागीरें कहाँसे मिली होतीं? इनके स्थानपर यदि कोई दूसरा शैव हूण राजा आया होता तो आपपर भूखे मरनेकी नौबत आती। इसलिए यह ग्रन्थ लिखनेके लिए आप मेरे कृतज्ञ हों।

१७१. "अब आप कहते हैं कि हमने आपके लोक-संग्रहका विपर्यास किया।

पर आपके विहारोंको जो बड़ी-बड़ी जागीरें हैं उनमें मेहनत-मजदूरी करनेवाले शूद्रोंके साथ समानात्मक व्यवहार करनेके लिए क्या आप तैयार हैं? उन्हें आपने कभी दान दिया है? उनसे कभी प्रेमसे बोले हैं? या उनके हितकी कभी चिन्ता की है? इतना ही नहीं, वे यदि आपकी सेवा करनेमें आनाकानी करने लगें, तो आप अहिंसा धर्मपर अवलम्बित न रहकर राजदण्डका आश्रय लेंगे। अतः हमने यहाँ जो लोकसंग्रह प्रदर्शित किया है, वही योग्य है।

१७२. "देखिए, हमारा यह समानात्मभाव कि 'विद्याविनययुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, और चाण्डाल इन सबके प्रति पण्डितकी दृष्टि समान रहती है। जिनके मनमें समता उत्पन्न हो गई उन्होंने इस लोकमें ही संसारपर विजय प्राप्त कर ली, कारण ब्रह्म निर्दोष और सम है और इसीलिए वे ब्रह्ममें स्थिर हो गये' क्या आपकी समानात्मतासे श्रेष्ठ नहीं? आपको समान-आत्मता लानेके लिए सारे संसारमें एक ही जाति उत्पन्न करनी पड़ेगी और यह तो असम्भव है। पर इस प्रकारसे हाथी, कुत्ता, और चाण्डाल इन सबमें समताकी दृष्टि रखते ही क्या समानात्मता सिद्ध नहीं हुई? आप इससे अधिक क्या कर सकते हैं?

१७३. "हमने समानताका एक दूसरा भी अर्थ किया है, उसे देखिए। 'हे धनञ्जय, कर्म-फलकी आसक्ति छोड़कर, यशापयशके सम्बन्धमें सम-बुद्धि रखकर, योगयुक्त हो कर्म कर। ऐसे समत्वको ही योग कहते हैं। (अ० २ श्लो० ४८)' राजाओंको तो यह समत्व अपेक्षित ही है, कारण यह कोई नहीं कह सकता कि युद्धमें विजय मिलेगी ही। इतना ही नहीं, हमको तथा आपको भी इस प्रकारका समत्व वांछनीय है। युद्धमें विजय प्राप्तकर राजाके सिंहासनासीन होनेके बाद हम और आप उसके पास याचना करने जाते हैं। पर यह बात नहीं कि वह सदा कुछ देता ही है। वह कभी आपके विहारको दान देता है तो कभी हमारे मन्दिरको। पर सिद्धि और असिद्धिका विचार न कर उसके पास जाना हमारा कर्तव्य है। मिले तो वाह वाह, न मिले तो वाह वाह। ऐसी बुद्धि रखनी चाहिए। इसे हमने योग कहा है।"

१७४. तात्पर्य यह कि क्या ब्राह्मण और क्या श्रमण दोनों ही एक धरातलपर थे। दोनोंको ही राजाओंसे जागीरें प्राप्त करनी थीं। उनमें अन्तर इतना ही था कि श्रमण यह न कह सकते थे कि तुम अपने बन्धु-बान्धवोंको मारकर राज्य प्राप्त

करो। पर सब बन्धु-बान्धवोंको मारकर किसी राजपुत्रके राजा बनते ही उसे घेरकर जागीरें प्राप्त करनेके लिए उनमें होड़ लग जाती थी। अर्थात् वे अपने आचरणसे राजाके घातपातादि पूर्वकृत्योंका एक प्रकारसे समर्थन ही करते थे। इनना ही नहीं, अपने मठको अधिक दान मिलनेपर वे ऐसे राजाको धार्मिकताके शिखरपर चढ़ा देते थे। ब्राह्मणोंका कार्य इससे अच्छा था। वे भगवद्गीता जैसे ग्रन्थ लिखकर राजाको युद्धके लिए प्रवृत्त करते थे। युद्धमें यदि उसका नाश हो जाता था तो वे दूसरे राजाका आश्रय ग्रहण करते थे। पर यदि उसकी विजय होती थी तो जागीरें प्राप्त करते थे। वे युद्धके पूर्व और पश्चात् कमसे कम उपस्थित तो रहते थे। पर श्रमणोंका युद्ध समाप्त होनेतक कहीं पता न रहता था। पर जब राजाका राज्याभिषेक होता था तब वे अपने मठोंके लिए जागीरें प्राप्त करनेके हेतु उपस्थित हो जाते थे!

श्रमणोंकी अवनति

१७५. श्रमणोंकी अवनतिका बीज उनके द्वारा स्वीकृत राजाश्रयमें था। क्वचित् ही कोई राजा बिना हिंसाके राज्य प्राप्त करता था। अशोकके अपने अनेक भाइयोंको मारनेकी कथाएँ बौद्ध-ग्रन्थोंमें मिलती हैं। विन्सेन्ट स्मिथ आदि पाश्चात्य विद्वानोंका कथन है कि वे सच न होंगी। तथापि अपना विरोध करनेवाले बान्धवोंका नाश करके ही अशोक राज्यारूढ़ हुआ होगा। कलिङ्ग देशपर विजय प्राप्त करनेतक उसने युद्ध करना तो छोड़ा ही नहीं था। उस युद्धके बाद अशोकको पश्चात्ताप हुआ और वह बुद्धोपासक बना। बौद्धग्रन्थकारोंने उसकी अनन्त स्तुति की है। उनके मतसे संसारमे यदि कोई धार्मिक राजा हुआ तो वह अशोक ही था, और यह बात कुछ अशोंमें सत्य भी है। ऐसा नहीं जान पड़ता कि ऐसे बड़े पदपर आरूढ़ मनुष्योंमें अत्यन्त इन्द्रियनिग्रह और संयमसे रहना अशोकके अतिरिक्त दूसरे किसी राजाके लिए सम्भव हुआ हो। पर यह बताना कठिन है कि अशोकके इन सद्गुणोंसे बौद्धसङ्घको कितना लाभ पहुँचा। बड़े-बड़े विहार बने, बौद्ध भिक्षुओंने चारों दिशाओंमें जा जाकर बौद्धधर्मका प्रचार किया, यह सब अवश्य हुआ, पर इससे भिक्षुओंको राजाश्रयकी लत लग गई,

अधिक क्या, उनकी यह स्थिति हो गई कि राजाश्रयके बिना उनका काम ही नहीं चलता था।

१७६. मौर्योंका राज्य उनके सेनापति पुष्यमित्रने छीन लिया और ब्राह्मणोंके यज्ञ-यागोंको पुनरुज्जीवित किया। इतना ही नहीं, उसने आसपासके बौद्धोंक बहुत कष्ट पहुँचाया और भिक्षुओंके कुछ मठ नष्ट कर डाले। ऐसी कथाएँ उत्तरी प्रदेशके बहुत ग्रन्थोंमें मिलती हैं। ऐसे समयमें बौद्धभिक्षुओंने यदि मगध देश छोड़कर दूरदूरके देशोंमें जाकर आश्रय लिया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। उस समय भिक्षुओंको आत्म-निरीक्षण करना चाहिये था। ऐसा करनेपर उन्हें यह दिखाई दिया होता कि 'अशोकके आश्रयसे हम बड़े-बड़े विहार तो बनवा सके, पर उसके कारण हम परिग्रहवान् बने और पीड़ित जनताके कल्याणका मार्ग हमने बहुत अंशोंमें छोड़ दिया।' यदि वे पुनः राजाश्रय प्राप्त करनेके प्रयत्नमें न लगे होते तो उसके कारण हिन्दुस्तानके इतिहासको दूसरा ही रूप मिला होता।

१७७. मौर्योंका राज्य नष्ट होनेपर पुष्यमित्रके लिए मौर्योंके समान साम्राज्य स्थापित करना सम्भव नहीं था। वायव्य दिशासे हानेवाले यवनों और शकोंके आक्रमण उससे रोके नहीं गये और इस कारण इन विदेशी लोगोंका पैर हिन्दु-स्तानमें बराबर आगे बढ़ता ही गया। मिलिन्दपञ्ह आदि ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि ऐसे समय बौद्ध भिक्षुओंने इन विदेशियोंको प्रसन्न करनेका बराबर प्रयत्न किया और इसमें उन्हें बहुत सफलता भी मिली।

१७८. इन विदेशियोंको भिक्षुओंके आचार-विचार पसन्द आये। पर अपने देवताओंको छोड़कर केवल बुद्धकी शरणमें जानेके लिए वे तैयार नहीं थे। महायान पन्थमें कनिष्ककी महिमा अशोकके समान ही वर्णित है। पर उसके सिक्केसे स्पष्ट दिखाई देता है कि उसने भी अपने कुल-देवताको नहीं छोड़ा। बौद्ध-धर्मपर उसने इतनी ही कृपा की कि कुछ सिक्कोंपर उसने बुद्धका भी चित्र छाप दिया। पर अशोकके समान राजा मिलना सम्भव न होनेसे बौद्ध भिक्षुओंने इतनेमें ही सन्तोष मान लिया।

१७९. शक राजा बड़े शूर थे और उन्हें शूरतासे बड़ा प्रेम था। उन्हें प्रसन्न करनेके लिए बौद्ध भिक्षुओंने बुद्धके पूर्व-जन्मकी कथाओंको महत्त्व दिया। इन कथाओंमें नव रसोंमेंसे रौद्र और बीभत्स रस एक प्रकारसे बिलकुल नहीं है। शेष

रस उचित प्रमाणमें मिलते हैं। साहित्य ग्रन्थोंमें वीर रसके दानवीर, दयावीर, धर्मवीर और युद्धवीर ये चार भाग हैं। इनमेंसे पहले तीनको इन जातक-कथाओंमें विशेष महत्त्व दिया गया है। ये कथाएँ केवल राजाओंको ही नहीं, सामान्य जनताको भी बहुत प्रिय हुईं। पर उनके कारण लोगोंका मन पौराणिक बन गया।

१८०. इस प्रकार पुष्यमित्रके बाद भिक्षुओंने राजाश्रय प्राप्त करके फिर अपने धर्मका प्रभाव स्थापित किया। राजाओं और बड़े आदमियोंका मन जीतनेके लिए मूल बौद्ध-साहित्यमें उन्होंने इतना परिवर्तन किया कि उसे बुद्धका उपदेश कहना कहाँतक उचित होगा यह नहीं कहा जा सकता। दिखाई यह देता है कि यद्यपि अहिंसा, सत्य आदिके सिद्धान्त उन्होंने नहीं छोड़े तथापि मूलके सादे उपदेशोंका बहुत ही थोड़ा अंश उनके ग्रन्थोंमें रह गया है। शकोंके दो-तीन सौ वर्षके राज्य-कालमें इस महायान-पन्थका बहुत प्रसार हुआ और मूल स्थविरवाद (महायान पन्थके लोग इस पन्थको हीनयान कहते हैं) पिछड़ता गया। इस पन्थके लोग दक्षिणके सिंहल, बर्मा, श्याम और कम्बोडिया इन चार देशोंमें हैं। उत्तरके तिब्बत आदि देश महायान पन्थके हैं। इस कारण महायानको उत्तरका बौद्ध पन्थ और स्थविरवाद या हीनयानको दक्षिणका बौद्ध पन्थ कहा जाता है।

१८१. महायान पन्थके प्रचारके कारण ब्राह्मण बिलकुल ही पिछड़ गये। सामान्य जनताके देवताओंको महायान पन्थने अपना लिया और यज्ञ-यागोंको तो शकोंका और यवनोंका आश्रय मिला ही नहीं। यद्यपि छोटे-मोटे गृह्य-संस्कारादि कृत्य करके अपना निर्वाह करना ब्राह्मणोंके लिए सम्भव था फिर भी यह व्यवसाय राजाश्रयके समान लाभप्रद नहीं था। बौद्ध-भिक्षु केवल महादेवको अपने पन्थमें न ला सके, कारण महादेवकी कथाओंको अहिंसात्मक स्वरूप देना सम्भव ही नहीं था। अर्थात् शक राजाओंको प्रसन्न करनेके लिए अथवा उनसे राजकीय दक्षिणा प्राप्त करनेके लिए महादेवके पुजारी होनेका ही एकमात्र मार्ग ब्राह्मणोंके लिए खुला रह गया और उसे उन्होंने पहले तो कुछ अनिच्छासे स्वीकार किया होगा पर बादमें उन्हें दिखाई दिया होगा कि यह मार्ग भी लाभ-दायक है। कारण केवल शक राजाओंकी ओरसे ही नहीं, उनके माण्डलिकोंकी ओरसे भी महादेवकी पूजाके लिए ब्राह्मणोंको अच्छी दक्षिणा मिलने लगी।

१८२. पाणिनिके 'इन्द्र-वरुण-भव शर्व-रुद्र मृड-हिमारण्य-यव-यवन-मातुलाचार्याणामानुक्' ४।१।४९ इस सूत्रसे सिद्ध होता है कि उस समय भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, और मृडानी इन देवियोंकी पूजा हुआ करती थी। यह नहीं कहा जा सकता कि ये चार भिन्न-भिन्न देवियाँ थीं या एक ही देवीके चार भिन्न-भिन्न नाम थे। पर पीछे वे एक पार्वतीके ही नाम बन गये। और पार्वतीकी पूजा भी लोकप्रिय हो गई। इससे गाँव-गाँवकी भिन्न-भिन्न देवियोंका इस एक ही देवीमें समावेश कर उसकी पूजा करना भी ब्राह्मणोंको लाभदायक जान पड़ा। इस प्रकार ब्राह्मण यज्ञ-यागोंका मोह छोड़कर और 'गले पड़े ढोलको बजाकर' अपनी जीविका चलाने लगे और इस तरह महादेव तथा पार्वती इन देवताओंको उच्च जातियोंमें बहुत महत्त्व मिल गया।

१८३. इसी बीच विहारोंके नियमोंसे असन्तुष्ट श्रमण और जटिलोंके मिश्रणसे लिङ्ग-पूजाको प्रधानता देनेवाला पाशुपतोंका पन्थ निकला।[१] पहले शायद ब्राह्मण लिङ्ग-पूजा न करते होंगे, पर जब पाशुपतोंके प्रभावसे राजा लोग भी कन्धेपर लिङ्ग रखकर चलने लगे तब ब्राह्मणोंने लिङ्ग-पूजा भी आरम्भ कर दी। इससे ब्राह्मणोंको राजाश्रय ही नहीं, पाशुपतोंका भी आश्रय मिल गया।

१८४. शकोंका राज्य जर्जरित होनेपर प्रथम चन्द्रगुप्तने गुप्त-साम्राज्यकी नींव डाली और उसपर समुद्रगुप्तने साम्राज्यकी भारी इमारत खड़ी की। ये गुप्त राजा वासुदेवके भक्त थे। यह पहले बताया ही जा चुका है कि वासुदेव उनका कुल-देव था। फिर भी उन्होंने महादेव या लिङ्ग-पूजाका का बिलकुल विरोध नहीं किया। इससे वह पूजा उसी तरह जारी रही और उसके पीछे-पीछे वासुदेवकी भी पूजा आरम्भ हो गई। ब्राह्मणोंने यह विवेक करना एकदम छोड़ दिया कि किस देवताकी पूजा करनी चाहिए और किस देवताकी नहीं। कोई भी देवता क्यों न हो, उसकी पूजासे यदि ब्राह्मणोंको दक्षिणा मिलती तो वे उसका महत्त्व बढ़ानेके लिए तैयार रहते। इस कालमें उन्होंने अनेक देवताओं और तीर्थोंका महत्त्व बढ़ानेके लिए मनचाहे पुराण रच डाले।

१. वि० ३।८९–९१। २ वि० ३।१२२।

१८५. अदेवं दैवतं कुर्युर्दैवतं चाप्यदैवतम् ।
यमिच्छेयुः स राजास्याद्यो नेष्टः स पराभवेत् ।[१]

(ब्राह्मण, अदेवको देव और देवको अदेव बनावेंगे, जिसे चाहेंगे उसे राजा बनावेंगे और जिसे न चाहेंगे उसकी पराजय होगी।) कोई बीस वर्ष पहले जब यह श्लोक मैंने स्वर्गीय चि० वि० वैद्यके संक्षिप्त महाभारतमें पढ़ा तब मैंने अनुमान किया था कि ब्राह्मणोंने बौद्ध और जैन श्रमणोंपर क्रुद्ध होकर लिङ्गको देव बनाया होगा। पर अब बहुत विचारके बाद यह जान पड़ता है कि ब्राह्मणोंमें यह सामर्थ्य बिलकुल न था—शकोंकी चढ़ाइयोंके पहले और बादमें भी।

१८६. इन्द्र जैसे व्यक्तिको ब्राह्मणोंने बिलकुल निरुपाय होकर देव बनाया। शक राजाओंने यदि अपनी ही उपासना करानेमें लगाया होता, तो ब्राह्मणोंने उनकी भी पूजा करनेमें कभी न की होती। पर शक महादेवके भक्त थे, इस कारण, उन्हें आत्मपूजाकी अपेक्षा अपने कुल-देवताकी पूजा विशेष महत्त्वकी जान पड़ी और ब्राह्मणोंने भी उसे उनके इच्छानुसार आरम्भ कर दिया। वह पचने न पाई थी कि गुप्त राजा वासुदेवको आगे ले आये और ब्राह्मणोंने उसकी पूजा आरम्भ कर दी। इतना ही नहीं, उन्होंने तत्कालीन जितने भी देवता थे उन सबपर पुराण रचकर इसी सरल मार्गका अवलम्बन किया कि अपनी जीविकाका निर्वाह अच्छी तरह हो। उनका यह दृढ़ विचार होगा कि यज्ञ करके दक्षिणा मिले तो ठीक और किसी देवताकी पूजा करके दक्षिणा मिले तो भी ठीक।

१८७. लोकमान्य तिलकने एक बार वैदिक धर्मकी व्यवस्था इस प्रकार की थी—

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु साधनानामनेकता।
उपास्यानामनियम एतद्धर्मस्य लक्षणम् ॥[२]

१. संक्षिप्तमहाभारत, अनुशासन प० अ० २।६६; कुम्भकोण, अनु० प० अ० ६८।१७। इस पर्वमें अ० ६८–७१ ब्राह्मण-माहात्म्यपर हैं, उन्हें मूल-ग्रन्थमें देखिए।

२. वेदको प्रमाण मानना, अनेक साधन मानना और उपासनामें देवताका नियम न रखना, यह धर्मका लक्षण है।

पर इसकी अपेक्षा यदि

> योगक्षेमो ब्राह्मणानां जायते येन केनचित् ।
> तदेव वैदिकं कर्म स धर्मो वैदिकः स्मृतः ॥[1]

यह व्याख्या की जाती, तो विशेष शोभा देती । और महाभारतके उपर्युक्त श्लोकके स्थानपर यदि नीचे लिखा श्लोक होता तो वह इतिहासके अधिक अनुरूप होता—

> अदेवं देवतं कुर्युर्लभेरन्यदि दक्षिणाम् ।
> राज्ञां प्रियाण्यासृजेयुः पुराणान्यापि चार्थिनः ॥[2]

१८८. इसके लिए ब्राह्मणोंको दोष नहीं दिया जा सकता । क्योंकि वेद-कालसे ही राजानुवर्तित्व उनका स्वभाव ही बन गया था । 'राजा कालस्य कारणम्', 'ना विष्णुः पृथिवीपतिः' आदि कहावतें यही बतलाती हैं । पर श्रमणों-की बात ऐसी नहीं थी । पीड़ित जनताके लिए उनके पंथ निकले थे । उनका मुख्य ध्येय लोगोंमें समता स्थापित करना था । अतः ऐसे समयमें आगे आकर उन्हें इस काररवाईका विरोध करना चाहिए था । ब्राह्मण चाहे जिस देवताकी पूजा करने लगे, राजा लोग कंधेपर शिवलिंग लेकर घूमने लगे, श्रमणोंने पाशुपत जैसा वीभत्स पन्थ निकाला, जाति-भेदकी शाखाएँ फूटने लगीं, अस्पृश्योंका उत्पीड़न होने लगा, तिसपर भी श्रमण चुपचाप बैठे रहे । ऐसी परिस्थितिमें आजकलके सामान्य मनुष्योंको भी उद्वेग उत्पन्न हुआ होता, पर उस समयके श्रमणोंको कुछ भी खेद न हुआ । उनके विहारोंकी जागीरें बनी हुई थीं, राजा लोग उन्हें मानते थे और मध्यमवर्गकी जतनासे यथेच्छ भिक्षाके रूपमें अच्छा आदरातिथ्य हो ही रहा था, तब यदि शूद्र और चाण्डालोंका शोषण हो रहा हो और चाहे जिस देवताकी पूजा हो रही हो, तो इन सुखी श्रमणोंको उसकी क्या परवाह ?

१. जिस किसी भी कृत्यसे ब्राह्मणोंका योग-क्षेम चले वही वैदिक कर्म है; वही वैदिक धर्म है ।

२. अदेवको देव बना दें, यदि दक्षिणा मिले । राजाओंको प्रिय हो तो पैसा कमानेके लिए पुराणोंकी भी रचना करें ।

फाहियान्‌का काल

१८९. चीनी-यात्री फाहियान् द्वितीय चन्द्रगुप्तके समय आया। मथुराके आसपासके प्रदेशका वर्णन करते हुए वह कहता है—"इस प्रदेशको मथुरा कहते हैं। हम फिर यमुनाके किनारे-किनारे चलने लगे। इस नदीके दोनों ओर बीस संघाराम हैं और उनमें लगभग तीन हजार भिक्षु रहते हैं। बौद्धधर्मका विकास और उत्कर्ष हो रहा है।... इस प्रदेशके राजा बौद्धधर्मपर दृढ़ विश्वास रखनेवाले हैं। भिक्षुओंको दान देते समय वे अपनी पगड़ियाँ उतारकर एक ओर रख देते हैं। राजाके परिवारके लोग और सब मुख्य मन्त्री अपने हाथोंसे भिक्षुओंको दान देते हैं। भिक्षुओंका भोजन समाप्त हो जानेपर वे एक ओर दरी बिछाकर उसपर बैठते हैं। भिक्षुओंके सामने वे कभी उच्चासनपर नहीं बैठ सकते। दान-विधिके ये नियम बुद्धके समयसे आजतक चल रहे हैं।...

१९०. "इस सारे देशमें चाण्डालोंके अतिरिक्त कोई प्राणि-हिंसा नहीं करता, शराब नहीं पीता, प्याज और लहसुन नहीं खाता। चाण्डाल पापी कहलाते हैं और ग्रामोंके बाहर रहते हैं। जब वे शहर या बाजारमें आते हैं, तब लोगोंको सूचना देनेके लिए लकड़ीके एक टुकड़ेको डण्डेसे बजाते हैं। इससे दूसरे लोग उन्हें पहचान जाते हैं और उनके स्पर्शसे दूर रहते हैं। इस देशके लोग सूअर और मुर्गी नहीं पालते तथा पशु बेचनेका व्यवसाय नहीं करते। वे बाजारमें कसाईखाने और शराबखाने नहीं रखते। क्रय-विक्रयमें वे कौड़ियाँ काममें लाते हैं। केवल चाण्डाल शिकार करते और मांस बेचते हैं।

१९१. "बुद्धके परिनिर्वाणके समयसे ही इस देशमें राजाओं और धनी व्यक्तियोंने भिक्षुओंके लिए विहार बना दिये हैं और आदमी और गाय-बैलोंके साथ जमीनें, घर और बगीचे जागीरमें देकर उनके निर्वाहकी व्यवस्था कर दी है और उत्कीर्ण लेख-परम्परासे उन्हें चालू कर रखा है। आजतक इन लेखोंका भंग नहीं किया गया। क्योंकि कोई भी उन लेखोंको वापस लेनेमें समर्थ नहीं है। जो भिक्षु विहारोंमें रहते हैं उनके लिए बिछौने, दरियाँ, अन्न, पान, वस्त्र ये सब पदार्थ बिना काट-कसर किये दिये जाते हैं। सब स्थानोंपर यह व्यवस्था

चालू है। भिक्षु लोग अपने शीलके नियमोंका पालन करने, स्वाध्याय करने और ध्यान-समाधिमें दक्ष होते हैं।"[1]

१९२. इस प्रकार भिक्षुओंका निर्वाह अच्छी तरहसे हो रहा था। विहारोंको खेत, घर, बागीचे, नौकर, गाय-बैल आदि जागीरोंके रूपमें मिलते रहनेपर शिकायतकी गुंजाइश ही कहाँ थी ? पर इसी समय अन्य सम्प्रदायोंका भी महत्त्व किस प्रकार बढ़ रहा था उसे देखिए। फाहियान् कहता है—"मध्य हिन्दुस्तानमें[2] छयानबे मिथ्यादृष्टि सम्प्रदाय हैं। वे आत्माकी नित्यता मानते हैं। प्रत्येक सम्प्रदायकी शिष्य-परंपरा है। वे भिक्षा माँगते हैं[3], पर भिक्षा-पात्र नहीं रखते। ऐसे स्थानोंपर जहाँ बस्ती नहीं होती, वे भी यात्रियोंकी सुविधाके लिए धर्मशालाएँ बनवाते हैं और उनमें यात्रियोंके विश्राम करने, सोने, खाने-पीनेके आदिकी व्यवस्था की जाती है। इन धर्मशालाओंमें प्रवासी बौद्धोंके लिए भी व्यवस्था हो जाती है; उनके इच्छानुसार रहनेके लिए अलग प्रबन्ध कर दिया जाता है।"

१९३. फाहियानने यह कहीं नहीं बताया है कि ये छयानबे सम्प्रदाय कौन-कौनसे थे। उसे भी इनकी जानकारी शायद ही रही हो और केवल लोगोंके बतानेसे उसने यह संख्या लिखी हो। तथापि इतिहासके साधनोंसे ऐसा दिखाई देता है कि उस समय पाशुपतोंका पंथ बराबर बढ़ रहा था। जान पड़ता है कि वे विभिन्न स्थानोंमें धर्मशालाएँ आदि बनवाकर लोगोंके रहने आदिका प्रबन्ध करते थे। जैन श्रमण तो थे ही। पर यह सम्भव नहीं कि वे धर्मशालाएँ बनवाकर लोगोंको अपना पक्षपाती बनाते हों; क्योंकि यह उनके नियमोंके विरुद्ध है। बौद्धोंके विहारोंमें केवल ब्राह्मणोंके लिए ही प्रबन्ध होता था। पर जान पड़ता है कि पाशुपत जैसे दूसरे सम्प्रदायोंके बैरागी लोग सर्वसाधारणके लिए भी प्रबन्ध करते थे और इस कारण वे सामान्य जनताको बौद्ध भिक्षुओंकी अपेक्षा अधिक प्रिय हुए होंगे।

१. Buddhist Records, Introduction, pp. 37–38.

२. लगभग विंध्य, हिमालय, बंगाल और पंजाबके बीचका प्रदेश।

३. Buddhist Records, p. XLVIII.

ब्राह्मणोंके लिए पुराण लाभदायक हुए

१९४. यह दिखाई देता है कि इस बीच ब्राह्मणोंने पुराणोंपर बहुत जोर दिया। बौद्धोंके बोधि-सत्त्वोंकी कथाएँ बहुत ही सौम्य होती थीं। कारण श्रमण लोग अहिंसाका अतिक्रमण नहीं कर सकते थे। पर ब्राह्मणोंके लिए यह बन्धन बिलकुल नहीं था। यज्ञ-याग बन्द होनेसे उनकी व्यावहारिक पशु-हिंसा भी बन्द हो गई और कदाचित् इस कारण इन पुराणोंके रूपमें ब्राह्मणोंकी हिंसक वृत्तिकी अनेक शाखाएँ फूटीं और उनमें वीभत्स तथा रौद्ररसकी भी भरमार हो गई।

१९५. काव्य-रस तो थोड़ा-बहुत मादक होता ही है; जिसे लोगोंको पिलाना बौद्ध श्रमणोंने आरंभ किया। तो भी उनके सामने अहिंसाका ध्येय होनेके कारण उनके द्वारा इतना काव्य-रस उत्पन्न होना सम्भव नहीं था कि लोगोंके लिए वह हानिकारक हो। ब्राह्मणोंको सामान्य जनताकी बिलकुल परवाह नहीं थी। फलस्वरूप उन्होंने शृङ्गारादि काव्य-रसोंको इतना तीव्र किया कि लोगोंको उनका व्यसन ही लग गया। गुप्तोंके राज्यमें मद्य-पानकी मनाही होनेके कारण पौराणिक नव-रसोंका यह मानसिक मद्य लोगोंको अत्यन्त प्रिय मालूम होने लगा होगा। आजकलके सिनेमा-चित्रोंपर जैसे सेन्सरका नियन्त्रण होता है, वैसा यदि गुप्त राजाओंकी ओरसे पुराणोंपर रखा जाता, तो एक भी पुराण दोषारोपणसे बच न सकता। पर उन्होंने यह समझकर ब्राह्मणोंके इस कार्यमें हस्तक्षेप न किया होगा कि यह कोई धार्मिक बात है और तेज शराब पीनेवाले लोगोंके जैसे अधिकाधिक तेज शराब पीनेकी इच्छा होती है, उसी प्रकार भारतीय जनताको इन पुराणोंकी अधिकाधिक चाट लगी होगी।

१९६. कहा जा सकता है कि ब्राह्मणोंको तो धनोपार्जनकी यह एक बड़ी लाभप्रद खान ही मिल गई। इधर-उधर पुराण बाँचकर तथा लोगोंका मनोरंजन कर उन्हें दक्षिणा तो मिलती ही थी, साथ ही पुराणोंमें जहाँ-तहाँ ब्राह्मणोंका महत्त्व घुसेड़ देनेका भी उन्हें अच्छा मौका मिलता था। राजाओंसे प्राप्त की हुई जागीरोंका रक्षण करनेके लिए वे व्यासके नाम और पुराणोंके आधारका किस प्रकार उपयोग करते थे, इसके बहुतसे उदाहरण उनको मिले हुए ताम्रपटोंमें मिलते हैं। नमूनेके लिए उनमेंसे एक यहाँ दिया जाता है।

१९६. उक्तं च महाभारते भगवता व्यासेन—

स्वदत्तां परदत्तां वा यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर ।
महीं महीमतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयोनुपालनम् ॥

बहुभिर्वसुधा भुक्ता राजभिः सगरादिभिः ।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥

प्रायेण हि नरेन्द्राणां विद्यते नाशुभागतिः ।
पूयन्ते ते तु सततं प्रयच्छन्तो वसुन्धराम् ॥

षष्टिवर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः ।
आच्छेत्ताऽनुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् ॥

आस्फोटयन्ति पितरः प्रवल्गन्ति पितामहाः ।
भूमिदोऽस्मत्कुले जातः स नस्त्राता भविष्यति ॥

सर्वसस्यसमृद्धां तु यो हरेत वसुन्धराम् ।
स्वविष्ठायां कृमिभूर्त्वा पितृभिस्सह मज्जति ॥

(और महाभारतमें भगवान् व्यासने कहा है—हे पृथ्वीपालोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर, स्वयं दी हुई या दूसरोंकी दी हुई भूमिका तू प्रयत्नसे रक्षण कर। भूमि-दानकी अपेक्षा दान दी हुई भूमिका अनुपालन अधिक श्रेयस्कर है। इस भूमिका सगरादि अनेक राजाओंने उपभोग किया। पर जिस-जिस समयमें, जिस-जिस राजाकी भूमि होती है, उस समयमें उस राजाको उस भूमिदानका फल मिलता है। फलतः प्रायः राजाओंको अशुभगति प्राप्त नहीं होती; भूमिदानसे वे बराबर शुद्ध होते जाते हैं। भूमिदान करनेवाला साठ हजार वर्षतक स्वर्गलोकमें आनन्द करता है। उसे छीन लेनेवाला और छीन लेनेकी अनुमति देनेवाला उतने ही वर्षोंके लिए नरकमें गिरता है। दान देनेवालेके पितर तालियाँ बजाते हैं और पितामह गर्वके साथ कहते हैं कि हमारे कुलमें भूमिदान करनेवाला उत्पन्न हुआ; वह हमारा उद्धार करेगा। सब धान्योंसे समृद्ध भूमिका जो हरण करेगा, वह अपने पितरोंसहित अपनी ही विष्ठामें कीड़ा होकर डूब जायगा।)

१. Corpus Inscriptionum Indicarum, iii, 119.

१९८. यह ताम्रपट उच्छकल्पके महाराज जयनाथका (ई० स० ३९३–९४ सालका) है। उसके पूर्वके महाराज हस्ती आदिके लेखोंमें तथा उसके बादके महाराज जयनाथके पुत्र महाराज सर्वनाथ द्वारा दिये गये ताम्रपटोंमें भी इनमेंसे बहुत-से श्लोक हैं। पर नमूनेके लिए ऊपर दिया गया उद्धरण पर्याप्त है। उससे ठीक-ठीक कल्पना की जा सकती है कि ब्राह्मण लोग अपनी जागीरोंके लिए किस प्रकार संरक्षण रखा करते थे; और तब सर सेमुएल होरके सेफगार्डोंपर हँसनेका कोई कारण नहीं रह जाता। इन सेफगार्डोंको केवल ब्रिटिश सेनाका सहारा है, पर ब्राह्मणोंके सेफगार्डोंको व्यासका, स्वर्गका और नरकका सहारा था!

हर्ष-काल

१९९. फाहियान्‌के समयके बाद अर्थात् गुप्तोंके मध्याह्न-कालके अनन्तर पुराणों और पाशुपतादि संप्रदायोंका किस प्रकार विकास होता गया यह सम्प्रति उपलब्ध साधनोंसे बताना बहुत कठिन है। सारे पुराणोंका भलीभाँति अध्ययन किया जाय तो उनमेंसे बहुत-सी सामग्री एकत्र की जा सकती है; पर इस कामके लिए जितना समय चाहिए उतना हमारे पास नहीं है। अतः फहियान्‌से हर्ष-वर्धनके समयतककी यह जानकारी प्राप्त करनेका काम किसी होनहार इतिहास-कारपर छोड़कर हम अब हर्ष-कालका विचार आरम्भ करते हैं।

२०० ह्युएन्त्संग सातवीं शताब्दिके प्रथम पादमें हिन्दुस्तानमें आया। उस समय सारा देश बौद्धोंके विहारोंसे भरा हुआ था। फिर भी काश्मीरके लोगोंने बौद्ध-विहारोंके विरुद्ध विद्रोह किया है, यह समाचार उसने सुना ही था। इसके अतिरिक्त शशांक राजाने जो अत्याचार किये थे, उनकी कथा भी उसने लिखी है। बंगालके राजा शशांकने बुद्धगयाके विहारोंका विध्वंस किया और बोधि-वृक्षको जड़से उखाड़कर जला डाला। उससे मगध देशके बौद्ध-संघपर बड़ा संकट आया। विन्सेन्ट स्मिथने अनुमान किया है कि यह राजा गुप्त-वंशका रहा होगा। पर मञ्जुश्री मूलकल्प (श्लोक ७३०)से जान पड़ता है कि वह ब्राह्मण था और यही ठीक भी होगा। हर्षवर्धनका बड़ा भाई राज्यवर्धन जब मालवेपर चढ़ाई करने गया था, तब शशांकने षड्यन्त्र रचकर उसकी हत्या कराई थी। इससे

मालूम होता है कि मालव देशके राजा और शशांकमें कोई गुप्त संधि हुई थी और इसलिए शशांकने राज्यवर्धनकी हत्या कराई।

२०१. राज्यवर्धनके पश्चात् श्रीहर्ष गद्दीपर बैठा और उसने सात वर्षमें चारों ओरके विद्रोहोंका दमन कर अपने राज्यको दृढ़ किया। बौद्ध-संघके विषयमें श्रीहर्षका पक्षपात प्रसिद्ध है। वह प्रति पाँचवें वर्ष प्रयागमें 'मोक्ष' नामक बड़ा दरबार करता था और अपने खजानेका सर्वस्व दानकर स्वयं भिक्षुके वस्त्र धारण करता था। इसके अतिरिक्त वह बीच-बीचमें भी बड़े-बड़े दरबार कर शीलवान् तथा विद्वान् श्रमण-ब्राह्मणोंका सत्कार किया करता था।

२०२. एक बार श्रीहर्षने अपनी राजधानीके समीप एक संघाराममें ऐसा ही बड़ा दरबार किया। उस दरबारमें आसामका कुमार राजा और शीलादित्य (हर्ष) के राज्यके सब मांडलिक राजा उपस्थित थे। इस उत्सवके लिए सौ फुट ऊँची एक भव्य मीनार बनाई गई थी और इसमें राजाके ही बराबर ऊँची बुद्धकी एक स्वर्णमूर्ति रखी गई थी। इस अवसरपर इक्कीस दिनोंतक श्रमण-ब्राह्मणोंको अन्न-वस्त्रादिका दान दिया गया। पर अन्तिम दिन सहसा उस भव्य मीनारमें आग लग गई। इससे शीलादित्यको अत्यन्त दुःख हुआ और वह एकदम अपने वास-स्थानसे संघारामके फाटककी ओर दौड़ पड़ा। आश्चर्यकी बात यह हुई कि वह आग फैली नहीं और वहीं बुझ गई। अनंतर राजा आस-पासका दृश्य देखनेके लिए सब मांडलिकोंके साथ समीपके स्तूपपर चढ़ा। उसपरसे उतरते समय एक पाषंडीने[1] सहसा उसपर छुरा चला दिया। शीलादित्यने झुककर वार बचाया और उस पाषंडीको पकड़कर नीचे ले आया।

२०३. वहाँ सब मांडलिकोंने सलाह दी कि वह पाषंडी तुरन्त मार डाला जाय। पर ऐसा न कर शीलादित्यने उससे इस आक्रमणका कारण पूछा। उसके बयानसे मालूम हुआ कि उस षड्यंत्रमें बहुत-से पाषंडी सम्मिलित थे और वह केवल उनके हाथकी कठपुतली था। अनन्तर राजाने उन सब पाषंडियों और उनके भक्तोंको बुलवाकर जाँच की। उससे मालूम हुआ कि इस षड्यंत्रमें पाँच

१. पाषंडीका अर्थ पाली साहित्य तथा अशोकके शिलालेखोंमें अन्य सम्प्रदायका संन्यासी होता है।

सौ विद्वान् ब्राह्मण संमिलित थे। राजाका बौद्ध श्रमणोंका इतना सम्मान करना, उन्हें अच्छा नहीं लगता था। उन्होंने मीनारपर जलते पलीते बाँधकर तीर छोड़े और मीनारमें आग लगा दी। उनका अनुमान था कि इससे गड़बड़ मचेगी और लोग इधर-उधर दौड़ने लगेंगे। इस वक्त मौका ढूँढ़कर शीलादित्यका खून करनेका उनका इरादा था। पर मीनारकी आग बुझ गई और गड़बड़ नहीं मची। पीछे उन्होंने इस पाषडीको राजाकी हत्या करनेके लिए नियुक्त किया। इस प्रकार यह षड्यंत्र प्रकट हो जानेपर मांडलिक राजाओंने प्रस्ताव किया कि सब पाषंडियोंका एकदम उच्छेद कर दिया जाय। पर श्रीहर्षको यह प्रस्ताव पसन्द नहीं आया। उसने षड्यंत्रके नेताओंको दंड दिया और शेषको राज्यसे निकाल दिया। उनमें पाँच सौ ब्राह्मण थे।[१]

२०४. शशांक राजा षड्यंत्र रचकर राज्यवर्धनकी हत्या करवाता है और बुद्धगयाके विहारोंका विध्वंस कर भिक्षुओंपर अत्याचार करता है। श्रीहर्ष उसपर चढ़ाई कर उसकी शक्ति बहुत घटा देता है। पर इसके कारण दूसरे षड्यंत्र द्वारा श्रीहर्षकी हत्या करनेका प्रयत्न किया जाता है और इस प्रयत्नकी जड़में थे बहुत-से पाषंडी और ब्राह्मण। इस घटना-चक्रसे यह मान लेना अनुचित न होगा कि शशांककी राजनीतिके मूलमें ब्राह्मणों और पाशुपतोंका षड्यंत्र था। शशांकके पूर्वके गुप्त राजा सबके साथ समानताका व्यवहार करनेवाले थे। इसलिए उनके राज-कालमें बौद्धोंपर अत्याचार नहीं हुए। उनका साम्राज्य नष्ट होते ही पाशुपतों और श्रमण-द्वेषी ब्राह्मणोंने ये षड्यंत्र आरम्भ किये।

२०५. यह संकट-काल बौद्ध श्रमणोंके लिए मननीय होना चाहिए था। सामान्य जनतामें मिल-जुलकर पीड़ितोंको हितोपदेश करनेका जो पाठ बुद्धने पढ़ाया था, उसकी पुनरावृत्ति करनेका यह अवसर था, पर बौद्ध श्रमणोंको उस पाठका अक्षरज्ञान भी नहीं रह गया था। विहारोंमें बैठकर उच्चवर्गको आश्चर्यचकित करनेवाले न्यायादिक उत्तमोत्तम ग्रन्थोंकी रचना करना उनका पेशा हो गया था। इससे उन्हें उच्च वर्गसे जागीरें मिलती थीं और उनके

१. Buddhist Reeords, i, pp. 218—221

संघारामोंका खर्च मजेमें चलता था; फिर साधारण जनताके हितके लिए परिश्रम करनेकी क्या आवश्यकता थी ?

२०६. विनयपिटकके चुल्लवग्गमें दो ब्राह्मण बंधुओंकी कथा है। वह इस प्रकार है—"यमेलु और तेकुल[1] नामके ब्राह्मण जातिके दो विद्वान् भाई भिक्षु हुए थे। एक बार उन्होंने भगवान्को नमनकर कहा—'सम्प्रति विभिन्न भिक्षु अपनी-अपनी भाषामें बुद्धोपदेश देते हैं। अतः हमें वैदिक भाषामें बुद्धोपदेश तैयार करनेकी अनुमति दीजिए।' इसके लिए भगवान्ने उनको दोष दिया और भिक्षुओंसे कहा—'बुद्धोपदेशका वैदिक भाषामें अनुवाद न करें, पर अपनी-अपनी भाषामें बुद्धोपदेश सीखनेकी मैं अनुमति देता हूँ'।" यह कथा बुद्धके समयकी नहीं हो सकती। यह बुद्धके परिनिर्वाणके तीन-चार शताब्दी बाद बल्कि महायान पन्थके प्रचारके आरंभमें रचकर चुल्लवग्गमें सम्मिलित की गई होगी। तो भी कहना पड़ता है कि तत्कालीन भिक्षु अपने कर्तव्यको थोड़ा-बहुत तो समझते ही थे। इस कथाका सार यह है कि बुद्धका उपदेश वैदिक भाषामें न होकर प्रचलित भाषामें होना चाहिए।

२०७. इसमें महायान ग्रंथकारोंकी प्रचलित भाषाके प्रति पूर्ण तिरस्कार होनेकी बात दिखाई देती है। स्पष्ट ही है कि उन्हें लोक-कल्याणकी अपेक्षा अपने संघारामोंकी विशेष चिन्ता थी और और संघारामोंका सारा सुख ऐश्वर्य उच्चवर्गपर अवलंबित था। फलस्वरूप उस वर्गको अच्छी लगनेवाली उच्च भाषामें ग्रंथरचना करना उनका कर्तव्य सिद्ध हुआ। आजकल राजाश्रयकी इच्छा रखनेवाला इंग्लिश भाषाभिज्ञ क्या कभी देशी भाषामें ग्रंथरचना करेगा ?

२०८. श्रीहर्षके पूर्व अर्थात् गुप्त राजाओंके समयमें और श्रीहर्षके पश्चात् आठवीं शताब्दिके अन्ततक बौद्ध श्रमणोंने बहुत साहित्य रचा। वसुबंधुके अभिधर्म कोष, दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चय, शान्तिदेवके बोधिचर्यावतार, शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रह जैसे उत्तमोत्तम बौद्ध-संस्कृत ग्रंथोंकी इसी कालमें रचना हुई। इस कालका बहुत-सा बौद्ध-साहित्य इस देशसे लुप्त

१. 'यमेलु-तेकुला' पाठ ओल्डेनबर्गका (H. Oldenberg's) है, पर सयाम संस्करणमें 'मेट्ट-कोकुट्टा' पाठ है।

हो गया पर उनके तिब्बती और चीनी भाषाके अनुवाद उपलब्ध हैं और यह आशा करनेके लिए स्थान है कि कभी-न-कभी तिब्बत और चीन देशके बड़े-बड़े विहारोंमें मूल संस्कृत ग्रंथ भी मिल जायँगे। इतिहासके लिए वे बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे, पर ऐसा नहीं मालूम होता कि उनसे इस विधानका खंडन होगा कि भिक्षुओंने सामान्य जनताके हित-साधनका मार्ग छोड़कर उच्चवर्गको प्रसन्न करनेका मार्ग स्वीकार किया था।

२०९. शशांकके आक्रमणोंसे केवल मगध देशमें ही नहीं, हिन्दुस्तानके और बहुतसे प्रान्तोंमें भी बौद्धधर्मके नष्टप्राय होनेकी नौबत आ गई थी; पर सौभाग्यसे श्रीहर्ष राज्यारूढ़ हुआ और उसने बौद्धधर्मकी बुझती हुई ज्योति और कुछ कालतक जगा रखी। यह जाननेके लिए कोई मार्ग नहीं है कि उसकी मृत्युके पश्चात् नालंदा तथा अन्य स्थानोंके संघारामोंकी स्थिति किस प्रकार बदलती गई। पर आठवीं शताब्दिमें हिन्दुस्तानमें आये हुए चीनी यात्री इत्सिंगके यात्रा-वृत्तसे मालूम होता है कि इस ज्योतिका प्रकाश धीरे-धीरे कम होता जा रहा था और वह निर्वाणके मार्गपर थी।

शैवोंका अत्याचार

२१०. ईसवी सन्‌की सातवीं शताब्दिके आरंभमें शशांकने जिस प्रकार उत्तरके बौद्धोंको सताना शुरू किया था, उसी प्रकार नेडुमारन् या सुन्दर पांड्यने उसी शताब्दिके उत्तरार्धमें दक्षिणमें जैनोंपर अत्याचार करना आरंभ किया। यह राजा जब गद्दीपर बैठा तब जैनधर्मी था, पर उसकी पत्नीके गुरु तिरुज्ञान संमंदने उसे शैवधर्ममें दीक्षित कर लिया। तबसे वह अपने पहलेके धर्मगुरुओंके—जैन साधुओंके—पीछे पड़ गया। उसने उनपर अनेक प्रकारके अत्याचार किये। आठ हजारसे अधिक जैन साधुओंकी उसने बहुत कष्ट देकर हत्या की। उसके क्रूर कृत्योंका प्रदर्शन अर्काटके तिरुवत्तूर मंदिरकी दीवारोंमें खुदे हुए चित्रोंमें किया गया है। इन अघोरी कृत्योंसे दक्षिणमें जैनधर्मको बड़ा धक्का पहुँचा।[१]

२११. ईसवी सन्‌की सोलहवीं शताब्दिमें सिंहलद्वीपका राजा राजसिंह अपने

१. Early History of India, PP. 474–75.

पिताकी हत्या कर गद्दीपर बैठा। उसने बौद्ध संघको आमन्त्रित करके पितृवधका प्रायश्चित्त पूछा। पर भिक्षुसंघने व्यवस्था दी कि प्रायश्चित्त देना हमारे हाथकी बात नहीं है। तब उसने शैवधर्म स्वीकार कर लिया और भिक्षुसंघपर भयंकर अत्याचार करना आरंभ कर दिया। चार पाँच वर्षके अन्दर ही सारे सिंहलद्वीपमें एक भी भिक्षु नहीं रह गया। बड़े बड़े बौद्ध पुस्तकालय उसने अपने हाथसे जलाये। कहते हैं कि वह यह तीन महीनेतक बराबर करता रहा। सौभाग्यसे उसका कार्यकाल शीघ्र ही समाप्त हो गया। वह जामुन खानेके लिए गया था कि पैरमें जहरीला काँटा लग जानेसे मर गया।[1] पर उसके इस अल्प राज्यकालमें ही सिंहलद्वीपका बौद्धधर्म नष्टप्राय हो गया।

२१२. परंतु सिंहलद्वीपमें शैवोंका स्थान स्थायी रूपसे बना रहना संभव नहीं था। कारण एक तो हजारों वर्षके अभ्याससे बौद्धधर्म लोगोंके रक्त-मांसमें घुल-मिल गया था और दूसरे शैव संन्यासी तामिल देशसे आये थे, इस कारण यह संभव नहीं था कि सिंहली लोग उनका आदर करते रहते। इसलिए राजसिंहके बाद विमलधर्मसूर्य राजाको शैवोंको निकालकर पुनः बौद्धधर्मकी स्थापना करनी पड़ी। संघकी स्थापना करनेके लिए सिंहलद्वीपमें भिक्षु रह ही नहीं गये थे। अतः उसने स्याम देशसे भिक्षु बुलाकर संघकी स्थापना की। सिंहलद्वीपमें आजकल जो प्रमुख पंथ है उसे स्याम निकाय कहते हैं। गरज यह कि शैवोंने अवसर मिलनेपर जैन और बौद्धोंका शिकार करनेका काम सोलहवीं सदीतक जारी रखा और उनके इस आखेटका फल सिंहलद्वीपतकके लोगोंको भोगना पड़ा।

२१३. यह समझना ठीक नहीं कि ये राजा केवल शैवोंके कहनेसे बौद्धों और जैनोंपर अत्याचार करते थे। एक तो बौद्धों और जैनोंको सताना राजाओंका अपनी सेनाके लिए धन प्राप्त कर लेनेका एक साधन बन गया था। कारण उस समय देशकी अधिकांश सम्पत्ति बौद्ध और जैन मन्दिरोंमें एकत्र हो गई थी। दूसरे, बौद्धोंके संघारामों और जैनोंके उपाश्रयोंकी जागीरें छीन लेनेका यह एक

१. महावंस, ९३वाँ परिच्छेद। महावंससे इसका पता नहीं चलता कि वह कैसे मरा। उसके मरणकी सिंहली लोगोंमें प्रचलित कथा यहाँ दी गई है।

अच्छा उपाय था, जो बौद्ध या जैन रहते हुए काममें लाया नहीं जा सकता था। इसी कारण इन राजाओंने शैव धर्मका नेतृत्व ग्रहण कर बौद्धों और जैनोंका उत्पीड़न आरंभ किया।

गौडपाद और शंकराचार्य

२१४. प्रोफेसर पाठकको मिले एक हस्तलिखित ग्रन्थसे मालूम होता है कि शंकराचार्यका जन्म ई० स० ७८८ में और मृत्यु ८२० में हुई।[1] बहुतसे पाश्चात्य पंडितोंका मत है कि केवल बत्तीस वर्षके इस अल्प जीवनमें उन्होंने शारीरिक भाष्य जैसे बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हों, यह संभव नहीं। तथापि यह मान लेनेमें कोई हानि नहीं कि शंकराचार्यका काल आठवीं सदीके अन्त और नवीं सदीके आरंभमें था। उनके जीवनचरित्रके संबंधमें 'शंकर-दिग्विजय' नामका ग्रन्थ प्रसिद्ध है। पर वह काव्यात्मक है, उसे ऐतिहासिक नहीं समझना चाहिए। यह जाननेका मार्ग अभीतक खुला नहीं है कि शंकराचार्यकी शिक्षा कहाँ हुई और उन्होंने अपने धर्मका प्रचार किस-किस प्रकार किया। तथापि मालूम होता है कि वे गोविन्द-पादके शिष्य थे और गोविन्दपाद गौडपादके शिष्य थे।

२१५. गौडपाद और गोविन्दपादके ग्रन्थोंका अच्छी तरह अध्ययन कर उनमेंसे कुछ ऐतिहासिक सत्य ढूँढ़ निकालना संभव है। पर उसमें अधिक समय लगेगा, इसलिए कमसे कम इस समय वैसा करना संभव नहीं है। इतना मान लेनेमें कोई हानि नहीं कि शंकराचार्यने गौडपादाचार्यके पचास-साठ वर्ष बाद प्रसिद्धि प्राप्त की। गौडपादाचार्य द्वारा लिखी गई केवल मांडूक्यकारिका मेरे देखनेमें आई है। इस कारिकाके चौथे प्रकरणका आरंभका श्लोक यह है—

ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्।
ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्॥

(ज्ञेय धर्मोंसे अभिन्न आकाशकल्प ज्ञानसे जिसने आकाश सदृश पदार्थोंको जान लिया, उस द्विपदश्रेष्ठ संबुद्धको मैं नमस्कार करता हूँ।)

---

१. The date of Shankarcharya by Prof. K. B. Pathak, Indian Antiquary XI, 174.

२१६. इस श्लोकसे ही नहीं, सारे प्रकरणसे सिद्ध होता है कि गौडपादाचार्य बुद्धके भक्त थे। तत्कालीन बौद्ध पंडितोंसे एक ही विषयमें उनका मत-भेद था। बौद्ध पंडित ज्ञानको अनित्य समझते थे और गौडपाद नित्य। पर उसके कारण बौद्धोंका और उनका घोर विरोध नहीं था। तत्त्वसंग्रहकार शांतरक्षित अद्वैत-वादियोंका मत नीचे लिखी कारिकामें प्रदर्शित करते हैं—

नित्यज्ञाननिवर्तोऽयं क्षितितेजो जलादिकः।
आत्मा तदात्मकश्चेति सङ्गिरन्तेऽपरे पुनः॥ ३२८॥[1]

(दूसरे कहते हैं कि क्षिति, तेज, जल आदिके रूपमें परिणत यह नित्य ज्ञानरूपी एक ही आत्मा है।) आगे वे कहते हैं—

तेषामल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः

(उनका यह दर्शन अल्पापराध है; कारण वे ज्ञानको नित्य समझते हैं।) अर्थात् शांतरक्षिताचार्यका मत यह जान पड़ता है कि अद्वैतवादियोंके दर्शनमें केवल यही दोष है कि उनके विचारसे ज्ञान नित्य है, अन्य विषयोंमें उनके और बौद्धोंके दर्शनमें कोई भेद नहीं है। शांतरक्षिताचार्यका समय ई० स० ७०५ से ७६२ तकका समझा जाता है।[2] अतः उनका और गौडपादाचार्यका समकालीन होना सम्भव है, तथा यह मान लेनेमें कोई हानि नहीं है कि उस कालतक बौद्धों और अद्वैतवादियोंमें किसी भी प्रकारका झगड़ा नहीं था।

२१७. पर शंकराचार्यके समय यह युग पलट गया। वे बौद्धोंके कट्टर शत्रु बन गये। इसके क्या-क्या कारण हुए यह बताना कठिन है। या तो वे दक्षिणसे आते समय ही अपने साथ श्रमण-विद्वेष लेते आये होंगे या फिर उस समय उत्तर हिन्दुस्तानमें शैव सम्प्रदायका जोर बढ़ता हुआ देखकर खुद भी उसीमें घुसकर बौद्धों और जैनोंपर आक्रमण करना उन्हें लाभदायक जान पड़ा होगा। ऐसी स्थितिमें भी गौडपादके तत्त्वज्ञानका त्याग करना उनके लिए सम्भव नहीं था। अन्तर केवल इतना ही हुआ कि गौडपाद प्रत्यक्ष रूपसे 'बुद्धभक्त' थे और शंकराचार्य 'प्रच्छन्न बौद्ध' बने।

१. तत्त्वसंग्रह, पृष्ठ १२३ (Gaekwad's Oriental Series)
२. तत्त्वसंग्रह (Forward, पृष्ठ १०–१६।

२१८. एक किंवदन्ती है कि शंकराचार्यने हिन्दुस्तानसे सब बौद्धोंको निकाल दिया। पर यह ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। शंकराचार्यके समय बौद्धधर्म मृतप्राय हो गया था और उसका श्रेय यदि श्रमणोंके आलस्यके अतिरिक्त और किसीको देना ही हो तो वह पाशुपतादिक शैव संन्यासियोंको, उनको उभाड़नेवाले ब्राह्मणों-को और उनकी सहायता करनेवाले शैव राजाओंको देना होगा। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि शंकराचार्यने इस कार्यमें यथाशक्ति सहायता दी, पर बौद्धधर्म उनके बाद भी मुहम्मद गोरीके आक्रमणोंके समयतक पूर्व हिन्दुस्तानमें किसी-न-किसी तरह जी रहा था।[1]

२१९. काशीके समीप सारनाथ बौद्धोंका एक प्रसिद्ध स्थान है। पहले बताया जा चुका है कि इस स्थानपर बुद्धने अपने प्रथम पाँच शिष्योंको उपदेश दिया था। इस स्थानके समीप ही सारनाथ नामका महादेवका लिंग है। इसके आसपास रहनेवालोंका विश्वास है कि पड़ोसके बौद्धोंको निकाल देनेके बाद शंकराचार्यने इस लिंगकी स्थापना की थी। पर यह विश्वास सर्वथा निराधार है। वहाँके बौद्धोंके विहार प्रथमतः[2] मुहम्मद गोरी द्वारा लूटे गये होंगे। उसके आक्रमणके बाद ही ई० स० १०२६ में बंगालके महिपाल राजाके राज्यकालमें स्थिरपाल और वसंतपाल नामके दो धनी भाइयोंने वहाँकी हरेक इमारतकी मरम्मत करवाई। अनंतर बारहवीं शताब्दिके पूर्वार्धमें कन्नौजके राजा गोविन्दचन्द्रकी रानी कुमार-देवीने धर्मचक्र-जिन-विहार नामका एक बड़ा मन्दिर बनवाया। गोविन्दचन्द्र ई० स० ११५४ तक राज्य करता रहा। अतः यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि उसके राज्यकालमें सारनाथकी सब इमारतें साबुत थीं और यह स्पष्ट है कि उनका उच्छेद मुहम्मद गोरीके समयमें हुआ होगा।[2]

पुराणोंका हमला

२२०. गुप्तराजा स्वयं वासुदेवके भक्त थे तथापि उन्होंने अपने राज्य-कालमें बौद्धोंके बहुत-से विहार बनवाये और संघारामोंको जागीरें दीं। उनके राज्य-कालमें

---

१. वि० ३।१३७ देखिए।

२. Guide to the Buddhist Ruins of Sarnath, by Rai Bahadur Daya Ram Sahni देखिए।

ब्राह्मणोंने पुराणोंमें मनमाने उलट-फेर किये तथापि स्पष्टरूपसे बुद्धपर आक्रमण करना उनके लिए संभव न होनेके कारण उन्होंने यह माननेमें आपत्ति नहीं की कि बुद्ध वासुदेवका एक अवतार है। पर जान पड़ता है कि शीलादित्यके बाद ब्राह्मणोंके लिए बुद्धको विष्णु-अवतार मानना बहुत बाधक होने लगा, उससे सर्व-साधारणमें भ्रम फैलानेमें बड़ी बाधा पड़ने लगी।

२२१. इधर यद्यपि शैवधर्मके प्रभावके कारण राजाओं द्वारा बौद्धोंका उत्पीड़न जारी था फिर भी जनतामें उनके प्रति थोड़ा-बहुत आदर बच रहा था। इसपर शंकराचार्यने यह कहनेकी युक्ति निकाली कि यह बुद्ध लोगोंको मोहमें डालकर उनका नाश करनेका प्रयत्न करनेवाला है। वे कहते हैं—"अपि च बाह्यार्थ-विज्ञान-शून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति। (और, बाह्यार्थ, विज्ञान तथा शून्य इन तीन परस्परविरुद्ध वादोंका उपदेश देने वाले सुगतने बकवाद करनेका अपना स्वभाव व्यक्त किया अथवा इस परस्पर-विरुद्ध मार्गका अवलंबन कर जनता मोहमें पड़े, इस बुद्धिसे अपना जनद्वेष स्पष्ट रूपसे प्रदर्शित किया है।)

२२२. शंकराचार्यके इस संकेतको पौराणिक ब्राह्मण समझ गये और इसी तरहकी बातें जिस-तिस पुराणमें घुसेड़ दीं। इसका एक अच्छा उदाहरण विष्णु-पुराणमें मिलता है। वह इस प्रकार है—"देवासुर-संग्राममें देवोंकी पराजय हुई। तब उन्होंने क्षीरसागरके उत्तरमें जाकर तप आरंभ किया और विष्णुके पास पहुँचकर उसकी स्तुति की। विष्णु उनपर प्रसन्न हुआ और अपने शरीरसे माया-मोह निर्माणकर देवोंको दिया। मायामोह मुंडी, दिगंबर और मोरपंखधारी बनकर असुरोंके पास गया और मधुर वाणीसे बोला—'हे दैत्यपति, आप यह तपश्चर्या क्यों करते हैं?' उन्होंने कहा—'पारत्रिक फल-लाभके लिए हम यह तप करते हैं। इसपर तुम्हारा क्या कहना है?' तब उसने कहा—'यही धर्म मोक्षदायक है। इसमें स्थिर होकर आप मुक्ति प्राप्त करेंगे।' इस प्रकार मायामोहने अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) का उपदेश देकर उन दैत्योंसे वैदिक धर्म छुड़वाया।

२२३. अनन्तर रक्तपट धारणकर और जितेन्द्रिय होकर मायामोह दूसरे

असुरोंके पास गया और उनसे बोला—'यदि तुम्हें स्वर्ग अथवा निर्वाणकी इच्छा हो, तो तुम पशुघातादि दुष्ट कर्म न करो। संसारको विज्ञानमय समझो। संबुद्धने यही बताया है।' इस तरह नाना प्रकारकी युक्तियोंसे मायामोहने उन दैत्योंको वैदिक धर्मसे परावृत्त किया। अनन्तर देवताओंने युद्ध करके उनका उच्छेद किया।" (विष्णुपुराण, अंश ३ अ० १७–१८)

२२४. अनंतर पराशर मैत्रेयको एक कथा सुनाता है, जो इस प्रकार है— "राजा शतधनु और उसकी रानी शैव्याने जनार्दनकी आराधनाके लिए व्रत आरंभ किया। एक बार कार्तिकी एकादशीको गंगामें स्नानकर बाहर आनेपर उन दोनोंने सामनेसे आते हुए एक पाषंडीको देखा। यह पाषंडी उस आदमीका मित्र था जिसने राजाको धनुर्विद्या सिखाई थी। इसलिए राजाने उससे मैत्रीपूर्ण वार्तालाप किया। पर रानी संयमी होनेके कारण सूर्यकी ओर दृष्टि लगाकर बैठी रही। अनंतर उन्होंने विष्णुकी पूजा की।

२२५. "कुछ काल बाद राजाकी मृत्यु हुई। रानी उसके साथ सती हुई। पर राजा उस पापाचरणके कारण कुत्ता हुआ और रानी पूर्व जन्मका ज्ञान रखनेवाली काशिराज-कन्या हुई। उसे मालूम हो गया कि उसका पति विदिशा नगरीमें श्वान-योनिमें उत्पन्न हुआ है और उसने वहाँ जाकर उसे (पतिको) अच्छा आहार आदि देकर उसका सत्कार किया। इसपर वह पूँछ आदि हिलाकर कुत्तों जैसा व्यवहार करने लगा। वह बड़ी लज्जित हुई और उसने कहा— 'महाराज, आप किस कारण श्वान-योनिमें उत्पन्न हुए और मेरे सामने ऐसा व्यवहार क्यों कर रहे हैं, इसका विचार कीजिए। क्या आपको इसका स्मरण नहीं है कि तीर्थस्थानके बाद पाषंडीसे भाषण करनेके कारण आपको यह कुत्सित योनि प्राप्त हुई है ?

२२६. "उसके भाषणसे उसे (पतिको) संवेग उत्पन्न हुआ और उसने (पतिने) नगरके बाहर जा मरुत्प्रपातसे कूदकर प्राण दे दिया और वह शृगाल-योनिमें उत्पन्न हुआ। वहाँ भी उसकी पत्नीने उसे पूर्वजन्मका स्मरण कराया और उसने अनशन द्वारा प्राण त्याग किया। अनंतर भेड़िया, गृध्र, काक, बक और मयूर-योनिमें उसका जन्म हुआ। उस समय जनक राजाका अश्वमेध

यज्ञ हो रहा था। उसमें काशिराज-कन्याने उस मयूरको अवभृथ स्नान कराया और पूर्वजन्मका स्मरण दिलाया। तब उसने (पतिने) शरीर त्याग किया और वह जनक राजाका पुत्र हुआ। पीछे काशिराज-कन्याने स्वयंवर रचकर उसका वरण किया। अतः पाषंडीसे संभाषण, संसर्ग अथवा हास्य-विनोद करना अतिपाप समझकर वर्ज्य करे। (अंश ३, अ० १८, श्लो० ५३-१००)

पाषंडिनो विकर्मस्थान्बैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥१०१॥

(वेदबाह्य कर्म करनेवाले, मार्जारव्रत धारण करनेवाले, हेतुवादी और बकवृत्ति पाषंडियोंकी शब्दोंसे भी पूजा न करे।)

२२७. यही श्लोक मनुस्मृतिके चतुर्थ अध्यायमें मिलता है। उसका हैतुकान् शब्द महत्त्वका है। हेतु-विद्याका मूल संस्थापक वसुबंधु था। अतः यह सिद्ध होता है कि यह श्लोक अथवा संपूर्ण मनुस्मृति ही वसुबंधुके बहुत वर्ष बाद लिखी गई है। विष्णुपुराणके रचयिताने इस श्लोककी व्याख्या कथाके रूपमें की है। उसमें ग्रन्थकारने बुद्धके अवतार माने जानेमें भी लीपापोती की है। उस कथाका तात्पर्य यह है कि वह अवतार अवश्य है पर दैत्योंके नाशके लिए; अतः उस अवतारके भक्त भिक्षुओंकी शब्दमात्रसे भी पूजा नहीं की जा सकती। जैन और बौद्ध श्रमण पुनर्जन्मकी कथाएँ कहकर लोगोंका मन अपने पंथोंकी ओर आकृष्ट किया करते थे। वैसी ही पुनर्जन्मकी कथाका सहारा लेकर जैनों और बौद्धोंको पराजित करनेकी यह अच्छी युक्ति थी! यह स्पष्ट ही है कि इस ग्रन्थकारने उपर्युक्त कथा यह दिखानेके लिए रची कि व्रतके दिन ऐसे पाषंडियोंसे केवल बात करनेका भी कैसा भयंकर परिणाम होता है।

२२८. मार्जारव्रतिक, बकव्रतिक आदि विशेषणोंसे संबोधितकर श्रमणोंको गालियाँ देनेकी प्रथा बहुत प्राचीन है। खास त्रिपिटकमें ही इसका उल्लेख है, जो इस प्रकार है—"ककुसंध बुद्धके समय एक बार दूसी नामके मारने ब्राह्मणोंके शरीरमें प्रवेश किया। तब वे श्रमणोंको देखकर कहने लगे कि ये मुंडक श्रमण विलासी, कृष्णधर्मी, ब्रह्मदेवके पैरसे उत्पन्न हुए, ध्यान करनेके बहाने सिर नीचा कर मन्दतासे विचार करते रहते हैं। जिस तरह उल्लू शामको पेड़की डालीपर

बैठकर चूहे का ध्यान करता है, या सियार नदी किनारे बैठकर मछलीका ध्यान करता है, या बिलौटा मकानकी दीवारकी आड़में या घूरेपर बैठकर चूहेका ध्यान करता है या निरुपयोगी गदहा ऐसी ही जगहपर ध्यान करता है, उसी तरह ये मुंडक श्रमण ध्यान करते हैं।

२२९. "यह बात जब ककुसंध बुद्धको मालूम हुई तब उसने कहा—'हे भिक्षुगण, ब्राह्मणोंको दूसी मारने ग्रस लिया है, इसलिए वे तुम लोगोंको गालियाँ देते हैं। ऐसे समय तुम लोग मैत्री चित्तसे चारों दिशाएँ व्याप्त कर डालो; करुणा चित्तसे, मुदिता चित्तसे और उपेक्षा चित्तसे चारों दिशाएँ व्याप्त कर डालो।' भिक्षुओंके इन चार भावनाओंको अंगीकार करनेके कारण, दूसी मारको इन्हें पराजित करनेका अवसर नहीं मिला। तब उसने ब्राह्मणोंके शरीरमें प्रवेश कर उनसे भिक्षुओंका बहुत आदर-सत्कार करना आरंभ किया। तब ककुसंधने कहा—'यह मारका काम है, ऐसा समझकर तुम मोहमें मत पड़ो। हमारा शरीर गन्दा है यह ध्यानमें रखो, अन्नमें प्रतिकूलता है ऐसा समझो, संसारसे सन्तुष्ट न हो और सब संस्कार अनित्य हैं ऐसा विचार करो।" (मारतज्जनीयसुत्त, मज्झिमनिकाय)

२३०. यह कथा ककुसंधके समयकी बताई गई है, पर ऐसी घटना गौतम बुद्धके बाद ही हुई होगी। ब्राह्मण कभी भिक्षुओंको गाली देते थे तो कभी उनका आदर-सत्कार करते थे। अतः ऐसे अवसरपर निन्दासे घबड़ा न जाकर अथवा स्तुतिसे फूल न जाकर स्थिर मार्गपर रहनेका उपाय इस कथामें बताया गया है।

२३१. "एक बार बुद्ध भगवान् बड़े भिक्षुसंघके साथ राजगृहसे नालंदा ग्रामको जा रहे थे। उनके पीछे-पीछे सुप्रिय परिव्राजक और उसका शिष्य ब्रह्मदत्त था। सुप्रिय नाना प्रकारसे बुद्धकी, धर्मकी और संघकी निन्दा कर रहा था, पर उसका शिष्य अनेक प्रकारसे बुद्धकी, धर्मकी और संघकी स्तुति कर रहा था। यह देखकर भिक्षुओंको बड़ा आश्चर्य हुआ और यह बात उन्होंने बुद्धसे कही। तब भगवान् बोले—'हे भिक्षुगण, कोई मेरी, धर्मकी अथवा भिक्षु-संघकी निन्दा करे तो उसके लिए बुरा मानना ठीक नहीं। यदि उसके कारण तुम्हारे मनपर आघात होगा तो वह तुम्हारे लिए ही अन्तरायकारक होगा। यदि दूसरे लोग

मेरी, धर्मकी अथवा भिक्षुसंघकी स्तुति करें तो तुम्हारा फूल जाना ठीक नहीं। तुम फूल जाओगे तो उससे तुमको ही अन्तराय होगा।"

२३२. बुद्धका वह उपदेश भिक्षु बिलकुल भूल गये होंगे। उन्होंने यदि निन्दा या स्तुतिका गंभीरतासे सामना कर जनसाधारणके कल्याणका मार्ग स्वीकार किया होता, तो ब्राह्मणों और शैव संन्यासियोंसे डरनेका कोई कारण नहीं था। पर वैसा न करके पुराणोंके आक्रमणसे अपनी रक्षा करनेके लिए मानो एक प्रकारसे महापंकमें ही कूद पड़े। एकके बाद एक, तंत्रकी रचना कर वे अपने संप्रदायकी रक्षा करनेका प्रयत्न करने लगे। पर दिनमें बुद्धकी पूजा और रातको वाममार्ग स्वीकार कर नग्न स्त्रीकी पूजा करनेका मेल कैसे बैठता? उससे शैव संन्यासियोंका खुले आम लिंग-पूजा करना क्या खराब था? ब्राह्मणोंका सामना करनेके लिए उन्होंने इसी समय मञ्जुश्रीमूलकल्प जैसे पुराणोंकी रचना करना आरंभ किया। पर उनमें भी तीव्रतर हिंसा और बीभत्सादि रसोंका प्रदर्शन न कर सकनेके कारण ये श्रमण ब्राह्मणोंके सामने फीके पड़ गये और टिक न सके।

कापालिकोंका पराक्रम

(प्रबोधचन्द्रोदय नाटकसे)

२३३. आगे चलकर शैव—विशेषतः उनका अघोरी पंथ—जैनों और बौद्धोंका विध्वंस किस प्रकार करने लगा, इसका वर्णन कृष्ण-मिश्र यतिकृत प्रबोधचन्द्रोदय नाटकके तीसरे अंकमें मिलता है। उसका अनुवाद यह समझकर यहाँ दे रहा हूँ कि वह वर्णन यद्यपि काव्यमय है तथापि उसमें इतिहासका थोड़ा-बहुत अंश अवश्य होगा।

२३४. शान्ति और करुणा प्रवेश करती हैं। श्रद्धाका पता न लगनेके कारण शान्ति अग्निकाष्ठ भक्षण करनेके विचारमें है। करुणा उसे सान्त्वना देती है और वे दोनों श्रद्धाको ढूँढनेके लिए पाषंडी लोगोंके मठकी ओर चलती हैं। इतनेमें क्षपणक आगे आता है। उसे देखकर करुणा त्रासके साथ कहती है—सखि, राक्षस राक्षस!

शान्ति—यह राक्षस कौन?

करुणा—देखो, देखो, शरीरपर मैल जमा हुआ होनेके कारण बीभत्स दिखाई देनेवाला, सिरके बाल उखाड़ फेंकने और नग्नताके कारण घिनौना, मोरके पंख हाथमें लेकर इधर ही आ रहा है।

शान्ति—सखि, यह राक्षस नहीं है। यह तो बिलकुल निर्वीर्य दिखाई देता है।

करुणा—तब फिर यह कौन हो सकता है?

शान्ति—सखि, यह पिशाच होगा, ऐसा सन्देह होता है।

करुणा—पर सखि इस दिन-दोपहरमें सूर्यके उत्तम रीतिसे प्रकाशित रहते हुए पिशाचोंको अवसर कहाँ?

शान्ति—तब फिर नरकसे अभी निकला हुआ नरकवासी प्राणी होगा। (उसकी ओर देखकर और विचार करके) हाँ, समझी। महामोहका भेजा हुआ यह दिगंबर (जैन) सिद्धान्त है। इसलिए इसका दर्शन दूरसे ही त्याग करना चाहिए। (ऐसा कहकर मुँह फेर लेती है)

करुणा—सखि, जरा ठहरो। यहाँ मैं जरा श्रद्धाका पता लगाती हूँ।

२३५. (वे एक ओर खड़ी रहती हैं। अनन्तर उपर्युक्त वर्णनानुसार दिगंबर सिद्धान्त प्रवेश करता है।)

दिगंबर—ओं णमों अलिहन्ताणं। (आकाशकी ओर देखकर) अरेरे श्रावको, सुनो। हमारे इस मलमय पुद्गलपिंडकी सब प्रकारके जलोंसे भी कैसे शुद्धि होगी? पर आत्मा विमल-स्वभाव है; और उसका ज्ञान ऋषिपरिचर्यासे होता है। क्या कहते हो? यह ऋषिपरिचर्या कौन-सी? तो फिर सुनो। दूरसे दंडवत करो और सत्कारपूर्वक उन्हें मिष्टान्न भोजन दो। यदि वे तुम्हारी स्त्रियोंसे अति प्रसंग करें तो अपने मनमें ईर्ष्या मल उत्पन्न न होने दो। (परदेकी ओर देखकर) श्रद्धा, जरा इधर आ।

२३६. (शांति और करुणा भयभीत होकर उधर देखती हैं। अनंतर दिगंबर वेषके लिए उपयुक्त पोशाकमें श्रद्धा प्रवेश करती है।)

श्रद्धा—महाराजकी क्या आज्ञा है? (यह सुनकर शांति मूर्छित होकर गिरती है।)

दिगंबर (श्रद्धासे)—श्रावकोंके कुलको एक क्षणके लिए भी न छोड़ ।

श्रद्धा—जैसी महाराजकी आज्ञा । (ऐसा कहकर वह चली जाती है ।)

करुणा—प्रिय सखि, जरा शान्त हो । नाममात्रसे डरनेका कोई कारण नहीं। मैंने हिंसासे सुना है कि तमकी कन्या श्रद्धा पाषंडियोंके पास भी रहती है । अतः यह तामसी श्रद्धा होनी चाहिए ।...

२३७. (अनन्तर भिक्षुरूपधारी बुद्धागम हाथमें पुस्तक लेकर प्रवेश करता है)

भिक्षु (विचार करके)—भो, भो, उपासको, सब पदार्थ क्षणस्थायी और अनात्मक हैं । वे बाह्य-से जान पड़ते हैं । पर जब चित्त-संततिमेंसे सब वासनाएँ निकल जाती हैं तब वह विषयोंसे विरक्त हो जाती है । (जरा इधर-उधर घूमकर बड़ी आढ्यतासे) अरे, यह सौगत धर्म सचमुच अच्छा है, जिसमें सौख्य है और मोक्ष भी है । सोनेको उत्तम आवास, अपनी पसन्दकी बनियोंकी स्त्रियाँ; नियमित समयपर मिष्ट भोजन, उत्तम बिछौने, श्रद्धासे स्त्रियाँ पूजा करती हैं और इस प्रकार बड़े आनन्दसे चाँदनी रातें कट जाती हैं ।

करुणा—सखि, तरुण, ताडवृक्षके समान ऊँचा, काषाय वस्त्र धारण किये, मुंडित सिर यह कौन इधर आ रहा है ?

शांति—सखि, यह बुद्धागम है ।

भिक्षु (आकाशकी ओर देखकर)—रे, रे, उपासको और भिक्षुओ, भगवान् सुगतका वचनामृत सुनो । (पुस्तक पढ़ता है) मैं दिव्य चक्षुसे लोगोंकी सुगति और दुर्गति देखता हूँ । सब संस्कार क्षणिक हैं । आत्मा स्थायी नहीं । इसलिए भिक्षु स्त्रियोंसे अतिप्रसंग करें, तो भी ईर्ष्या न करे; कारण इर्ष्या चित्तका मालिन्य है । (परदेकी ओर देखकर) श्रद्धा जरा इधर आ । (श्रद्धा प्रवेश करती है ।)

श्रद्धा—महाराजकी क्या आज्ञा है ?

भिक्षु—उपासकों और भिक्षुओंको चिरकाल आलिंगन किये रहो ।

श्रद्धा—जैसी महाराजकी आज्ञा । (ऐसा कहकर चली जाती है ।)

शांति—सखि, क्या यह भी तामसी श्रद्धा है ?

करुणा—हाँ।

२३८. क्षपणक (भिक्षुको देखकर जोरसे)—अरे भिक्षुक, जरा इधर आ। तुझसे कुछ पूछना चाहता हूँ।

भिक्षु—(क्रोधसे) अरे पापी पिशाचाकृति, यह क्या बड़बड़ा रहे हो?

क्षपणक—अरे क्रोध न करो। शास्त्रार्थ पूछता हूँ।

भिक्षु—रे क्षपणक, तू शास्त्रार्थ भी जानता है? रहने दे। (उसके पास जाकर) क्या पूछना है?

क्षपणक—यह बता कि क्षण-विनाशी तू यह व्रत क्यों धारण करता है?

भिक्षु—अरे सुन। मेरी चित्त-संततिसे उत्पन्न होनेवाला कोई विज्ञानवान् वासनाक्षय करके मोक्ष प्राप्त करेगा।

क्षपणक—अरे मूर्ख, किसी एक मन्वन्तरमें, कोई एक मुक्त होगा। उससे सम्प्रति नाश होनेवाला तुझे क्या लाभ? और पूछता हूँ कि ऐसे इस धर्मका तुझे किसने उपदेश दिया?

भिक्षु—अवश्य ही इस धर्मका उपदेश सर्वज्ञ भगवान् बुद्धने किया है।

२३९. क्षपणक—अरे, बुद्ध सर्वज्ञ थे, यह तुझे कैसे मालूम हुआ?

भिक्षु—अरे, उनके ही उपदिष्ट आगमोंसे क्या बुद्ध सर्वज्ञ नहीं सिद्ध होते?

क्षपणक—हे त्यक्तबुद्धे, यदि उसके ही वचनोंसे वह तुझे सर्वज्ञ जान पड़ता है, तब मैं भी सर्वज्ञ हूँ और कहता हूँ कि तू सात पुश्तसे मेरा दास है।

भिक्षु—(क्रोधसे) अरे चांडाल, कीचड़से सने पिशाच, मैं तेरा दास?

क्षपणक—अरे विहारवासी भुजंग, दुष्ट परिव्राजक, यह तो मैंने एक दृष्टान्त दिया। अब तेरे कल्याणकी बात निर्भयतासे बताता हूँ। बुद्धका धर्म छोड़कर अर्हन्तके शासनको स्वीकार कर और दिगंबर-व्रत धारण कर।

भिक्षु—अरे पापी, स्वयं नष्ट होकर क्या दूसरोंका भी नाश करना चाहता है? ऐसा कौन अनिन्दित मनुष्य होगा, जो हमारा यह उत्कृष्ट स्वराज्य छोड़कर तेरा यह निंद्य पिशाचव्रत धारण करेगा?

२४०. (इसके बाद उन दोनोंमें कुछ विवाद होता है। शांति और करुणा दूसरी ओर जाना चाहती हैं। इतनेमें कापालिक रूपधारी सोमसिद्धान्त प्रवेश

करता है। तब क्षपणक उसके पास जाकर उससे कहता है।)

क्षपणक—अरे कापालिक, मनुष्योंकी हड्डियोंकी माला धारण करनेवाले, तेरा धर्म कौन-सा है और मोक्ष कौन-सा है ?

कापालिक—अरे क्षपणक, हमारा धर्म कौन-सा है यह सुन। हम मनुष्यका भेजा, आँतें, वसा और मांससे भरी आहुतियाँ देते हैं और मनुष्यकी खोपड़ीसे सुरापान कर पारण करते हैं। ताजा कटे मनुष्यके गलेसे निकाली हुई रक्तकी धाराओंके बलिदानसे हम महा भैरवकी पूजा करते हैं।

भिक्षु—(कानपर हाथ रखकर) बुद्ध, बुद्ध ! यह कैसी दारुण धर्म-चर्या है ?

क्षपणक—अर्हत, अर्हत ! अरे रे, घोर पाप करनेवाले किसी मनुष्यने इसे ठगा होगा !

२४१. कापालिक—(क्रोधसे) अरे पापी, नीच पाषंडी, मुंडक, केशलुंचक ! हमें ठगनेवाला यदि कोई है तो वह है चतुर्दश भुवनोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाला, तथा जिसका सिद्धान्त-वैभव वेदान्तप्रसिद्ध है, ऐसा भगवान् पार्वतीपति। ठहर, उसके धर्मकी महिमा तुझे दिखाता हूँ...

क्षपणक—अरे कापालिक, इसीलिए मैं कहता हूँ कि किसी इन्द्रजाल-विद्या जाननेवालेने जादू दिखाकर तुझे ठगा है।

कापालिक—अरे पापी, तू परमेश्वरको इन्द्रजालविद्या दिखानेवाला कहता है ? तेरी यह दुष्टता क्षम्य नहीं। (तलवार म्यानसे बाहर निकालता है) डिमडिम डमरू बजाकर और भूतगणको एकत्र कर इस तलवारसे इसका सिर काटनेपर इसकी कंठनलिकाओंसे उड़नेवाली फेनिल रक्त-धाराओंसे भूतगणोंके साथ पार्वतीकी पूजा करता हूँ ! (ऐसा कहकर तलवार ऊपर उठाता है।)

क्षपणक—(भयसे) हे महाभाग, अहिंसा परमधर्म है ! (भिक्षुकी बगलमें घुसता है।)

भिक्षु—(कापालिकका निवारण कर) हे महाभाग, सिर्फ हँसीमें कही हुई बातपर क्रोधित होकर इस बेचारेपर प्रहार करना उचित नहीं। (कापालिक तलवारको म्यानमें रखता है।)

२४२. क्षपणक—(कुछ होशमें आकर) यदि महाभागका भयंकर क्रोध शान्त हुआ हो, तो मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।

कापालिक—पूछो।

क्षपणक—आपका परम धर्म हमने सुना। अब मोक्ष क्या है, सो बताइए।

कापालिक—अच्छा तो सुनो। मृडानीपति कहता है कि विषयोंके बिना संसारमें कहीं सुख नहीं। जीवकी विषयानन्दविरहित स्थिति ही यदि मुक्ति हो तो उसे पाषाणावस्था कहना चाहिए! उसकी इच्छा क्यों करे? चन्द्रचूडशरीरी मुक्त जीव पार्वतीसदृश दयिताको आलिंगन कर सानन्द क्रीडा करता है।

भिक्षु—महाभाग, इसपर श्रद्धा नहीं होती कि अवीतरागको मुक्ति मिलती है।

क्षपणक—अरे कापालिक, यदि क्रोध न करो तो बताता हूँ। सशरीरी तथा सरागी मुक्ति संभव ही नहीं।

कापालिक (स्वगत)—हूँ, अश्रद्धाके कारण इनके मन अस्थिर हुए हैं। अच्छा रहने दो। (प्रकट) श्रद्धा, जरा इधर तो आ।

२४३. (अनंतर कापालिक वेषधारिणी श्रद्धा प्रवेश करती है।)

करुणा—सखि, देख, देख, रजोगुणकी कन्या श्रद्धा आई। प्रफुल्ल नीलोत्पल सदृश उसकी आँखें हैं। मनुष्यकी हड्डियोंसे बनी उसके गलेकी माला कितनी सुन्दर दिखाई देती है! स्थूल कटि तथा स्तन-भारके कारण मन्दगामिनी यह पूर्णेन्दुमुखी विलासिनी शोभा दे रही है।

श्रद्धा—(समीप आकर) मैं हाजिर हूँ। स्वामि, आपकी क्या आज्ञा है?

कापालिक—प्रिये, पहले इस दुरभिमानी भिक्षुको पकड़ तो सही।

२४४. (श्रद्धा भिक्षुको आलिंगन करती है। उसके आलिंगनसे भिक्षु रोमांचित होता है और मन ही मन कहता है।)

भिक्षु—अहाहा! इस कापालिनीका स्पर्श कितना सुखकर है! मैंने न जाने कितनी राँडोंका आलिंगन किया होगा। पर मैं सौ बार बुद्धकी सौगन्द खाकर कहता हूँ कि ऐसा आनन्द मुझे कभी नहीं मिला! सचमुच कापालिकोंका कार्य

बड़ा पुण्यप्रद है और यह सोमसिद्धान्त वर्णनीय है ! यह धर्म आश्चर्यजनक है ! हे महाभाग, मैंने बुद्धधर्म बिलकुल छोड़ दिया। अब मैं पारमेश्वर सिद्धान्तमें प्रवेश करता हूँ। इसलिए तुम मेरे आचार्य, और मैं तुम्हारा शिष्य। मुझे पारमेश्वरी दीक्षा दो।

क्षपणक—अरे भिक्षु, तू कापालिनीके स्पर्शसे दूषित हुआ है, अतः यहाँसे दूर हो जा।

भिक्षु—अरे पापी, कापालिनीके आलिंगन-महोत्सवसे तू वंचित है !

कापालिक—प्रिये, क्षपणकको पकड़। (कापालिनी क्षपणकसे लिपट जाती है।)

क्षपणक—(रोमांचित होकर) अरिहंत ! अरिहंत ! कापालिनीके स्पर्शमें कैसा सुख है ! सुन्दरी, दे, दे, मुझे पुनः आलिंगन दे !......अरे कापालिकोंका दर्शन सुखका और मोक्षका साधन है ! कापालिक, अब मैं तुम्हारा दास हो गया हूँ। मुझे भी महाभैरवके अनुशासनकी दीक्षा दो।

कापालिक—तो फिर बैठो।

२४५. (दोनों ही बैठते हैं और कापालिक पात्र हाथमें ले ध्यानस्थ हो जाता है।)

श्रद्धा—भगवन्, पात्र मदिरासे भर गया। (कापालिक उसमेंसे थोड़ी मदिरा पीता है और वह पात्र भिक्षुको तथा क्षपणकको देता है।)

कापालिक—यह पवित्र अमृत संसारकी औषधि है; इसका पान करो। भैरवने इसे पशु और पाशके उच्छेदका कारण बताया है। (वे दोनों विचारमें पड़ जाते हैं।)

क्षपणक—हमारे अरिहंतके धर्ममें सुरा-पान नहीं है।

भिक्षु—कापालिककी जूठी मदिरा मैं कैसे पीऊँ ?

कापालिक—(विचार करते हुए एक ओर) श्रद्धे, क्या विचार कर रही है ? अभीतक तू इनका पशुत्व दूर नहीं कर सकी ? इसी कारण ये मेरी जूठी मदिराको अपवित्र समझते हैं। अतः इस मदिराको मुँहसे लगाकर पवित्र कर और इन्हें दे। तैर्थिकोंका कथन है ही कि, 'स्त्रीमुखं तु सदा शुचि।'

श्रद्धा—जैसी आपकी आज्ञा। (यह कहकर वह सुरापात्रको मुँहसे लगाती है और थोड़ी मदिरा पीकर भिक्षुको देती है।)

भिक्षु—इसे महाप्रसाद ही कहना चाहिए। (ऐसा कहकर पात्र लेकर मदिरा पीता है।) यह मदिरा कैसी सुन्दर है! वेश्याओंके साथ मैं कई बार मदिरा पी चुका हूँ। पर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि इस कापालिनीकी जूठी मदिरा न मिलनेके कारण ही देवगण अमृतकी लालसा करते हैं!

क्षपणक—अरे भिक्षु, सारी मदिरा न पी ले। कापालिनीकी जूठी थोड़ी मेरे लिए भी छोड़ दे।

२४६. (भिक्षु वह पात्र क्षपणकको देता है और क्षपणक मदिरा पीता है।)

क्षपणक—अहाहा! क्या मिठास है इस मदिरामें! क्या स्वाद है! क्या सुगंध है! और क्या रुचि है! अरिहंतके शासनमें पड़कर मैं ऐसी मदिरासे सदा ही वंचित रहा। अरे भिक्षु, मुझे चक्कर आ रहा है, इसलिए मैं सोता हूँ।

भिक्षु—अब यही किया जाय। (ऐसा कहकर दोनों ही सोते हैं।)

कापालिक—प्रिये, बिना पैसेके ये दो दास हमें मिले, इसलिए आओ अब नाचें। (ऐसा कहकर कापालिक और कापालिनी नृत्य करती है।)

क्षपणक—अरे भिक्षु, यह हमारा कापालिक आचार्य कापालिनीके साथ सुन्दर नृत्य करता है, चलो हम भी उनके साथ नाचें। (दोनों ही शराबके नशेमें बेढब ढंगसे नाचने लगते हैं।)

२४७. यह नाटक कृष्णमिश्र नामके दंडी परिव्राजकने चंदेल राजा कीर्तिवर्माके राज्य-कालमें लिखा था। कहते हैं कि ईसवी सन् १०६५ में उक्त राजाके सामने यह नाटक खेला भी गया था। बौद्ध, जैन और कापालिकका उपर्युक्त वर्णन कुछ बढ़ा-चढ़ाकर अवश्य किया गया होगा, तथापि उसमें बहुत-कुछ ऐतिहासिक सत्य भी होगा और इसी कारण हमने उसका अनुवाद यहाँ दिया है। शैव कापालिकोंने तलवार, स्त्री और मदिरा इन तीन साधनोंका उपयोगकर बौद्ध तथा जैन श्रमणोंको अपने पंथमें आनेके लिए बाध्य किया होगा और जहाँ यह संभव नहीं था वहाँ उनका उच्छेद किया होगा।

श्रमण संस्कृतिकी इतिश्री

२४८. ई० स० ७१२ में मुहम्मद इब्न कासिमने सिंध देशपर कब्जा किया और वहाँ मुसलमानोंका अड्डा जमाया। उसके बाद ई० सं० १०३० तक इस देशपर महमूद गज़नीकी कुल मिलाकर सतरह चढ़ाइयाँ हुईं। उसने हिन्दू मन्दिरोंका बहुत संहार किया। ऐसी दशामें भी मुसलमानोंकी इन चढ़ाइयोंका कुछ भी विचार न कर, हमारे कृष्णमिश्र जैसे समझदार संन्यासी इस तरहके नाटक लिखनेमें ही बड़ा गौरव समझते थे! इससे स्पष्ट होता है कि हिन्दुओंका किस प्रकार अधःपात हो रहा था। ऐसा एक भी आदमी हिन्दुस्तान में न रहा जो हिन्दू संस्कृतिका संचालन कर और उसके सब दोष निकालकर उसे पुनः कार्यक्षम बनाता। इस सम्बन्धमें अल्बेरूनीका कथन विचारणीय है।

२४९. "नास्तिक ग्रीक ईसाके पहले हिन्दुओं जैसे ही मूर्तिपूजक थे...... पर उनमें बहुत-से शास्त्रज्ञ ऐसे हुए जो जनसाधारणके धार्मिक अन्धविश्वासोंके फेरमें नहीं पड़े। साक्रेटीसका ही उदाहरण लीजिए न। वह नक्षत्रोंको देवता कहनेके लिए तैयार नहीं था। तुरत आथेन्सके बारहमेंसे ग्यारह न्यायाधीशोंने उसको प्राणदंडकी सजा दे दी। पर साक्रेटीस सत्यपर अचल श्रद्धा रखकर मर गया। हिन्दुओंमें ऐसे व्यक्ति नहीं हुए।.....हिन्दुओंमें जो शास्त्रज्ञ हैं वे भी अपने शास्त्रीय सिद्धान्त सर्वसाधारणके धार्मिक अन्धविश्वासोंमें मिला देते हैं अर्थात् उनका कार्य मोतियोंकी सीप और खट्टा खजूर, मोती और गोबर अथवा स्फटिकमणि तथा साधारण रोड़े इनको मिला देनेके समान ही है। शास्त्रीय पद्धतिकी सीढ़ियाँ चढ़नेकी क्षमता न होनेके कारण दोनों प्रकारकी वस्तुएँ उन्हें समान ही दिखाई देती हैं।"[१]

२५०. हमारे पंडितोंको दिये गये अल्बेरूनीके इस प्रमाणको अनुचित कौन कहेगा? एक दूसरे स्थानपर वह कहता है—"हिन्दू लोग समझते हैं कि उनके देश जैसा दूसरा देश नहीं, उनके राजाओं जैसे दूसरे राजा नहीं, उनके धर्म जैसा दूसरा धर्म नहीं और उनके शास्त्रों जैसा दूसरा शास्त्र नहीं।...

---

१. यह सारांश है। Alberuni's India, i, 24–25.

यदि तुम खुरासान या पर्शियाके शास्त्रों और विद्वानोंके संबंधमें उनसे बातचीत करोगे, तो वे तुमको मूर्ख ही नहीं, झूठे भी समझेंगे। वे यदि प्रवास करें और दूसरोंसे मिले-जुलें तो उनकी यह प्रवृत्ति न रहेगी, कारण उनके पूर्वज ऐसे संकुचित विचारोंके नहीं थे। उनके यहाँके विद्वानोंमेंसे वराहमिहिर कहता है कि 'यवन यद्यपि म्लेच्छ हैं, उन लोगोंको इस (ज्योतिष) शास्त्रकी अच्छी जानकारी है, इसलिए जब उनकी भी पूजा की जाती है,[१] तब फिर दैवज्ञ ब्राह्मणोंके संबंधमें क्या कहा जाय ?...इसमें भी देखिए कि दूसरोंके साथ न्याय करनेकी चेष्टा करनेवाला वराहमिहिर अपनी बड़ाई किस तरह करता है।"[२]

२५१. परन्तु विदेशोंकी यात्रा करनेका सामर्थ्य ब्राह्मणों या श्रमणोंमें भी बिलकुल नहीं रह गया था। जिन श्रमणोंने हिमालयके ऊपरसे खोतान जैसे निर्जल तथा निर्जन प्रदेशमें यात्रा कर चीनी लोगोंको बौद्धधर्म सिखाया, वे ही श्रमण समझने लगे कि हमारे संघारामकी चहारदीवारीके अन्दर ही सारा विश्व है। किंबहुना ये संघाराम उनके लिए पिंजड़े जैसे ही हो गये! इसी लिए इस देशपर जब मुसलमानोंकी चढ़ाइयाँ होने लगीं तब उन्हें संघारामोंके पिंजड़ेमें बन्द भिक्षुओंका संहार करना अत्यन्त सरल हो गया। ऐसे एक संघारामका उच्छेद मुहम्मद बख्त्यार खिलजी द्वारा होनेका उल्लेख ऊपर हो ही चुका है।[३]

२५२. मुसलमानोंने बौद्धोंके संघारामोंके साथ जैनों और शैवोंके मठोंका भी उच्छेद किया होगा। बौद्ध श्रमणोंके लिए नेपाल तथा तिब्बतमें आश्रय-स्थान होनेके कारण मुसलमानोंके हत्याकांडसे बचे हुए भिक्षुओंने इन देशोंका आश्रय लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय तथा तिब्बती भिक्षुओंके सहयोगसे तिब्बती साहित्यमें बहुत उन्नती हुई। आज जो बौद्ध ग्रंथ संस्कृतमें नहीं मिलते, उन सबके अनुवाद तिब्बती भाषामें मिल जाते हैं।

१. म्लेच्छाहि यवनास्तेषु सम्यक्शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्द्विजः॥ १५ ॥ अ० २ ॥

२. Alberuni's India, i, *22–23*.

३. वि० ३। १३७.

२५३. पर जैन तथा शैव संन्यासियोंको वेष बदलकर इसी देशमें कहीं छिप रहनेकी नौबत आयी होगी। इन दोनों सम्प्रदायोंका पुनरुज्जीवन अवश्य हुआ, पर उनमें बिलकुल दम नहीं रह गया। बौद्ध तथा जैन श्रमणोंके अनाचारके कारण लिंग-पूजा और मनुष्योंका बलिदान करनेवाला कापालिकों जैसा शैव-पंथ निकला। लोहेका जंग जिस तरह लोहेको खा जाता है और अन्तमें स्वयं भी मिट्टीमें मिल जाता है, उसी तरह मुसलमानोंके शासन-कालमें यह पंथ भी बौद्ध और जैन श्रमणोंके साथ ही ज़मींदोज़ हो गया।

२५४. मुसलमानोंके राज्य-कालमें सोने, चाँदी और ताँबेकी मूर्तियाँ गायब हो गईं। केवल एक महादेवका लिंग और आसपास कहीं अन्य देवताओंकी कुछ मूर्तियाँ बच रही होंगी। पर इधर-उधर थोड़े-बहुत ब्राह्मण रह ही गये थे। अतः उन्होंने अपना पुजारीपनका व्यवसाय जारी रखनेके लिए गयाके विष्णुपद जैसे पूजा-चिह्न और जहाँ संभव हुआ वहाँ देवताओंकी नयी मूर्तियाँ स्थापित कर अपना कारबार जारी रखा। पर श्रमण-संस्कृति इस देशसे बिलकुल लुप्त हो गई। आज हिन्दुस्तानमें जो जैन साधु और सारे देशमें फैले हुए शैव तथा वैष्णव महन्त हैं, उन्हें श्रमण-संस्कृतिके समर्थक कहना ठीक नहीं जान पड़ता। कारण वे अपनी संस्कृतिके प्रसार के लिए प्रयत्नशील नहीं दिखाई देते। वे केलल इतनेहीके लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं कि गरीबोंके लड़कोंको अपना चेला बनाकर किसी तरह अपनी परम्परा जारी रखी जाय।

मुस्लिम राज्य-काल

२५५. अरब सरदार मुहम्मद इब्न कासिमने ई० स० ७१२ में सिंधपर चढ़ाई की और सारा देश अपने अधीन कर लिया। तबसे सिंध देशपर मुसलमानोंका स्वामित्व अबाधित रहा। शंकराचार्यका जन्म ई० स० ७८८ में हुआ। इसके कमसे-कम पचीस-तीस वर्ष बाद उनके दिग्विजयका आरंभ हुआ होगा। अर्थात् उस समयतक मुसलमानोंको हिन्दुस्तानमें आकर स्थायी होनेमें लगभग १०० वर्ष हुए होंगे। ऐसी अवस्थामें इस नई उपस्थित परिस्थितिका विचार करना तो एक ओर रहा; शैव संन्यासी, पुराणकार ब्राह्मण और वेदान्ती शंकराचार्य केवल इसीके लिए प्रयत्नशील रहे जान पड़ते हैं कि बौद्ध और जैनोंको उखाड़ फेंका जाय।

२५६. एक ओर अत्यन्त भिन्न संस्कृतिके मुसलमान आकर अपना प्रभुत्व स्थापित करते हैं और दूसरी ओर पुराणकार तथा वेदान्ती ब्राह्मण बुद्धके संबंधमें लोगोंमें भ्रम और द्वेष फैलाकर शैव राजाओं तथा कापालिकों जैसे शैव संन्यासियोंको बौद्ध और जैनोंका आखेट करनेके लिए उत्तेजित करते हैं। क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है? सच पूछा जाय तो इस समय उचित यह था कि पार्श्व और बुद्ध द्वारा डाली गई अहिंसाकी नींवपर भारतीय संस्कृतिका पुनर्निमाण कर मुसलमानोंके अत्याचारोंका सामना किया जाता। पर वैसा करनेसे शिव अथवा शिव-लिंगकी पूजा कर ब्राह्मणोंको दक्षिणा कैसे मिली होती? सिंध जाता है तो जाय, सोरठी सोमनाथ तो हैं न? वहाँकी लिंग-पूजासे ब्राह्मणोंकी मजेमें कट रही थी। पर उतनेसे तृप्त न होकर ब्राह्मणोंकी दृष्टि बौद्धों तथा जैनोंके मठोंकी परंपरागत जागीरोंपर लगी थी और इसीलिए उन्होंने इन श्रमणोंके संबंधमें भ्रम फैलानेका काम जारी रखा था।

२५७. तब क्या ब्राह्मणोंको मुसलमानोंका प्रतिकार करना पसन्द नहीं था? नहीं, ऐसा नहीं था। पर वह काम जैनों और बौद्धोंके मठ नष्ट करनेके समान सरल नहीं था। इसलिए उन्होंने वह काम सीधे कल्कि अवतारके हवाले कर दिया। कल्कि अवतारके संबंधमें हमारे अवलोकनमें जो वर्णन आये हैं उनमेंसे प्रथम विष्णुपुराणमें है; और जान पड़ता है कि वह मुसलमानोंके सिंधप्रदेशपर कब्जा कर लेनेके बाद लिखा गया था। 'सिंधुतटदाविकोर्वीचन्द्र-भागाकाश्मीरविषयांश्च व्रात्यम्लेच्छशूद्रादयो भोक्ष्यन्ति।......अल्पप्रसादा बृहत्कोपास्सार्वकालमनृताधर्मरुचयः स्त्रीबालगोवधकर्तारः।......' ॥ अंश ४, अ० २४।६९-७१ ॥ (सिंधुतट, दाविकोर्वी, चन्द्रभागा तथा काश्मीर प्रान्तका व्रात्य, म्लेच्छ, शूद्र आदि उपभोग करेंगे। वे थोड़ी कृपा पर अत्यन्त कोप करनेवाले, सदा अनृत्य धर्ममें रुचि रखनेवाले और स्त्री, बालक तथा गायोंका वध करनेवाले होंगे।) मुसलमान गोवध तो प्रतिदिन ही करते थे और युद्धमें प्रसंगवश स्त्रियों तथा बालकोंकी हत्या करते थे। इसलिए इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि विष्णुपुराणकी वह भविष्यवाणी उनके राज्यकी स्थापनाके बाद की गई। यह सब हो चुकनेके बाद नीचे लिखे अनुसार घटनाक्रमका सुख-स्वप्न पुराणकारने देखा है—'शंबल ग्रामके विष्णुयश नामक प्रमुख ब्राह्मणके घर

वासुदेवका कल्कि अवतार होगा और वह सब म्लेच्छों का उच्छेद तथा ब्राह्मण-धर्मकी पुनःस्थापना करेगा।[1]

२५८. इस समय श्रमणोंकी स्थिति अत्यन्त अनुकंपनीय होती जा रही थी। अहिंसा और सत्यका प्रचार करना छोड़कर उन्होंने अपने मठोंकी जायदाद सँभाल रखनेके लिए पूर्णरूपसे मंत्र-तंत्रोंको अंगीकार किया। और ऐसा होते हुए भी बंगालके पाल राजा इन बौद्ध श्रमणोंके पूर्ण पृष्ठ-पोषक थे!

२५९. इस परिस्थितिमें इस देशपर महमूद गजनवीकी एकके बाद एक सतरह चढ़ाइयाँ हुई। यह सर्वविदित है कि उसने मन्दिर और मठ नष्ट करनेका क्रम बराबर जारी रखा और हिन्दुस्तानसे बहुत अधिक धन लूट ले गया। ऐसा होते हुए भी श्रमणों और ब्राह्मणोंमें एक भी ऐसा त्यागी पुरुष न निकला, जो भारतीय संस्कृतिके दोष दूर करता और उसका उचित संघटन कर मुसलमानोंके अत्याचार रोकता। पुराणोंके उत्पन्न किये हुए महापंकमें मानों जनता डूब गई थी और इस कीचड़से ऊपर सिर उठानेकी शक्ति किसीमें भी नहीं रह गई थी।

२६०. भगवद्गीताके तत्त्व-ज्ञानके विरुद्ध एकताके सिद्धान्तका कौन प्रतिपादन कर सकता? कौरव-पांडवोंकी भाँति या यादवोंकी तरह आपसमें लड़ना क्या अधिक धार्मिक नहीं था? स्वयं परमेश्वरने ही यदि वैसा किया तो क्या भारतीय राजे-रजवाड़ोंका वही कर्तव्य सिद्ध नहीं होता? और उस कर्तव्यका सचमुच वे बड़े उत्तम प्रकारसे पालन कर रहे थे। मुसलमान आकर बराबर सबकी हत्या कर रहे थे, तो भी हमारे और राजा आपसमें लड़ रहे थे! यदाकदाचित् अल्प-कालके लिए वे लड़ाईके मैदानमें मुसलमानोंका विरोध करनेके लिए एकत्र होते तो भी अनुशासनके अभावके कारण ऐसे जमावड़ेको छिन्न-विच्छिन्न कर देना मुसलमानोंके लिए बहुत आसान होता था। आनन्दपाल द्वारा एकत्र किये गये छोटे-बड़े राजाओंकी महमूद गजनवीके सामने कैसी फजीहत हुई, इसका वर्णन पढ़ने योग्य है[2] और उसे पढ़ते समय पानीपतकी लड़ाईमें मराठोंकी पराजयका स्मरण बरबस हो आता है।

---

१. विष्णु पु० अंश ४, अ० २४–९८ देखिए।

२. Mediaeval India, pp. 19–20

२६१. महमूद आया, मन्दिर तोड़े, लूटपाट की और चला गया। पंजाब और सिंधमें ही उसकी थोड़ी बहुत सत्ता रह गई। उसके बाद मुहम्मद गोरीका उदय हुआ। प्रथमतः उसने पंजाब और सिंध प्रान्तमें अपने ही धर्मबन्धुओंका उच्छेद किया और पीछे वह दिल्लीकी ओर मुड़ा। पर ११९१ में कर्नालके उत्तर तराईन स्थानमें पृथ्वीराज चौहानने उसे इस प्रकार पराजित किया कि उसके लिए अपने आदमियोंको लेकर भागना कठिन हो गया और वह किसी प्रकार अफगानिस्तान पहुँचा। पर इस पराजयके कारण उसे नींद हराम हो गई। एक वर्षमें पुनः सेना तैयार कर उसने हिन्दुस्तानपर चढ़ाई कर दी और उसी तराईन गाँवमें पृथ्वीराजको पराजित कर मार डाला और प्रायः सारे उत्तर हिन्दुस्तानपर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। पाँच-छः सालके अन्दर ही मुहम्मद गोरीका राज्य बंगालतक फैल[1] गया।

२६२. मुहम्मद गोरी और महमूद गजनवीकी चढ़ाइयोंमें इतना ही अन्तर था कि गोरीने स्थायी रूपसे दिल्लीमें अपना अड्डा जमाया और जहाँ-तहाँ मन्दिरोंके ही पत्थरोंसे उन्हींके स्थानपर मसजिदें और ईदगाह बनवाना आरंभ किया। इस समय ब्राह्मणोंपर कैसे अत्याचार हुए इसका वर्णन महाभारतके उपरिनिर्दिष्ट[2] वनपर्वके एक सौ नब्बेवें अध्यायमें मिलता है। तब कहीं जाकर ब्राह्मणोंको चैत्योंकी थोड़ी-बहुत याद आई। उन्होंने इस अध्यायमें यह भविष्यवाणी घुसेड़कर की कि चैत्यों और मन्दिरोंके स्थानपर मसजिदें और ईद-गाह बनेंगे, विष्णुपुराणकी भविष्यवाणीका नया संस्करण निकाला। पर मुसलमानोंका प्रतिकार करनेका काम उन्होंने विष्णुपुराणकी भाँति कल्कि अवतारपर ही छोड़ा। उसमें अन्तर केवल इतना ही हुआ है कि महाभारतकी भविष्यवाणीमें स्वयं विष्णुयश ही कल्किका अवतार बना है।

रामानुज और मध्वाचार्य

२६३. वैष्णव संप्रदायके अधिकतर नेताओंका उदय महमूद गजनवीकी चढ़ाइयोंके बाद हुआ। उनमें प्रथम रामानुज थे। वासुदेवकी पूजा गुप्त

१. Early History of India, pp. 403–4.

२. वि. ३।११९ आदि.

राजाओंके राज्य-कालमें ही उत्तर हिन्दुस्तानमें प्रचलित हुई थी। तत्पश्चात् छठी या सातवीं सदीमें दक्षिणमें विष्णु-पूजाका विशेष प्रचार हुआ होगा। विष्णुभक्तोंके नेताओंको तामिल देशमें अलवार कहते हैं। शैवधर्मके सामने इन अलवारोंका प्रभाव पड़ना संभव नहीं था, कारण शैवधर्मको राजाओंका समर्थन तो प्राप्त था ही और शीघ्र ही शंकराचार्य जैसे वेदान्ती नेताका समर्थन भी उसे मिल गया। अतः वैष्णव सम्प्रदायको ऐसे किसी वेदान्ती नेताकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी और वह रामानुजाचार्यने पूरी की।

२६०. ई० स० १०१७ में श्रीरंगम्के पुजारीवंशमें रामानुचाचार्यका जन्म हुआ। उन्होंने संस्कृत-भाषाका अध्ययन कर वैष्णव संप्रदायके अनुकूल ब्रह्मसूत्र-भाष्य लिखा। उनके इस नये सम्प्रदायको विशिष्टाद्वैत कहते हैं। उस समय कुलोत्तुंग नामका चोल राजा राज्य करता था। अवश्य ही उसे रामानुजका यह नया प्रयत्न अच्छा नहीं लगा और १०८० तथा १०९० के बीच रामानुजको रंगम् छोड़कर भागना पड़ा। कुलोत्तुंग राजाने रामानुजके मित्र कुरत्तालवारकी आँखें फोड़वा डालीं और इस प्रकार इस नये पंथपर अत्याचार करना आरम्भ कर दिया। अर्थात् यह कहना चाहिये कि बौद्धों और जैनोंको जलानेवाले इस शैव पंथरूपी आगकी कुछ आँच रामानुजको भी लगी! तथापि इसके कारण नये सम्प्रदायके ये संस्थापक अहिंसक नहीं बने रहे। मैसूर राज्यमें दस-बारह वर्ष रहकर और वहाँके बिट्टिदेव (विष्णुवर्धन) राजाको अपना अनुयायी बनाकर जैनोंका संहार करनेका काम उन्होंने बड़ी सफाईसे जारी रखा। उनके अनुयायी बड़े अभिमान-के साथ बताते आये हैं कि उन्होंने बहुत-से जैनोंके सिर तेलकी घानीमें डालकर पीस दिये। पर एस० कृष्णस्वामी ऐयंगारका कहना है कि ये कथाएँ काल्पनिक होंगी।[१] कुछ भी हो, यह निश्चय है कि अवसर आनेपर ऐसे काम करनेमें रामानुजाचार्य आगा-पीछा न करते। कारण रामानुज अपने पूर्वके शैव सांप्रदायिकोंके समान ही सांप्रदायिक थे। उनकी और शैवोंकी क्रूरता तथा हिंसामें अन्तर अंशका हो सकता है, जातिका नहीं।

२६५. यह अन्तर स्वयं महादेव और विष्णुमें भी दिखाई देता

१. Ancient India pp. 258–60 देखिए।

है। दोनों देवता प्रसंगवश दैत्योंका संहार करनेवाले ही हैं। तथापि विष्णु महादेवके समान तीव्र नहीं हैं। महादेव तो भूत-पिशाचोंके राजा ही ठहरे। उनके संप्रदायमें पाशुपत और कापालिक जैसे अघोरीपंथ उत्पन्न होना स्वाभाविक था, पर वासुदेवके पंथमें इतना अघोरीपन आना संभव नहीं था। इस कारण जहाँ-जहाँ बौद्ध और जैन संप्रदायोंका महत्त्व नष्ट होना आरंभ हुआ था, वहाँ-वहाँ वासुदेव अथवा विष्णुकी पूजा लोकप्रिय होती गई। ऐसा ही दक्षिणमें भी हुआ। वहाँ शैवों द्वारा बौद्ध और जैन पंथ नष्टप्राय किये जानेपर वासुदेवकी पूजा प्रचलित होने लगी। पर उस पूजाको वैदिक संप्रदायका आधार न होनेके कारण वह उच्चवर्गोंके लोगोंमें उतनी आदरणीय नहीं हुई। इसके लिए रामानुजने श्रीभाष्य तथा अन्य संस्कृत-ग्रन्थ लिखकर विष्णु-पूजाको महत्त्व देनेका प्रयत्न किया और वह कुछ अंशोंमें सफल भी हुआ।

२६६. रामानुजके पश्चात् दक्षिणमें और एक वैष्णव संप्रदाय निकला। उनके पुरस्कर्ता मध्वाचार्यका जन्म ११९७ में हुआ और १२७६ या ७७ में उनकी मृत्यु हुई। इस समय उत्तरमें मुसलमानोंका आधिपत्य सुदृढ़ होता जा रहा था। जहाँ-तहाँ मसजिदें और ईदगाह बन रहे थे और लोग जबर्दस्ती मुसलमान बनाये जा रहे थे। ऐसी स्थितिमें दक्षिणमें ये ब्राह्मण नेता नये-नये पंथ स्थापित करनेमें ही गौरव समझ रहे थे। कहना पड़ता है कि राजकीय बातोंमें जैसी अंधाधुंधी थी, धार्मिक बातोंमें भी वैसी ही थी। कोई छोटा-सा जमींदार खड़ा होकर, कुछ सेना एकत्रकर, आसपासके प्रदेशपर अधिकार जमाकर जैसे स्वयं ही राजा बन बैठता था, वैसे ही कोई भी विद्वान् ब्राह्मण आगे बढ़ता, अपने अनुकूल ब्रह्मसूत्रका भाष्य लिखता और एक संप्रदाय अथवा परंपरा स्थापित कर देता। और जैसे राजाओंको साधारण जनताके दुःखका कोई विचार नहीं होता, वैसे ही इन्हें भी साधारण जनताका दुःख क्या वस्तु है, यह बिलकुल मालूम नहीं था। राजा लोग अपने ऐश-आराममें और ये अपने संप्रदायोंमें मस्त रहते थे।

२६७. रामानुज और मध्व इन दोनोंने गोपियोंको बिलकुल महत्त्व नहीं दिया। पर निंबार्क, वल्लभ तथा चैतन्य ये तीन वैष्णव नेता राधा और गोपियोंको आगे ले आये जिसके कारण उनके संप्रदायोंमें शिथिलताका प्रवेश हो गया।

राधा-कृष्णके पंथ

२६८. राधा और गोपियोंको आगे लानेवाले प्रथम वैष्णव नेता निंबार्क थे। सर भांडारकरका कहना है कि उनकी मृत्यु ११६२ में हुई[१]। यद्यपि रामानुजाचार्यकी भाँति इनकी भी मृत्यु-तिथिके संबंधमें मत-भेद है, तथापि यह कहा जा सकता है कि बारहवीं सदीके उत्तरार्धमें उन्होंने अपना कार्य किया। वह जातिके तेलुगू ब्राह्मण थे। उन्होंने वासुदेवकी पूजाको दूसरी ही दिशामें मोड़ा। विष्णु और लक्ष्मी अथवा कृष्ण और रुक्मिणीको एक ओर हटाकर निंबार्कने राधा-कृष्णकी पूजाको विशेष महत्त्व प्रदान किया।

२६९. इसके पश्चात् पंद्रहवीं सदीके अन्त तथा सोलहवीं सदीके आरंभमें वल्लभाचार्य तथा चैतन्यने राधा-कृष्णकी पूजाका और भी विकास किया। धीरे-धीरे कृष्णकी अपेक्षा राधाकी ही अधिक पूजा होने लगी और वह साहजिक थी। जब बौद्ध और जैन श्रमण पंथ इतने त्यागी होते हुए भी आराम-तलब होकर तंत्र-यानमें जा पहुँचे, तो फिर कृष्णभक्त किस तरह अछूते रहते ? कृष्ण और गोपियोंकी क्रीड़ाएँ गुप्तोंके समय ही उच्चवर्गोंमें लोकप्रिय होने लगी थीं और साधारण वर्गोंमें भी उनकी ध्वनि गूँजने लगी थी; फिर उस वासुदेवकी भक्तिपर खड़े किये गये इन पंथोंका स्त्रियोंके संबंधमें नीतिमान् रहना सम्भव ही नहीं था। राधाको प्रकाशरूपसे आगे लाकर उन्होंने उसी आधारपर अपना तत्त्वज्ञान स्थापित किया। उसका जो परिणाम होना था वही हुआ। तो भी उनमें और श्रमण पंथोंमें यह अन्तर रहा कि श्रमणोंके तत्त्वज्ञान और तान्त्रिक आचरणोंमें मेल नहीं बैठा, पर इन राधा-कृष्णवाले, वैष्णव सम्प्रदायके लोगोंके आचरण और तत्त्वज्ञानमें विशेष विरोध नहीं रहा।

रामानंदी और वारकरी

२७०. सामान्य जनवर्गके हितका ध्यान रखनेवाले प्रथम वैष्णव नेता रामानन्द थे। रामानन्दका जन्म १२९९ या १३०० में प्रयागमें हुआ। कहते

१. Vaishnavism etc.. p. 88 note.

है कि वह १११ वर्ष जीवित रहे। अर्थात् जान पड़ता है कि ई० स० १४११ में उनकी मृत्यु हुई। रामानन्दकी विशेषता यह थी कि उन्होंने अपने शिष्यवर्गमें सब जातियोंका समावेश किया। उनकी शिष्य-शाखामें सबसे अधिक प्रसिद्ध सुविख्यात संत कबीर, जातिका मुसलमान जुलाहा था। रामानंदने दूसरा बड़ा काम यह किया कि वासुदेव कृष्ण और गोपियोंको एक ओर हटाकर वह एक-पत्नी-व्रती रामको आगे ले आये।

२७१. रामानंदके इन प्रयत्नोंका सुपरिणाम महाराष्ट्रतक पहुँचा। पंढरपुरके विठोबा वासुदेव कृष्ण अवश्य हैं; पर उनके पीछे गोपियोंका झगड़ा न रह कर वह केवल रुक्मिणीके पति बने। इन महाराष्ट्रीय वैष्णव सम्प्रदायोंमें भी नामदेव, तुकाराम जैसे संत आगे आये और उन्होंने भी अपनी सारी ग्रंथ-रचना साधारण जनताकी भाषामें की।

२७२. उत्तरका रामानंदी संप्रदाय तथा दक्षिणका वारकरी संप्रदाय, इन दो वैष्णव संप्रदायोंके उपदेश और बुद्धके उपदेशमें बहुत साम्य दिखाई देता है। बुद्धका उपदेश साधारण जनताके लिए होनेके कारण उन्होंने उसे प्रचलित भाषामें किया; उसी प्रकार इन संप्रदायोंके साधु-संतोंने भी अपना उपदेश चालू भाषामें किया। बुद्धको जैसे प्राणि-मात्रकी चिन्ता थी वैसे ही इन सन्तोंमें भी दिखाई देती है। बुद्धने जिस प्रकार ब्राह्मणोंके अभिमानपर आक्रमण किये वैसे ही इन्होंने भी किये। इतना ही नहीं, साधनोंके सम्बन्धमें भी बुद्धने जिस प्रकार सत्संगको महत्त्व दिया उसी प्रकार इन्होंने भी दिया। उदाहरणके लिए साधुओंकी संगतिके संबंधमें बौद्ध-साहित्यमें मिलनेवाला थोड़ा-सा काव्यात्मक उपदेश यहाँ उद्धृत किया जाता है।

२७३. "एक बार जब भगवान् श्रावस्तीके जेतवनमें अनाथपिंडिकके आराममें रहते थे, तब संतोंका गुणगान करनेवाले वर्गकी (सतुल्लपकायिका) कुछ देवियाँ उनके पास आईं और उनमेंसे एकने यह गाथा कही—

सब्भिरेव समासेथ सब्भि कुब्बेथ संथवं।
सतं सद्धम्ममञ्ञाय सेय्यो होति न पापियो॥

(संतोंके साथ ही रहे और संतोंकी ही संगति करे। संतोंका सद्धर्म जाननेसे कल्याण होता है, हानि नहीं होती।)

२७४. "दूसरी देवीने यही गाथा कही, पर उसका चौथा चरण इस प्रकार था—'पञ्ञं लभति नाञ्ञतो।' इसका अर्थ यह कि संतोंका सद्धर्म जाननेसे प्रज्ञा मिलती है, वह दूसरे उपायसे नहीं मिलती। तीसरी देवी ने भी यही गाथा कही पर उसका चरण इस प्रकार था—'सोकमज्झे न सोचति।' इसका अर्थ यह कि संतोंका सद्धर्म जाननेसे शोक करनेवाले संसारमें मनुष्य शोकाकुल नहीं होता है। चौथी देवीने भी यही गाथा कही, पर उसका चौथा चरण इस प्रकार था—'ञातिमज्झे विरोचति'। इसका अर्थ यह कि संतोंका सद्धर्म जाननेसे मनुष्य अपने ज्ञातिवर्गमें चमकता है। पाँचवीं देवीने भी यही गाथा कही पर उसका चौथा चरण इस प्रकार था—'सत्ता गच्छन्ति सुगतिं।' इसका अर्थ यह कि संतोंका सद्धर्म जाननेसे प्राणी स्वर्गको जाता है। छठी देवीने भी यही गाथा कही पर उसका चौथा चरण इस प्रकार था—'सत्ता तिट्ठन्ति साततं'। इसका अर्थ यह कि प्राणि चिरकाल सुखी होते हैं।

२७५. "इसके बाद उन देवियोंने भगवान्से पूछा कि हममेंसे सुभाषित किसका है? भगवान्ने कहा—'पर्यायसे सबका ही सुभाषित है। पर मेरा कहना भी सुनो—

सब्भिरेव समासेथ सब्भि कुब्बेथ संथवं।
सतं सद्धम्ममञ्ञाय सब्बदुक्खा पमुच्चति॥'

इसमें चौथे चरणका अर्थ है—प्राणि सब दुःखोंसे मुक्त होता है।"[१]

२७६. 'संगति कीजे साधुकी हरे और की व्याधि' आदि कबीरके वचनोंसे और

'धन्य आजि दिन। झालें संतांचें दर्शन॥ १॥
जाली पापा तापा तुटी। दैन्य गेलें उठाउठी॥ २॥
झालें समाधान। पायीं विसावलें मन॥ ३॥
तुका म्हणे आले घरा। तोचि दिवाळी दसरा[२]॥ ४॥'

१. देवतासंयुत्त, सतुल्लपकायिक वग्ग, सुत्त १ देखिए।

२. आजका दिन धन्य है कि संतोंका दर्शन हुआ। पाप जल गये, ताप मिट गये, दीनता उठ गई, समाधान हो गया। मन चरणोंमें विश्राम लेने लगा। तुकाराम कहते हैं कि जिस दिन साधु-सन्त घर आ जाते हैं, उसी दिन दिवाली और दशहरा मानना चाहिए।

आदि तुकारामके अभंगों तथा तत्कालीन अन्य साधु-सन्तोंके इस प्रकारके वचनोंसे उपर्युक्त उद्धरणकी तुलना करनेसे ऐसा जान पड़ता है कि इन संतोंने बौद्ध-साहित्यसे ही सत्संगतिकी कल्पना ली होगी।

२७७. पर बेचारे संतोंको बुद्धकी जानकारी नाममात्रकी ही थी।

वे कर्ता नहिं बौद्ध कहावै, नहीं असुरको मारा।
ज्ञानहीन कर्ता भरमे माया जग संहारा॥

इस वचनसे जान पड़ता है कि कबीरको विष्णुपुराणके बौद्ध अवतारकी जानकारी थी। कबीर काशीमें रहे थे, इस कारण उन्हें इतना तो भी मालूम था। पर तुकारामको यह भी मालूम नहीं था। बौद्ध अवतार केवल गूँगा है यह उनकी कल्पना थी! 'बौध्य अवतार माझिया अदृष्टा। मौन मुखें निष्ठा धरियेली॥'

२७८. हमारे तुकाराम या कबीरको यह कैसे मालूम होता कि बुद्धने पैंतालीस वर्षतक बहुजनहितार्थ उपदेश किया? पुराणोंके गहन वनके उसपार उनकी दृष्टि कैसे पहुँचती? फिर इन साधु-सन्तोंके वचनोंमें बौद्ध-साहित्यमें मिलनेवाले भूतदया, सब लोगोंके साथ समताका व्यवहार तथा संत-संगतिके गुण-वर्णनके जो उद्गार मिलते हैं, वह आये कहाँसे? इसका उत्तर यही है कि जनसाधारण या जनतामेंसे बुद्धोपदेशके बीज समूल नष्ट नहीं हुए थे, किसी-न-किसी रूपमें वह बने हुए थे और इन साधु-संतोंने उन्हींको अनेक प्रकारसे बढ़ाया। पर उन्हें अपना उपदेश राम और कृष्ण इन दो अवतारोंके आधारपर करना पड़ा। इस कारण उनके उपदेशों और देवताओंमें मेल नहीं रहा।

२७९. सिरजनहार न ब्याही सीता, जल पषाण नहिं बंधा।
वे रघुनाथ एकके सुमिरे जो सुमिरै सो अंधा॥

इसमें कबीर कहते हैं कि रामने सीतासे ब्याह किया, सेतु बाँधा आदि सब बातें झूठी हैं। तथापि रामायण बना ही रहा, और तुलसीदासने हिन्दी रचना कर उसका और भी प्रचार किया। महाराष्ट्र संतोंने विठोबाके यद्यपि एक ही रखमाई पत्नी रखी तो भी भागवत बना ही रहा,

और राधा तथा अन्य गोपियाँ वैसी ही बनी रहीं। तात्पर्य यह कि किसी भी संतमें पुराणोंको समूल नष्ट करनेकी शक्ति नहीं थी। यही कहना चाहिए कि उन्होंने दूधकी प्यास मट्ठा पीकर ही किसी तरह बुझा ली!

२८०. इन सन्तोंका समय एक तरहसे मानवी संकटका काल था। मुसलमान राजाओंको हिन्दुस्तानके प्रति बिलकुल आदर नहीं था। कारण हिन्दू लोग ठहरे काफिर, हरामखोर; उनपर दया क्यों की जाय? इसलिए उनके राज्यकालमें अग्निकांड, लूटपाट तथा स्त्री-बच्चों सहित सबका कत्ल कर देना साधारण बात थी और इस कारण देशमें बारबार अकाल पड़ते थे। मुसलमानोंके संसर्गसे यह रोग राजपूतोंमें भी फैला। मुसलमानोंकी चढ़ाई होनेपर वे आस-पासके गाँव जलाकर जंगलों या पहाड़ोंका आश्रय लेते और वहाँसे मुसलमानोंपर आक्रमण करते थे। मराठोंके राज्यकालमें तो यह रोग और भी संक्रामक हो गया। हिन्दुस्तानमें लोगोंके कष्टकी सीमा न रही। स्वयं तुकाराम भी ऐसे ही एक अकालमें फँसे थे। उसके कारण उनकी बड़ी पत्नी और पुत्रकी मृत्यु हो गई। यह बहुत प्रसिद्ध बात है कि यही अकाल उनके साधुत्वका कारण हुआ।

२८१. ऐसे समय इन साधु-सन्तोंके उपदेशसे लोगोंको थोड़ी-सी शान्ति मिली होगी। 'आलिया भोगासी असावें सादर। देवावरी भार घालूनियाँ॥' (आनेवाले संकटके सम्बन्धमें देवपर भार छोड़कर सजग रहना।) लूट-पाट हो रही है। गाँव जल रहे हैं, ऐसे समय किया क्या जाय? यही कि सजग रहे, परमेश्वरपर भरोसा रखकर बाल-बच्चोंको लेकर कहीं भी छिपकर जा बैठे। अकाल ही पड़े तो जहाँ अन्न मिले उस प्रदेशमें जाकर रहे। ईश्वरपर भरोसा रखनेके अतिरिक्त गरीब जनता और कर ही क्या सकती थी? अतः यही उपदेश उस समय उचित था। अपने पड़ोसियोंको कष्ट न हो, इसलिए मेहनत मजदूरी करनेवाली गरीब स्त्रियाँ अपने बच्चोंको अन्दाजसे अफीम खिलाकर कामपर चली जाती हैं और बच्चे सारा दिन अफीमके नशेमें चुपचाप पड़े रहते हैं, उन्हें माँके दूधकी याद नहीं आती। उसी प्रकार उस समय साधु-संतोंके इन उपदेशोंसे भारतीय जनता अराजकताके सब कष्टोंको चुपचाप सहन करनेमें समर्थ हुई होगी।

२८२. पुराण युद्धों और रक्तपातसे भरे हुए थे। उनके कृष्ण जैसे बड़े देवताको सोलह हजार स्त्रियाँ थीं। उनके कुछ भक्त तो उनकी स्त्रियोंको एक ओर रखकर राधा जैसी पर-स्त्रीको ही आगे ले आये! इस तरह इन पुराणोंका जोर बढ़ रहा था कि इस देशपर मुसलमानोंके हमले होने लगे। मानो पुराण इन चढ़ाइयोंके पूर्वचिह्न थे! मुसलमानोंने पुराणोंमें लिखी सब बातें यथासंभव करके दिखा दीं। युद्ध, रक्तपात, जनानखाने आदि सब बातें मूर्तिमन्त दिखाई देने लगीं। इन संकटोंमें भारतीय जनता सैकड़ों वर्ष पड़ी रहनेपर भी उसके कुछ सुसंस्कार अबतक नष्ट नहीं हुए हैं। चीनको छोड़कर अन्य देशोंके साथ तुलना करनेपर सौम्यतामें भारतीय जनताका स्थान प्रथम रहेगा। कृष्णको यद्यपि हजारों स्त्रियाँ थीं तो भी इस समय भी हिन्दुस्तानमें एकपत्नी-व्रत अच्छा माना जाता है। मद्यपान-विरतिके सम्बन्धमें तो हम प्रसिद्ध ही हैं। अतः कहना पड़ता है कि पार्श्वनाथ तथा बुद्धका रोपा हुआ सत्कर्मका बीज हममेंसे अभीतक नष्ट नहीं हुआ है। मुसल्मानोंके राज्यकालमें उस बीजकी अल्पस्वल्प रक्षा करनेका श्रेय बहुत-कुछ रामानन्दी और वारकरी पंथोंको देना उचित होगा।

अकबरका प्रयत्न

२८३. रामानंदी और वारकरी पंथोंने सौजन्य तथा बंधुभावके प्रचारके लिए अवश्य ही बहुत प्रयत्न किया; पर हमारे संप्रदायों और जाति-भेदमें कमी नहीं हुई। उन्हें मिटानेके लिए अकबर बादशाहने थोड़ी-सी कोशिश की। उसने अपने राज्य-कालके उत्तरार्धमें (ई० सं० १५८० के बाद) दीन-इ-इलाही (ईश्वरीय-संप्रदाय) नामका एक नया पंथ स्थापित किया। इस नये पंथकी नीति यह थी कि ईश्वरके अस्तित्वके प्रमाणस्वरूप सूर्यकी उपासना की जाय, पर किसी प्रकार-की साम्प्रदायिकता न रहे। इस पंथको अकबरके दरबारके कुछ अधिकारियोंके अतिरिक्त जिनकी संख्या हाथकी उँगलियोंपर गिनने लायक थी, और लोगोंका समर्थन नहीं प्राप्त हुआ। कारण स्पष्ट है। इस पंथमें पूजा-अर्चाका भाग न होनेके कारण ब्राह्मणोंका तार-घाट लगना संभव नहीं था और कुरानको महत्त्व न दिये जानेके कारण मौलवी-मौलानाओंको भी उससे कोई लाभ नहीं था।

२८४. इसी समय ब्राह्मणोंके पूर्वसंस्कार अल्लोपनिषद्के रूपमें प्रकट हुए। इस उपनिषद्का कर्ता कौन था और उसे संस्कृत भाषा कितनी आती थी यह तो नहीं कहा जा सकता तथापि उसके इस उपनिषद्का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत काफी है, इसलिए वह साराका सारा यहाँ दिया जाता है—

अथाऽल्लोपनिषदं व्याख्यास्यामः। अस्माल्लां इल्ले मित्रावरुणा दिव्यानि धत्ते ॥ इल्लल्लेवरुणो राजा पुनर्द्दुः। हया मित्रो इल्लां इल्लल्लेति ॥ इल्लाल्लां वरुणो मित्रस्तेजस्कामः ॥ १ ॥ होतारमिन्द्रो होतारमिन्द्रो महासुरिन्द्राः। अल्लो ज्येष्ठं श्रेष्ठं परमं पूर्णं ब्रह्माणं अल्लाम् ॥ २॥ अल्लो रसूलमहामदरकबरस्य अल्लो अल्लाम् ॥ ३ ॥ आदल्लाबूकमेककम्। अल्लाबूकंनिखातकम् ॥ ४॥ अल्लो यज्ञेन हुतहुत्वः। अल्ला सूर्यचन्द्रसर्वनक्षत्राः ॥ ५ ॥ अल्ला ऋषीणां सर्वदिव्याँ इन्द्राय पूर्वं माया परममन्तरिक्षाः ॥ ६ ॥ अल्लाः पृथिव्या अन्तरिक्षं विश्वरूपम् ॥ ७ ॥ इल्लाँ कबर इल्लाँ कबर इल्लाँ इल्लल्लेति इल्लल्लाः ॥ ८ ॥ ओम् अल्ला इल्लल्ला अनादिस्वरूपाय अथर्वणीशाखां हुं ह्रीं जनान् पशून् सिद्धान् जलचरान् अदृष्टं कुरु कुरु फट् ॥ ९ ॥ असुरसंहारिणीं हुं ह्रीं अल्लो रसूलमहमदकबरस्य अल्लो अल्लाम इल्लल्लेति इल्लल्लः ॥ १० ॥ इत्यल्लोपनिषत् समाप्ता ॥[१]

२८५. कहते हैं कि यह उपनिषद् अथर्ववेदके उपनिषदोंमेंसे है। इसमें बहुतसे अरबी शब्द मिले हुए होनेके कारण यह ठीक-ठीक बताया नहीं जा सकता कि इसका अर्थ क्या है। जान पड़ता है कि इस उपनिषद्का मजमून जैसा छोटा है वैसा ही इसका जीवन-काल भी थोड़ा था। अकबरके कालमें या उसके बाद इस उपनिषद्का भाष्य करनेकी बात किसी भी पंडितके मनमें नहीं आई। अर्थात् यह उपनिषद् उत्पन्न होते ही, थोड़े ही समयमें मृत हुआ। तथापि उसके शरीरका अबतक अस्तित्व है और उससे ब्राह्मणी वृत्तिका रुख अच्छी तरह पहचाना जा सकता है।

२८६. इन्द्रके सिंध देशपर अधिकार जमाते ही ब्राह्मणोंने उसे अन्य देवताओंके भी ऊपर चढ़ाकर अपना अस्तित्व बना रखा। अनन्तर शक आये। उनके महादेवको वेदका आधार देकर तथा श्वेताश्वर उपनिषद् रचकर उन्होंने अपना

---

१. सत्यार्थ-प्रकाशसे लिया। इसमें हिन्दी विश्वकोषमें दिये गये अल्लोपनिषद्का कुछ पाठ लिया है।

पुजारीका व्यवसाय जारी रखा। गुप्त राजाओंके समयमें महाभारतकी वृद्धि कर तथा भगवद्गीता रचकर उन्होंने एक नया दैवत अपना लिया। पर मुसलमानोंके राज्यकालमें उन्हें कहीं स्थान मिलना कठिन हो गया। इतनेमें अकबर जैसा उदारचेता राजा उन्हें मिला। उस समय उनके पूर्वसंस्कार पुनः जागृत हुए और अल्लाको मिलाकर उन्होंने यह नया उपनिषद् तैयार किया। पर इस छोटेसे उपनिषद्के लिए सारे कुरान और अठारह पुराणोंको अपने कब्जेमें लाना संभव नहीं था। फलतः वह जैसाका तैसा पड़ा रहा।

२८७. यदि यह भी मान लिया जाय कि अकबरके इस्लामके पीछे कुरान बिलकुल नहीं था और वह शकोंके महादेवकी भाँति केवल एक अल्लाको लेकर हिन्दुस्तानमें आया, तो भी महादेव और वासुदेवको हटाकर सर्वत्र अल्लाकी स्थापना न की जा सकती; कारण वैष्णवों और शैवोंके मन्दिरोंसे होनेवाली आयको छोड़नेके लिए ब्राह्मण तैयार न होते। बुद्धके समय जैसे ब्रह्म संसारका आदिकर्ता हुआ, शकोंके राज्य-कालमें जैसे महादेव आदि-कर्ता हुआ और गुप्तोंके शासन-कालमें जैसे वासुदेव आदि-कर्ता हुआ, वैसे ही मुसलमानोंके राज्य-कालमें अल्ला भी संसारका आदि-कर्ता हुआ होता। संसारके तीन आदि-कर्ता थे, उनमें इस चौथेकी भी भरती हो गई होती, बस। तात्पर्य यह कि मुसलमानोंके राज्य-कालमें भारतीय जनताके लिए पुराणोंके पाशसे मुक्त होना बिलकुल ही संभव नहीं था।

४—पाश्चात्य संस्कृति

ग्रीक और रोमन लोग

१. पाश्चात्य संस्कृतिकी नींव ग्रीक लोगोंने डाली। इजिप्त और बाबिलोनियाके हजारों वर्ष पुराने साम्राज्योंके नष्ट होनेपर ग्रीक लोगोंका उदय-काल आरंभ हुआ। उसमें विशेषता यह थी कि ग्रीक लोगोंमें सार्वभौम राजाकी पूजा नहीं रह गई। कहा जा सकता है कि इतिहासमें प्रथमतः ग्रीक लोगोंने ही यह सिद्ध कर दिखाया कि साधारण जनता राजाकी सहायताके बिना राज्य कर सकती है। उनमें गुलाम बहुत थे और इन गुलामोंको अपने मालिकोंके लिए बहुत परिश्रम करना पड़ता था। ग्रीक लोगोंकी संस्कृतिमें यद्यपि यह बहुत बड़ा दोष था तथापि उन्होंने ही प्रथमतः यह सिद्ध किया कि मध्यम श्रेणीके सामान्य जनोंको भी अपना नेता चुननेका हक है।

२. हमारे यहाँ बुद्धके समयमें वज्जी, मल्ल आदि लोगोंके गणतंत्र राज्य वर्तमान थे। पर ग्रीकके प्रजातंत्र राज्योंसे उनकी तुलना नहीं की जा सकती। हमारे इन गणतंत्र राज्योंमें गुलाम तो थे ही, साथ ही, मध्यमवर्गके लोगोंको राज्य-शासनके अधिकार भी बिलकुल नहीं थे। एक अथवा अनेक गाँवोंके सर्वाधिकारी जमींदार—जिन्हें राजा कहते थे—एकत्रित होकर अपनेमेंसे किसी एकको महाराज चुनते और उसके अनुरोधसे अपना राज्य चलाते थे। विशेष अवसरोंपर महाराजको सब राजाओंकी अनुमति लेनी पड़ती थी। शाक्योंका राज्य भी इसी प्रकारका था। पर उन्हें वज्जी अथवा मल्लोंकी तरह सर्वाधिकार नहीं थे। कोसल राजाने शाक्योंको पराजित करके ये अधिकार अपने हाथोंमें ले लिये थे। किसीको फाँसी देना होता अथवा निर्वासित करना होता तो इसके लिए कोसल राजाकी अनुमति लेनी पड़ती थी। शेष विषयोंमें शाक्योंको होमरूलके अधिकार प्राप्त थे।

३. ग्रीसके प्रजा-तन्त्र राज्य इससे बहुत ही भिन्न प्रकारके थे। एक नगर और उसके आसपासके प्रदेशके सब मध्यमवर्गीय लोगोंको अपना नेता चुननेका

पूर्ण अधिकार था। इसके अतिरिक्त दूसरा एक बड़ा अन्तर यह था कि हमारे गणतंत्र-राज्योंके संगठनका इतिहास विस्तृत रूपसे लिखा नहीं गया। बौद्ध तथा जैन-साहित्यमें मिलनेवाले उल्लेखोंसे मालूम होता है कि गणसत्ता-धारी राजा थे और उपर्युक्त प्रकारका उनका संगठन रहा होगा। पर ये राजा किस समय एकत्र होते थे, किस प्रकार मत देते थे, महाराजको किस प्रकार तथा कितने वर्षोंके लिए चुनते थे, इस संबंधकी जानकारी कहीं नहीं मिलती। पर ग्रीक लोगोंका साहित्य उनके प्रजातंत्र राज्योंके वर्णनसे भरा हुआ है। ये राज्य अपना काम-काज किस प्रकार करते थे यह तो उसमें है ही, साथ ही एक विशेषता यह भी है कि तत्कालीन परिस्थितिमें आदर्श प्रजातंत्र राज्य किस प्रकार स्थापित किया जाय इसकी कल्पना भी उसमें मिलती है। इस संबंधमें प्लेटोकी 'रिपब्लिक' पुस्तक प्रसिद्ध है, और जिन्हें पाश्चात्य संस्कृतिका ज्ञान प्राप्त करना हो उनके लिए यह ग्रंथ पढ़ना अत्यावश्यक है।

४. ग्रीक लोग केवल प्रजातंत्र राज्योंकी स्थापनामें ही नहीं, कला-कौशल, तत्त्वज्ञान तथा शास्त्रीय अनुसंधानके विषयमें भी बहुत आगे बढ़ गये थे। पर कुछ काल बाद ग्रीक लोगोंका अस्त और रोमन लोगोंका उदय होने लगा। निश्चय ही रोमन लोग ग्रीक लोगोंके सदृश बुद्धिमान् नहीं थे। ग्रीक लोगोंको पकड़कर उन्होंने अपना गुलाम अवश्य बनाया। पर ये दास ही उनके गुरु बने! रोमन लोग कला-कौशल, तत्त्वज्ञान आदि जो कुछ सीखे, वह इन दासोंसे ही। इन रोमन लोगोंके कट्टर शत्रु कार्थेजके लोग थे। भूमध्यसागरके प्रभुत्वके लिए उनमें और इनमें बहुत-सी लड़ाइयाँ हुईं, और इन लड़ाइयोंमें अन्तमें रोमकी विजय हुई। धीरे-धीरे रोमन राज्यका बहुत विस्तार होता गया, तथापि रोममें प्रजातंत्रप्रणाली ही प्रचलित थी। आज इंग्लैंड अथवा फ्रान्समें एक प्रकारकी प्रजातंत्रप्रणाली प्रचलित रहते हुए भी जिस प्रकार हिन्दुस्तान और इण्डो-चायनामें इन लोगोंका निरंकुश शासन है, उसी प्रकार रोमन लोग रोममें प्रजातंत्र-शासन-प्रणालीके अनुसार चलते हुए भी, बाहरके प्रदेशोंपर निरंकुश शासन करते थे।

५. परन्तु यह निरंकुशता उन्हें हानि पहुँचाये बिना न रही। इसके परिणाम-स्वरूप खास रोममें ही साम्राज्यशाहीकी स्थापना हुई। तथापि रोमन प्रजातंत्र-

प्रणालीके समयमें विकसित हुआ रोमन-विधान बना रहा। यह रोमन-विधान अबतक पसन्द किया जाता है और उससे ही पाश्चात्य राष्ट्रोंके प्रायः सब आधुनिक विधानोंका विकास हुआ है।

यूरोपका सुधार

६. रोमन-साम्राज्य नष्ट होनेपर ईसाई धर्मका उदय आरंभ हुआ। तथापि रोमन साम्राज्यका प्रभाव लोगोंपर बना रहा। इस रोमन-साम्राज्यका नेता पोप बन बैठा। वह चाहे जिस राजाको शाही कपड़े पहनाकर रोमन-साम्राज्यका ढोंग बनाये रखता था। पर इस मध्य-युगमें यूरोपमें अंधाधुंधी ही मची रही। विशेषता केवल इतनी ही थी कि ईसाई पादरियोंके धर्मोपदेश द्वारा लोगोंको थोड़ा-बहुत ज्ञान मिलता रहता था।

७. जब यूरोप ऐसे अन्धकार युगमें पड़ा हुआ था, तब उसपर मंगोल लोगों की चढ़ाइयाँ होने लगीं और उसके बाद तुर्कोंने तो पूर्वयूरोप और खास ईसाई-ग्रीक राज्यतकको ग्रस लिया। सोलहवीं सदीके आरंभमें साधारण रूपसे देखने-वालेको ऐसा मालूम होना स्वाभाविक था कि शीघ्र ही सारा संसार मंगोलियन या मुसलमान बन जायगा[१]।

८. पर यूरोपमें आंतरिक सुधार तेरहवीं सदीमें ही प्रारंभ हो गये थे। इसका मुख्य कारण पुनः यत्र-तत्र नये नगरोंका उदय था। इटलीमें वेनिस, जिनोवा, पीसा, फ्लारेन्स आदि नगरोंका उदय हुआ और यह प्रभा बढ़कर सारे यूरोपमें फैल गई। इन नगरोंका पोषण होता था व्यापारसे। उनका सारा व्यापार कांस्टां-टिनोपुल मार्गसे हुआ करता था और उनमें रहनेवालोंको हिन्दुस्तान और चीन देशोंकी बिलकुल जानकारी नहीं थी।

९. निकोलो पोलो अपने भाई माफियो और पुत्र मार्कोको साथ लेकर वेनिससे निकला और दो-तीन वर्ष यात्रा कर ई० स०१२६० के लगभग चीनमें कुबलाई-खाँके दरबारमें पहुँचा। ये पोलो चीनमें तीस-बत्तीस वर्ष रहे। आते समय एक राजपुत्रीके साथ पर्शियामें आकर ई० स० १२९५ में ये वेनिसमें पहुँचे। चीनके

१. The outline of History p. 491 देखिए।

दरबारके उनके वर्णन सुनकर लोगोंने उनकी गणना विचित्र गप्पियोंमें की। पर जब उन्होंने अपने कोटोंमें छिपाकर लाये हुए जवाहरात अपने सम्बन्धियोंके सामने रखे तब कहीं जाकर लोग समझने लगे कि इनकी बातोंमें थोड़ी-बहुत सचाई भी होगी। तिसपर भी लोगोंने मजाकमें मार्कोका नाम 'लक्षकार' (लाखों-की ही बातचीत करनेवाला) रख दिया था!

१०. ई० स० १२९८ में वेनिस और जिनोवाके लोगोंमें बड़ा भारी समुद्री युद्ध हुआ और उसमें वेनिसके लोगोंकी हार हुई। वेनिसके जो कैदी जिनोवामें लाये गये, उनमें मार्को पोलो भी था। वहाँ उसने अपनी यात्राका वृत्तान्त रुस्तिसियानो (Rusticiano) को सुनाया। उसे संगृहीत कर रुस्तिसियानोंने जो ग्रंथ लिखा वह 'मार्को पोलोकी यात्राएँ' नामसे प्रसिद्ध हुआ और उस समयमें बुद्धिमान् लोगोंको वह बहुत ही प्रिय हुआ।

११. पोलोकी इस यात्रासे यूरोपको तात्कालिक लाभ यह हुआ कि उसे लकड़ीके टप्पोंसे छापनेकी कला, बन्दूककी बारूद और दिशा-सूचक यंत्रकी प्राप्ति हुई। विश्वास किया जाता है कि ये तीन चीजें मार्को पोलो ही चीन से ले आया। पर इस सम्बन्धमें बहुत मत-भेद है। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि इन चीजोंका पता यूरोपको मार्को पोलोकी यात्राके बाद लगा।

१२. दिशा-सूचक यंत्रसे समुद्रतटवर्ती नगरोंके बीच व्यापारिक यातायातमें बड़ी सहायता मिली। ई० स० १४५३ में कांस्टांटिनोपल नगरपर द्वितीय ओटो-मन सुलतान मुहम्मदके कब्जा करनेके कारण दर्रे दानियाल जल-प्रणालीसे होने-वाला व्यापार बन्द होता गया और भूमध्यसागरके तटपर बसे हुए नगर अपना व्यापार अटलांटिक महासागरकी ओर बढ़ानेके लिए बाध्य हुए। मार्को पोलोके यात्रा-वृत्तका प्रचार तो बराबर होता जा रहा था और इससे भूमध्यसागर तथा अटलांटिक महासागरमें व्यापार करनेवाले व्यापारियोंके मुँहमें पानी आना स्वाभा-विक था। तथापि इसकी कल्पना किसीको भी नहीं थी कि हिन्दुस्तानकी ओर जानेवाला समुद्री मार्ग मिल जायगा।

१३. पर ई० स० १४८६ में पोर्तुगीज नाविक दीयाज् (Diaz) केप ऑफ गुडहोपतक पहुँचा। इसके ६ वर्ष बाद अर्थात् ई० स० १४९२ में

कोलंबस अपने छोटेसे तीन जहाज लेकर अमेरिकाके लिए रवाना हुआ। उसकी निश्चित धारणा थी कि हिन्दुस्तान पश्चिमकी ओर होगा। उस बेचारेने अपनी यात्राके संबंधमें सहायता प्राप्त करनेका पोर्तुगीज, स्पेनिश और इंग्लिश दरबारोंमें प्रयत्न किया। पर उससे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। ई० स० १४९२ में स्पेनने ग्रानादा स्थानपर मूर लोगोंको पराजित कर मुसलमानोंको पश्चिम यूरोपसे सदाके लिए निकाल बाहर किया। इसके बाद पालोस नामक नगरके कुछ व्यापारियोंने तीन जहाज देकर कोलंबसको पश्चिमकी यात्राके लिए रवाना किया। इनमें सबसे बड़ा सांता मारिया जहाज सौ टनका और दो केवल पचास-पचास टनके छोटे जहाज थे। ऐसे जहाजोंमें यात्रा कर कोलंबस ई० स० १४९३ में सकुशल लौट आया और घोषणा की कि मैंने हिन्दुस्तानका पता लगा लिया। उसने जिन द्वीपोंका पता लगाया था उन्हें आज भी पश्चिम-हिन्दुस्तान (West Indies) कहते हैं।

१४. इधर ई० स० १४९८ में वास्को-दा-गामाने केप ऑफ गुड होप होते हुए कालिकटतक यात्राकर सच्चे हिन्दुस्तानका पता लगा लिया और जहाँ-तहाँ पोर्तुगीज लोगोंके व्यापारिक केन्द्र स्थापित करना आरंभ कर दिया। और तब तलभग एक सदीतक केवल हिन्दुस्तानका ही नहीं, मलाया आदि पूर्वके देशोंका व्यापार पोर्तुगीज लोगोंके ही हाथमें रहा।

१५. उधर स्पेनके साहसी लोगोंने दक्षिण अमेरिकामें बड़ी ही धमाचौकड़ी मचा रखी थी। उसमें हस्तक्षेप करनेके लिए स्पेनका राजा बाध्य हुआ। उससे दक्षिण अमेरिकामें कुछ शान्ति स्थापित हुई और वहाँकी सम्पत्ति मिलनेसे स्पेनके राजा, सरदार और दूसरे व्यापारी सहसा अत्यंत धनी हो गये। उनकी सम्पत्ति सारे पश्चिमी यूरोपकी आँखोंमें गड़ने लगी और व्यापारिक प्रतिस्पर्धा आरंम्भ हुई।

१६. पोर्तुगीजोंके बाद डच लोगोंने पूर्वकी ओरका व्यापार हथियानेका प्रयत्न आरंभ किया और कहा जा सकता है कि सत्रहवीं सदीके आरंभमें उन्होंने पोर्तुगालका व्यापार प्रायः नष्ट कर डाला। उसी समय अर्थात् ३१ दिसंबर सन् १६०० में इग्लैंडमें ईस्ट इंडिया कंपनी स्थापित हुई और अँग्रेजोंने बड़ी तत्परतासे

अपना व्यापार बढ़ाना आरंभ किया। राजनीतिमें पड़नेका उनका बिलकुल विचार नहीं था। पर अपने व्यापारके संरक्षणके लिए स्थान-स्थानपर किले बनवाकर व्यापारी केंद्र स्थापित करनेके लिए वे बाध्य हुए। इसी समय ई० स० १६६४ में फ्रेंचोंने भी ऐसी ही एक ईस्ट इंडिया कंपनी स्थापितकर हिन्दुस्तानमें अपने पैर फैलानेका आयोजन किया। फलतः उनमें और अँग्रेजोंमें एक प्रकारकी प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हुई और मत्सर बढ़ता ही गया।

अँग्रेजोंकी विजय

१७. इतिहासकारोंका कहना है कि डुप्लेको यदि फ्रेंच-सरकारका समर्थन प्राप्त हुआ होता तो अँग्रेजोंको हिन्दुस्तान छोड़कर चला जाना पड़ता और यहाँ फ्रेंचोंका ही राज्य स्थापित हुआ होता। मछली चाहे घीमें भूनी जाय चाहे तेलमें, उस बेचारीके लिए तो दोनों ही समान हैं। उसी प्रकार फ्रेंचोंका राज्य हो तो क्या, और अंग्रेजोंका राज्य हो तो क्या, हिन्दुस्तानके लिए दोनों समान ही थे। अतः हिन्दुस्तानकी जनता इस संबंधमें बेफिक्र रही। फ्रेंच और अँग्रेजोंकी स्पर्धा उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और प्लासीके युद्ध (ई० स० १७५७) के बाद हिन्दुस्तानमें अँग्रेजोंके राज्यकी नींव सुदृढ़ हुई। आज इस राजाका और कल उस राजाका पक्ष लेते-लेते अन्तमें सारा हिन्दुस्तान उनके हाथमें आ गया। तिसपर भी उनकी राज्यतृष्णा शान्त न हुई। उन्होंने अपना सार्वभौमत्व स्वीकार करनेवाले राज्योंपर भी वेगसे दखल जमाना शुरू किया और उनके इस लोभका पर्यवसान १८५७ के विद्रोहमें हुआ।

१८. अँग्रेज इन सब देशी राज्योंको अपने कब्जेमें ले सके होते, तो हिन्दुस्तानको बहुत लाभ हुआ होता। यदि अधमरे राजा जाकर उनके स्थानपर अँग्रेजोंकी सत्ता स्थापित हो जाती, तो उद्योग-धंधोंकी वृद्धि होकर हिन्दुस्तानके सब नागरिकोंको समान रूपसे पाश्चात्य संस्कृतिकी जानकारी होनेमें बड़ी सहायता मिलती। सभी सुशिक्षित ऐसा मानते हैं कि इस समयमें ये राज्य हिन्दुस्तानकी प्रगतिके मार्गमें बहुत बड़े रोड़े हैं और सोशलिस्ट तो इनको बिलकुल ही उखाड़ फेंकनेके लिए उत्सुक दिखाई देते हैं। पर लार्ड डलहौजीके समयमें लोग समझते थे कि "ये राज्य हिन्दुस्तानकी संस्कृति" हैं। इसी

कारण हिन्दुस्तानी सैनिक नष्ट होती हुई इस संस्थाके लिए लड़नेको तैयार हो गये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अँग्रेज घबड़ा गये और मरती हुई इस सस्थाको उसी अर्धमृत अवस्थामें बनाये रखना उन्हें वांछनीय जान पड़ा। ईस्ट इंडिया कंपनीका शासन समाप्त हो गया और महारानी विक्टोरियाके हाथमें सत्ता आ गई (अर्थात् उनके नामसे पार्लमेंट शासन करने लगी) और अन्तमें १८५८ में उसे हिन्दुस्तानकी सम्राज्ञी बनाकर अँग्रेजोंने शेष राजाओंको अपने शासन-शकटमें जोत दिया। ये रजवाड़े नामधारी महाराज हैं, वे अपनी प्रजाके साथ चाहे जैसा व्यवहार करें पर उन्होंने जरा भी सिर उठाना शूरू किया, कि उसे कुचलनेके लिए रेजिडेंट सदा तैयार रहता है।

१९. क्लाइव और हेस्टिंग्स द्वारा आरंभ की गई लूट-खसोट और ठगी उसी प्रकार जारी रहती, तो हिन्दुस्तानमें अँग्रेजोंका शासन अत्यंत दुस्सह हो गया होता। पर अँग्रेजोंके सौभाग्यसे उसी समय अमेरिकाकी रियासतें स्वतंत्र होनेका प्रयत्न करने लगीं, इस कारण पार्लमेंटके प्रगतिशील दलने क्लाइवकी कड़ी आलोचना करके उसे अपराधी ठहराया और क्लाइवने सन् १७७४ में आत्म-हत्या कर ली। दूसरे ही वर्ष अमेरिकन रियासतोंने विद्रोहका झंडा खड़ा कर दिया और उसके बाद १७७६ के जुलाई मासकी ४ तारीखको स्वाधीनताका प्रसिद्ध घोषणापत्र (Declaration of Independance) निकाला। यह युद्ध सात वर्षतक चला और अन्तमें अमेरिकन राज्योंकी स्वाधीनता अँग्रेजोंको स्वीकार करनी पड़ी। यदि यह सबक न मिला होता, तो उन्होंने हिन्दुस्तानमें जरूर कहर मचा दिया होता। तिसपर भी अमेरिकाके गोरे और हिन्दुस्तानके काले आदमियोंमें अँग्रेज भेद मानते ही थे और इस कारण वारेन हेस्टिंग्सपर बहुतसे अभियोग लगाये जानेपर भी इंग्लिश पार्लमेंटने चार वर्षतक जाँच करनेके बाद १७९२ में उसे निरापराध घोषित कर दिया।

२०. पोर्तुगीज, डच, फ्रेंच और इंग्लिश इन चार यूरोपियन जातियोंने हिन्दुस्तानपर अधिकार जमानेका प्रयत्न किया। इनमें अँग्रेज विजयी हुए। इसका कारण केवल भाग्य नहीं, वह औद्योगिक क्रांति थी, जो अँग्रेजोंने अपने देशमें कर डाली थी। पश्चिमी यूरोपके सभी देशोंमें पंद्रहवीं सदीके आरंभसे ही न्यूनाधिक मात्रामें औद्योगिक क्रांति आरंभ हो गई थी। पर

इंग्लैंडने बाजी मार ली। इंग्लैंडके सरदार तथा मध्यमवर्गके धनी लोगोंने १२१५ में अपने राजासे यह अधिकार प्राप्त कर लिया कि प्रजापर यदि नये कर लगाने हों, तो कॉमन्स और लार्ड्स सभाओंकी स्वीकृति ले ली जाय। इसे 'माग्ना कार्टा' (Magna Charta=बड़ा फरमान) कहते हैं। यह बात नहीं है कि इंग्लिश लोगोंने इस अधिकारका बार-बार उपयोग किया हो, तथापि इससे व्यापारिक क्रांतिमें बड़ी सहायता मिली। इसके बाद सोलहवीं सदीके पूर्वार्धमें इंग्लैंडने मार्टिन लूथरका पंथ स्वीकार करके पोपके धार्मिक प्रभुत्वको उठा दिया।

२१. सत्रहवीं सदीमें इंग्लैंडके मध्यमवर्गके लोगोंमें बड़ी जागृति हुई। पोर्तुगाल, स्पेन और उनके बाद ही हालैंडके आगे बढ़ जानेकी बात उन्होंने देखी और इस नई होड़में वे भी शामिल हुए। इसी समय चार्ल्स राजाने यूरोपकी राजनीतिमें हस्तक्षेपकर इंग्लैंडकी आर्थिक स्थिति विकट बना दी। बढ़ते हुए मध्यमवर्गको उसका यह कार्य अच्छा नहीं लगा और इस कारण उसका और पार्लमेंटका झगड़ा शुरू हुआ। अन्तमें पार्लमेंटने चार्ल्स राजाके मामलेपर विचार किया और १६४९ में प्रकाश्य रूपसे उसका शिरश्छेद किया गया। अवश्य ही यह बात यूरोपके अन्य राजाओंको अच्छी नहीं लगी। पर उनमें फूट होने और पार्लमेंटको क्रामवेल जैसे वीर योद्धाका समर्थन प्राप्त होनेके कारण यूरोपके राजाओंके लिए इंग्लैंडको हानि पहुँचाना संभव नहीं हुआ।

२२. इस समयके बाद इंग्लैंडमें जब-जब राजा और मध्यमवर्गमें विरोध उत्पन्न हुआ, तब-तब मध्यमवर्गकी जीत होकर राजाके अधिकार बराबर कम होते गये। तथापि इंग्लैंडको प्रजा-तंत्र राज्य स्थापित करना वांछनीय न जान पड़ा। उपनिवेशों तथा विजित प्रदेशोंके लिए एक नामधारी राजाकी आवश्यकता थी। दूसरे राष्ट्रोंसे पत्र-व्यवहार करने और उपनिवेशों तथा विजित प्रदेशोंके लोगों-पर पूरा अधिकार प्राप्त करनेमें उसका उपयोग होता था। अमेरिकाके राज्योंने जब स्वाधीनताका झंडा खड़ा किया तब पार्लमेंटने अपने राजा तृतीय जॉर्जको बीचमें डाला। पर इससे पार्लमेंटको बड़ी हानि पहुँची और तबसे राजाका इस प्रकार उपयोग करनेमें मध्यमवर्गके लोग कुछ हिचकने भी लगे। तो भी हिंदुस्तान और दूसरे विजित देशोंके लिए एक राजा

रहना बहुत हितकर जान पड़नेसे उन्होंने अपनी राज-संस्थाको अबतक वैसी ही कायम रखा है।

२३. ई० स० १८५७ के विद्रोहमें अँग्रेजोंको इस राज-संस्थाका अच्छा उपयोग हुआ। महारानी विक्टोरियाके नामसे हिन्दुस्तानियोंको मीठे-मीठे अभि-वचन देकर वे उन्हें संतुष्ट कर सके। जब कभी पार्लमेण्ट गलतियाँ करके विकट परिस्थिति उपस्थित कर देती है तब उससे बच निकलनेके लिए अँग्रेज राज-नीतिज्ञोंके लिए यह राज-संस्था बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। मकानमें आग लगनेपर बाहर निकल भागनेके लिए अमेरिकामें मकानोंके पीछेकी ओर लोहे-की सीड़ियाँ लगा रखी जाती हैं। जिन मकानोंमें ऐसी सीढ़ियाँ नहीं होतीं, उनमें प्रायः प्रत्येक कोठरीमें एक-एक रस्सी रखी रहती है। मकानमें आग लगने-पर कोठरीमें लगे लोहेके एक अँकुड़ेमें यह रस्सी अटकाकर खिड़कीकी राह नीचे उतरा जा सकता है। इंग्लैण्डके धनी लोगोंके लिए इंग्लैण्डके राजाका ऐसा ही उपयोग होता है। उनकी गलतियोंसे जब कोई विचित्र प्रसंग उत्पन्न हो जाता है, तब इस राजसत्ताकी सीढ़ी या रस्सीके सहारे वे निकल भागते हैं।

२४. अँग्रेजोंपर ऐसा प्रसंग बंग-भंगके समय आया था। राजनीतिमें हिन्दुओंका महत्त्व घटानेके लिए लार्ड कर्जनने बंग-भंगकी युक्ति निकाली पर उससे केवल बंगालमें ही नहीं, हिन्दुस्तानके अन्य प्रांतोंमें भी घोर आंदोलन खड़ा हो गया। यह बात नहीं थी कि अँग्रेज लोग इस आंदोलनको दबा न सकते, पर यूरोपके क्षितिजपर युद्धके चिह्न स्पष्ट रूपसे दिखाई देने लगे थे और युद्ध आरम्भ होनेके पूर्व बंग-भंगसे उपस्थित विकट परिस्थितिको सुलझा देना अत्यावश्यक था। ऐसे अवसरपर पंचम जार्जका कैसा अच्छा उपयोग हुआ! उसे दिल्लीमें लाकर अँग्रेजोंने बंग-भंग रद्द कर दिया और हिन्दुस्तानमें शान्ति स्थापित की।

२५. मतलब यह कि चाहे धर्म-सत्ता हो चाहे राज-सत्ता, हितकर न होनेपर उसे ठुकरा देने और जब हितकर हो तब उससे पूरा लाभ उठा लेनेमें मध्यम-वर्गीय अँग्रेजोंने कभी कोई कसर बाकी न रखी। यूरोपियन देशोंके अन्य मध्यमवर्गोंपर विजय प्राप्त करनेमें अँग्रेजोंका अपना यह गुण बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

२६. पोर्तुगाल और स्पेनके लोग पोपके फेरमें पड़कर धर्मान्ध बन गये और इस कारण पूर्व तथा पश्चिमके देशोंमें अपना महत्त्व खो बैठे। हालैण्ड छोटा-सा देश होनेके कारण उसके लिए इंग्लैण्डसे प्रतिस्पर्धा करना संभव नहीं था। फ्रांसमें राजसत्ता बढ़ती गई और उसे काबूमें लानेके लिए मध्यमवर्गको घोर क्रांति करनी पड़ी। अर्थात् यूरोपके सब देश प्रगतिकी होड़में पीछे पड़े रह गये और केवल इंग्लैंड आगे बढ़ गया।

२७. पाश्चात्य संस्कृतिसे हमारा संबंध अँग्रेजोंके द्वारा हुआ, पर इसमें भवितव्यताका हाथ बहुत कम है। अँगरेजोंने जब हिन्दुस्तानमें जहाँ-तहाँ अपनी कोठियाँ स्थापित कीं, जब उन्हें उत्तरोत्तर पार्लमेण्टका समर्थन प्राप्त होता गया, अपने व्यापारके संरक्षणके लिए जब उन्होंने नाकेकी जगहोंपर कब्जा जमाकर अपनी जल-सेना मजबूत की, तभी इस देशके राजे-रजवाड़ोंका इतिहास जानने-वाले कार्ल मार्क्स जैसे किसी इतिहासज्ञने अवश्य ही भविष्य वाणी की होती कि सौ सवा सौ सालके अन्दर ही इन सब राजे-रजवाड़ोंको जीतकर अँग्रेज उनके मालिक बन बैठेंगे।

२८. उस समय वैसा कोई इतिहासकार नहीं था। पर कार्ल मार्क्सने पूर्ण रूपसे यह सिद्ध कर दिखाया है कि व्यापारिक क्रांतिके सामने सरदारी राजसत्ता टिक नहीं सकती। मध्यमवर्गके हाथों सरदारी सत्ताका नाश होना इतिहासकी अपरिहार्य घटना है। मध्यमवर्ग जब व्यापारके साधनोंपर अपना कब्जा कर लेता है तब वह सरदारोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेमें समर्थ होता है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण हमारे ही इतिहासमें मिल जाता है। अँग्रेज लोग छः-सात हजार मीलसे केवल व्यापारके लिए इधर आते हैं और कभी इस राजाका और कभी उस राजाका पक्ष लेकर स्वयं ही मालिक बन बैठते हैं। हमारे राजा ऐश-आराममें मस्त रहे। उन्हें घमण्ड इतना कि कुछ पूछिए नहीं, तुच्छ कारणपर पड़ोसियोंसे लड़नेको हमेशा तैयार! उनकी सेनाको समयपर वेतन तो क्वचित् ही मिलता! अँग्रेजोंकी नीति इससे ठीक उलटी। उन्हें लड़ाई नहीं, व्यापार चाहिए। युद्ध करना भी पड़े तो व्यापारकी रक्षाके लिए। अभिमान तो उन्हें बिलकुल नहीं था। मुगलोंके दरबारमें क्या, और पेशवाओंके दरबारमें क्या, उनका ऐसा मजाक उड़ाया जाता था कि कुछ पूछिए नहीं। मजाक, अपमान,

इतना ही नहीं, चाबुककी मारतक उन्होंने अपना व्यापार बढ़ानेके लिए सहन की ![1] व्यापारके कारण हाथमें पैसा खेलता रहनेसे उनकी सेनाका वेतन कभी नहीं रुका और व्यापारकी भाँति सेनामें भी अच्छी व्यवस्था होनेके कारण उन्हें हमारे राजाओंको पराजित करनेमें बिलकुल कठिनाई नहीं पड़ी ।

ब्राह्म-समाजका उदय

२९. अँग्रेजोंके व्यापारके द्वारा पाश्चात्य संस्कृतिकी बड़ी भारी लहर हमारे देशसे आ टकराई । उसने फ्रेंच, डच तथा पोर्तुगीज व्यापारियोंको अपने पेटमें डाल लिया और वह फैलते-फैलते काबुलतक जा पहुँची । हमारी राजनीतिक परिस्थितिपर तो उसका प्रभाव पड़ा ही, धार्मिक तथा सामाजिक स्थितिपर भी पड़े बिना न रहा । अँग्रेजोंके साथ उनकी बाइबिल और मिशनरी भी इधर आने लगे । हमारे यहाँके भोले-भाले आदमियोंकी यदि यह धारणा होने लगी हो तो आश्चर्य नहीं कि अँग्रेजोंकी विजयका कारण यह बाइबिल है ! पर अनेक वर्षोंकी रूढ़िसे बनी पौराणिक, धार्मिक प्रवृत्तिका त्याग करना उस समयके लोगोंके लिए असंभव था । तिसपर भी जो बहुत ही साहसी थे उन्होंने धर्म-परिवर्तन कर डाला और बहुजन-समाज केवल आश्चर्यचकित होकर तटस्थ बना रहा । इस संबंधमें तो धर्मभीरु पंडितोंको भी संदेह न रहा कि अँग्रेजोंकी राज्य-प्रणाली उत्तम है और उस समयके आबाल-वृद्ध कहने लगे कि अँग्रेजोंके राज्यमें आदमी हथेलीपर सोना रखकर जहाँ चाहे चला जाय । पर बाइबिलके संबंधमें पंडितवर्गको विश्वास नहीं होता था ।

३०. ऐसी परिस्थितिमें राजा राममोहन रायका उदय हुआ । उनको पक्का विश्वास हो गया कि बाइबिलको हम सर्वथैव पवित्र ग्रन्थ न भी कह सकें, तो भी उसकी एकेश्वरी कल्पना आत्मसात् किये बिना हिन्दू समाजकी उन्नति न होगी । इस 'एकेश्वरी' मतका प्रचार बाइबिल द्वारा किये जानेपर पंडित-मंडलीकी ओरसे भयंकर विरोध हुआ होता, इसलिए उन्होंने उपनिषदोंसे एकेश्वरवादके

१. Englishmen were flouted, rabbed, arrested, even whipped in the streets [Mediaeval India, page 306]

समर्थक वाक्य एकत्रकर अपने ब्राह्म-समाजकी इमारत खड़ी की। हिन्दुस्तानमें यह प्रयत्न पहला ही नहीं था। पहले भागमें कहा जा चुका है कि इस देशपर इन्द्रके कब्जा करनेपर उसीको देवताओंका राजा बनाकर सिंध प्रदेशके ब्राह्मणोंने किस प्रकार नया धर्म खड़ा किया था। शकोंका कुल-देवता महादेव था। उसे संसारका कर्ता बनाकर ब्राह्मणोंने किस प्रकार पुजारीपन प्राप्त किया और पीछे वासुदेवको भी किस प्रकार महादेवकी ही कोटिमें ला रखा, इसका वर्णन तीसरे भागमें हो चुका है। इतना ही नहीं, अकबरके समयमें 'अल्लोपनिषद' रचकर अल्लाको भी लाभप्रद बना लेनेके उनके प्रयत्नकी चर्चा हम कर चुके हैं। अतः राममोहन रायने जो कुछ किया वह ब्राह्मणोंकी पूर्वपरंपराके बहुत विरुद्ध नहीं था।

३१. पर राममोहन रायने इस पूर्वपरंपराके प्रतिकूल एक बड़ी बात यह की कि उन्होंने इस नये परमेश्वरकी भक्तिके द्वारा सामाजिक प्रथाओंको बिलकुल बदल डालनेकी चेष्टा की। इन्द्र, महादेव या वासुदेवको संसारका कर्ता बना देने-पर भी ब्राह्मण उसके पुजारी थे और इसलिए जाति-भेदके मुकुटमणि बने ही रहे। पर राममोहन रायकी यह इच्छा होनेके कारण कि, हमारा समाज अँग्रेज समाज के समान हो, उन्होंने अपने ब्राह्मण-धर्ममें जाति-भेदको स्थान नहीं दिया। अतः पंडित-मंडलीकी ओरसे इसका घोर विरोध होना स्वाभाविक था। तथापि सुशिक्षित लोगोंमें इस धर्मका थोड़ा-सा प्रचार हो ही गया।

आर्यसमाजका उदय

३२. ब्राह्म-समाजका प्रचार रुकनेका मुख्य कारण हुआ अँग्रेजी भाषा द्वारा इंग्लिश इतिहासका अध्ययन। यहाँके अँग्रेज राजनीतिज्ञोंने बहुत-कुछ वाद-विवाद और इधर-उधर करके मेकाले साहबके आग्रहसे, तत्कालीन अधिकारियों द्वारा यह निश्चय किया कि सब जगह अँग्रेजी शिक्षा आरम्भ की जाय। हिंदुस्तान-के उच्चवर्गपर उसका यह परिणाम हुआ कि नौकरीकी आशासे सभी अँग्रेजी सीखने लगे। अँग्रेजी राज्यमें यह प्रतिबन्ध नहीं था कि ईसाई बने बिना नौकरी न दी जाय। उलटे अँग्रेजी शिक्षासे किंकर्तव्यविमूढ़ हुए उच्चवर्गके लोग अँग्रेजी राज्यकी जड़ जमानेके लिए बड़े उपयोगी सिद्ध हुए। अँग्रेज अच्छी तरह जानते थे कि पोर्तुगीजोंने लोगोंको जबर्दस्ती ईसाई बनाया, उसका क्या

परिणाम हुआ । उस सबकको वे कभी नहीं भूले । ईसाई बनाकर फिर नौकरी देनेसे उन लोगोंसे वे कुछ लाभ न उठा सकते । जबर्दस्ती ईसाई बनाये गये इन लोगोंसे वे यह मालूम न कर सकते कि हिन्दू-समाजके अन्दर क्या हो रहा है; कारण इन धर्मभ्रष्ट लोगोंको हिन्दू-समाजने बहुत दूर रखा होता । उनसे हिन्दुओंका सुशिक्षित वर्ग कितना अच्छा था ! केवल नौकरीके लिए ही क्यों न हो, कहाँ क्या हो रहा है, यह जाकर साहबको बताना मानो उनका कर्तव्य ही था !

३३. हिन्दू-समाज जैसा व्यवहार ईसाइयोंके साथ करता था वैसा ही ब्राह्म-समाजके साथ भी करने लगा । कारण ब्राह्म बननेसे और कोई भी लाभ नहीं था । इस नये परमेश्वरके नये मंदिर स्थापित होकर उनमें ब्राह्मण पुजारियोंका कोई इंतजाम हुआ होता, तो महादेव, काली आदि देवताओंकी भाँति उसकी भी पूजा होने लगती । वैसा कुछ न होनेके कारण ब्राह्मणोंको यह नया देव बिल्कुल त्याज्य जान पड़ा । नौकरियाँ जैसे ब्राह्म-समाजियोंको मिलती थीं, वैसे ही पुराने ढंगके हिन्दुओंको भी मिलती थीं । अतः उनके संबंधमें भी इस नये देवका कोई विशेष उपयोग नहीं था । जो लोग उस समय विलायत हो आते थे और जिन्हें प्रकाश्य रूपसे ईसाई धर्म ग्रहण करनेका साहस नहीं होता था, उनके लिए अवश्य यह ब्राह्म-धर्म उपयोगी सिद्ध हुआ । वे विलायतसे लौटनेपर जाति-बहिष्कृत होने और ब्राह्म-धर्मका आश्रय लेते । पर ऐसे लोग बहुत थोड़े ही होते । अतः स्पष्ट है कि ब्राह्म-धर्मका विशेष प्रचार होनेके लिए कोई सबल कारण नहीं थे ।

३४. नौकरीके लिए हिन्दुओंको अँग्रेजी विद्या सीखनी पड़ी । उससे उन्हें यह दिखाई दिया कि अँग्रेजोंके उत्कर्षका कारण बाईबिल नहीं, स्वदेशाभिमान है । अँग्रेज अपने देशके लिए चाहे जो हानि उठा सकता है, पर हिन्दू ऐसा नहीं कर सकता । बहुत हुआ तो अपने धर्मके लिए अर्थात् अपनी जातिकी रक्षाके लिए, हिन्दू लोग स्वार्थ त्याग करेंगे । पर देशकी कल्पना इन्हें बिलकुल नहीं है । सुशिक्षितोंकी यह धारणा होने लगी कि यदि हिन्दू लोगोंमें देशाभिमान जागृत किया जाय, तो हमारे लिए भी अँग्रेजोंकी तरह राज्य कर सकना संभव है । देशमें एकता स्थापित करनेके लिए एक धर्म और एक भाषाकी भी

आवश्यकता प्रतीत होने लगी और इस परिस्थितिमें आर्य-समाजकी स्थापना— हुई। एक देवता चाहिए न? तो उसकी स्थापना वेदोंमेंसे ही क्यों न की जाय? जाति-भेद नहीं चाहिए न? तो इसके लिए भी वेदोंमें आधार मिलेगा। एक राष्ट्र बनानेके लिए तुम्हें जो कुछ चाहिए, यहाँतक कि तार, बिजली, भाप इन सबकी व्युत्पत्ति भी वेदोंमेंसे मिलना संभव है। बाइबिलमें जो नहीं है, वह सब वेदोंमें है और वेद हमारे हैं। बाइबिलका इतिहास तो केवल छः हजार वर्षोंका है, पर हमारे वेदोंको आज १९७२९४९०११ वर्ष हो गये। उनके आधार-पर यदि तुम देशाभिमानकी इमारत खड़ी न कर सके तो तुम जैसे निरुपयोगी प्राणी दूसरे कौन होंगे?

शिवाजी-उत्सव तथा गणेशोत्सव

३५. जहाँ संस्कृत भाषाका विशेष प्रचार नहीं था उन प्रांतोंमें आर्य-समाजका विशेष प्रचार हुआ। पर दक्षिणके प्रांतोंमें उसका प्रचार होना संभव नहीं था। दक्षिणके सुशिक्षितोंको देशाभिमान अवश्य अपेक्षित था पर यह उन्हें पसन्द नहीं था कि वह वेदके ही आधारपर स्थापित हो। प्रथमतः लोकमान्य तिलकने यह सिद्ध कर दिखाया कि किसी भी लोकप्रिय देवता तथा ऐतिहासिक व्यक्तिको आगे लाकर देशाभिमान जागृत किया जा सकता है। इस कामके लिए उन्होंने शिवाजी-उत्सव तथा गणपति-उत्सव इन दो साधनोंका उपयोग किया। शिवाजी मराठोंका राज्य स्थापित करनेवाले और गणपति पेशवाओंके देवता होनेके कारण महाराष्ट्रमें बहुत लोकप्रिय थे। इसलिए इन दोनोंको आगे लाकर हिन्दुओंका राष्ट्राभिमान जागृत करनेकी युक्ति लोकमान्यने खोज निकाली और उसे ब्राह्म-समाज या आर्य-समाजसे भी अधिक यश प्राप्त हुआ।

३६. इस यशका कुछ श्रेय अँग्रेज अधिकारियोंको भी देना उचित है। वे यदि आरंभसे ही शिवाजी-उत्सवमें सहायता करते तो वह कभीका ठंडा पड़ गया होता और गणपतिके जुलूसोंकी जैसी उपेक्षा वे आज करते हैं वैसी उन्होंने आरंभसे ही की होती, तो वे उसी समय निष्फल हो गये होते। पर सन् सत्तावनके गदरसे अँग्रेज अधिकारी बहुत संशयी हो गये हैं, उन्हें "रज्जु-सर्पाकार-भास" हुआ करता है और जबतक उन्हें विश्वास नहीं हो

जाता कि रस्सी रस्सी ही है, तब तक वे उसे पीटते रहते हैं। ऐसी ही बात इन दो उत्सवोंके संबंधमें भी हुई।

३७. कुछ समय बीतनेपर अधिकारियोंको अपनी गलती दिखाई दे गई। तब उन्होंने शिवाजीकी मूर्ति स्थापित करने तथा शिवाजी मिलिटरी स्कूल खोलनेमें मदद दी। उससे अँग्रेज अच्छा लाभ उठा रहे हैं। अँग्रेजोंको इसका भी अनुभव हुआ है कि गणपति-उत्सवमें दस-पंद्रह दिन खेलते-कूदते रहनेसे जन-साधारणका ध्यान अपनी भूखकी पीड़ा तथा वर्तमान राजनीतिसे हट जाता है। अतः इस उत्सवपर भी उन्हें बिलकुल आपत्ति नहीं रह गई।

३८. सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधारके लिए उनमें धार्मिक बातोंका मिश्रण करनेसे लाभकी अपेक्षा हानि ही अधिक होती है। बंगालमें तथा दूसरे प्रांतोंमें मिश्र-विवाह करने तथा पंक्ति-भेद मिटानेके लिए अब ब्राह्मसमाजकी बिलकुल आवश्यकता नहीं रह गई है। ऐसा होते हुए भी ब्राह्मसमाज बना हुआ है। इसी तरह पंजाबमें सामाजिक तथा राजनीतिक सुधारके लिए अब आर्य-समाजकी बिलकुल आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, तिसपर भी आर्यसमाज बना है। महाराष्ट्रमें गणपति-उत्सव और स्वदेशाभिमानका अब कोई भी संबंध नहीं रहा, तथापि गणपति-उत्सव जारी ही है और उसके कारण प्रतिवर्ष निर्धन महा-राष्ट्रके लाखों रुपये खर्च होते हैं। एक गुजराती युवकने मुझे बताया कि इस उत्सवके लिए महाराष्ट्रीय अकेले बम्बई शहरमें ही प्रतिवर्ष लगभग तीन लाख रुपये खर्च करते हैं। यह पैसा यदि सहकार समितियाँ स्थापित करके उनमें एकत्रित किया गया होता तो बंबई शहरके पीड़ित महाराष्ट्र मजदूर पठानों तथा दूसरे महाजनोंके ऋणसे कभीके मुक्त हो गये होते।

महात्मा गाँधीकी राजनीति

३९. दक्षिण अफ्रीकामें नीग्रो लोग तो बहुत थे, पर उनमें अधिक बुद्धि न होनेके कारण उनसे काम अच्छी तरहसे पूरा नहीं होता था। इसलिए वहाँ बसे हुए अँग्रेज यहाँसे बहुतसे मजदूरोंको निश्चित समय तक नौकरी करनेकी प्रतिज्ञा कराकर ले जाने लगे। उस समय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की स्थापना न होनेके कारण इन उपनिवेशवालोंके विरुद्ध आपत्तितक करनेके लिए कोई

अग्रसर नहीं हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि अफ्रीकामें बहुतसे हिन्दुस्तानी मजदूर इकट्ठा हो गये। फिर पाँच या दस सालका ठेका पूरा हो जाने पर इनमेंसे कुछ मजदूर खेती या और कोई छोटा-मोटा रोजगार पकड़कर वहीं स्थायी रूपसे बस गये।

४०. एक मुसलमान व्यापारीके मुकदमेकी पैरवी करनेके लिए गाँधीजी पहले वहाँ गये और पीछे वहीं वकालत करने लगे। "जे कां रंजले गांजले। त्यांसि म्हणे जो आपुले। तोचि साधु ओळखावा। देव तेथेचि जाणावा[1]॥" इस उक्ति में निहित उदारता गाँधीजीमें स्वभावसे होनेके कारण अपने पतित देशभाइयोंके कष्ट उन्हें असह्य हो उठे और उनका प्रतिकार करनेके लिए वे सत्याग्रहके मार्गमें अग्रसर हुए।

४१. इस विवादमें पड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं कि गाँधीजीका दक्षिण अफ्रीकाका सत्याग्रह सफल हुआ या निष्फल। सबको इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि राजनीतिक लड़ाईमें सत्याग्रहका प्रयोग पहले-पहल गाँधीजीने ही किया। उनके पहले कौंट टॉलस्टॉयने अपनी पुस्तक द्वारा सत्याग्रहकी कल्पना विस्तारके साथ लोगोंके सामने रख दी थी। पर वह गाँधीजीके सिवा और किसीको व्यावहारिक नहीं जान पड़ी। गाँधीजीने टॉलस्टॉयकी कल्पनाको मूर्त्त रूप देकर सिद्ध कर दिखाया कि वह व्यवहार्य है।

४२. महायुद्ध आरम्भ होनेपर गाँधीजी स्वदेश लौट आये। उनकी यह धारणा होना स्वाभाविक था कि केवल दक्षिण अफ्रीकामें ही सत्याग्रहका प्रयोग करनेसे हिन्दुस्तानी दासतासे मुक्त नहीं होंगे, सारे हिन्दुस्तानमें सत्याग्रह किया जाय तभी हिन्दुस्तानको स्वराज्य मिलेगा और उससे उपनिवेशों तथा अन्य राष्ट्रोंमें हिन्दुस्तानकी इज्जत बढ़ेगी। पर यहाँ आनेपर उन्हें सत्याग्रह करनेमें कई कठिनाइयाँ दिखाई दीं और तब कुछ कालतक राजनीतिक परिस्थितिका अच्छी तरह निरीक्षण कर, पीछे अवसर देखकर सत्याग्रह आरंभ करना उन्हें उचित जान पड़ा।

---

१. जो दुःखमें पड़े जनोंको आत्मीय कहता है, वही साधु है और उसीमें परमात्मा है।

४३. सत्याग्रह आरम्भ करनेमें सबसे बड़ी कठिनाई थी हिन्दू-मुसलमानोंकी फूट। १९१६ में लखनऊमें कौंसिलके स्थानोंके संबंधमें हिन्दू-मुसलमानोंमें समझौता हुआ। उससे हिन्दू-मुसलमानोंकी एकताकी आशा होने लगी। उधर महासमर समाप्त होनेपर ग्रीक लोगोंने स्मर्नामें घुसकर तुर्कोंसे युद्ध आरम्भ कर दिया। उन्हें अँग्रेजोंका समर्थन प्राप्त होनेके कारण हिन्दुस्तानके मुसलमान अँग्रेजोंपर नाराज हुए और उन्होंने खिलाफत आंदोलन आरम्भ किया। उसी समय अँग्रेजोंने रौलॅट ऐक्ट पास करके यहाँके नरमदली नेताओंको भी नाराज कर दिया। अतः इस अवसरसे लाभ उठाकर गाँधीजीने सत्याग्रहका श्रीगणेश किया।

४४. सन् १९२० में अप्रैलकी ६ तारीखको रौलॅट-ऐक्टके विरोधमें जहाँ तहाँ समाएँ हुईं। उनमें हिन्दू-मुसलमानोंने मिलकर भाग लिया। उसी समय पंजाबके कुछ असन्तुष्ट व्यक्तियोंने चार-पाँच अँग्रेजोंका खून कर डाला। हिन्दू-मुसलमानोंकी एकता और अँग्रेजोंकी हत्या देखकर अँग्रेज अधिकारियोंको यह भय होना स्वाभाविक था कि कहीं अब १८५७ के विद्रोहकी पुनरावृत्ति न हो जाय। भयसे मूढ़ मनुष्य कौनसे अपराध कर बैठेगा, इसका कोई नियम नहीं। इस सिद्धान्तके अनुसार पंजाबके अँग्रेज अधिकारियोंने आफत मचा दी। अमृतसरके जलियानवाला बागमें जनरल डायरने निःशस्त्र आदमियोंका जो कत्लेआम किया वह क्रूरताके आधुनिक उदाहरणके रूपमें जगत्प्रसिद्ध है। अधिकारियोंके हाथसे यदि कहीं कोई अत्यन्त क्रूर काम हो जाता है, तो अब उसे दूसरा अमृतसर (The second Amritsar) कहने का रिवाज पड़ गया है।

४५. पंजाबका सैनिक विधान, मुसलमानोंका खिलाफत आंदोलन और रौलॅट ऐक्टके प्रति मध्यमवर्गके लोगोंका विरोध, ये सब योग एकत्र होनेके कारण गाँधीजी द्वारा किया गया सत्याग्रह सहसा तीव्र हो उठा। संसारकी आँखें उसकी ओर लगीं और अँग्रेज अधिकारी तो एकदम घबड़ा गये। ऐसे समय चौरीचौरामें कांग्रेसके स्वयं-सेवकों के हाथसे पुलिसवालोंको जीता जला देनेका अत्याचार हुआ और गाँधीजीने-सत्याग्रह स्थगित कर दिया। अँग्रेजोंपर आया हुआ संकट बिना अधिक प्रयासके अपने-आप ही टल गया। यह देखकर कि गाँधीजीकी लोकप्रियता बहुत घट गई है, सन् १९२२ में मार्च महीनेमें उनपर मुकदमा

चलाकर उन्हें छः वर्ष कारवासका दण्ड दे दिया गया ।

४६. दो वर्ष बाद गाँधीजी छोड़ दिये गये। उस समय सत्याग्रहका अधिक जोर नहीं रह गया था। तथापि उन्होंने चार-पाँच वर्ष सत्याग्रहको पुनरुज्जीवित नहीं किया और खादी, राष्ट्रीय शिक्षा, हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा अस्पृश्यता-निवारण इन चार विधायक कार्योंपर अधिक जोर दिया।

४७. राष्ट्रीय महासभा (काँग्रेस) का सन् १९२९ का अधिवेशन बहुत संस्मरणीय हुआ। युवा समाजवादी पं० जवाहरलालजी कांग्रेसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए और कांग्रेसने स्वराज्यकी परिभाषा 'पूर्ण स्वाधीनता' निश्चित की। कांग्रेसका अधिवेशन समाप्त होनेपर गाँधीजीने अपनी ग्यारह शर्तें वाइसरायके सामने पेश कीं और मार्च महीनेमें नमक सत्याग्रह आरंभ किया। एक महीनेके अन्दर ही उन्हें पकड़कर यरवडा जेलमें भेजना ब्रिटेनकी तत्कालीन मजदूर सरकारको उचित जान पड़ा। तिसपर भी सत्याग्रह जोरोंके साथ जारी रहा। वाइसरायको एकके बाद एक फरमान निकालकर प्रायः सैनिक शासन ही आरंभ करना पड़ा और अन्तमें गाँधीजीके साथ विराम-सन्धिकर सन्धि-सम्बन्धी बातचीतके लिए वे इंग्लैंडमें ले जाये गये। वहाँ उनका अपूर्व सम्मान हुआ। स्वयं बादशाह पंचम जार्जने इस फकीरसे भेट की, पर यह सब कंजर्वेटिवोंको कैसे अच्छा लगता ? मैकडोनल्डको मिलाकर सन् इकतीसके साधारण निर्वाचनमें विजय प्राप्त करते ही वे सत्याग्रहको समूल नष्ट कर डालनेपर कटिबद्ध हुए। पर लार्ड इरविन तथा मजदूर सरकार द्वारा की गई प्रतिज्ञाओंका क्या किया जाय ? आखिर उनकी पूर्ति सर सेमुएल होर द्वारा तैयार किये गये बिलमें[1] कर दी गई।

पाश्चात्योंका आधिदैवत

४८. जिस प्रकार वेद-कालमें इन्द्र, अशोकके समय बुद्ध, शकोंके समय महादेव, और गुप्तोंके समय वासुदेव आगे आये, उसी प्रकार अँग्रेजोंके राज्य-कालमें 'स्वदेशाभिमान' नामका देव आगे आता जान पड़ता है। हिन्दू

---

[1] इस बिलको १९३५ में विधानका रूप देकर भारतपर जबर्दस्ती लाद दिया गया। —अनुवादक

समाजके मध्यमवर्गोंमें उसकी उपासना प्रिय होती जा रही है। मुसलमानोंने लोगोंपर अल्लाको लादनेका भगीरथ प्रयत्न किया, हिन्दुओंपर विभिन्न प्रकारके कर लगाये, तो भी कदाचित् ही किसी हिन्दूने राजीखुशी अल्लाको स्वीकार किया। इसके लिए मुसलमानोंको जोर जबरदस्तीतक करनी पड़ी। पर इस पाश्चात्य देवको हिंदूसमाज बड़े सन्तोषसे स्वीकार कर रहा है। ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज, गणपति, अहिंसा आदि सब इस आराध्य देवकी पूजाके साधन समझे जाते हैं। इन सब पंथोंके उपासकोंसे यदि आप कहें कि आपमें स्वदेशाभिमान नहीं है, तो वे इसका जोरोंके साथ खंडन करेंगे और कहेंगे कि लोगोंमें सच्चा देशाभिमान जागृत करनेहीके लिए तो हमारा पंथ है। इसलिए कहना पड़ता है कि देशाभिमान ही इस समय सच्चा देव है और ये छोटे-मोटे पंथ उसकी पूजाके साधनमात्र हैं।

४९. यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है कि पश्चिमी राष्ट्रोंमें आज मुख्यतः इसी देवकी पूजा हो रही है। महासमरमें जर्मन कैथलिकोंने अपना तथा फ्रेंच कैथलिकोंका बलिदान इसी देवके लिए किया। इसी देवके फेरमें पड़कर जर्मन अमेरिकनोंने जर्मनीमें रहनेवाले अपने भाइयोंकी बिना किसी अपराधके हत्या की। इससे सिद्ध होता है कि यदि धर्म अथवा जाति इस देशाभिमानके मार्गमें बाधक होती हो, तो उसका उच्छेद करनेमें कोई भी पाश्चात्य राष्ट्र आगा-पीछा नहीं करेगा। बाइबिलके देवका भी महत्त्व तभीतक है जबतक वह देशाभिमानमें बाधक नहीं होता।

५०. पाश्चात्योंके राज्य-कालमें मध्यमवर्गीय हिन्दुओंमें देशाभिमानका प्रचार होना स्वाभाविक था। बच्चेको जैसे पहले शहद चटाकर फिर ब्रांडी जैसी दवा पिलाई जाती है, उसी प्रकार हमारे नेताओंने हमें पाश्चात्यों जैसा उत्साही बनानेके उद्देश्यसे पहले हमें धार्मिक पंथों और गणपति उत्सवके बहाने इस देशाभिमानका मद्य पिलाना आरंभ किया। पर अब हमारा समाज सयाना होता जा रहा है, इसलिए उसे ऐसे लालचकी बिलकुल आवश्यकता नहीं रह गई है। देशाभिमानकी कितनी ही प्यालियाँ पी जानेपर भी तृप्ति नहीं होती। यह कहते ही कि 'एक समय हम इतने अच्छे थे, पर इस अंग्रेजी-शासनमें बहुत ही गिर गये हैं', देशाभिमानकी पियास जाग जाती है।

५१. पर हिन्दुस्तानमें इस देशाभिमानका बाधक एक दूसरा अभिमान है, और वह है हमारे मुसलमान भाइयोंका। मुसलमान यद्यपि हिन्दुस्तानमें कई सदियोंसे रहते आ रहे हैं, तो भी उनका सारा ध्यान मक्काकी ओर है। हिन्दुओंकी भाँति मुसलमानोंके मनमें भी यह बात आती है कि अपने हाथसे कुछ गलतियाँ हो गई हैं जिससे अपना राज्य चला गया है, पर उसे पुनः प्राप्त करनेकी उन्हें आशा है। उनकी धारणा है कि यद्यपि हिन्दुस्तानमें हम अल्पसंख्यक हैं, तथापि अफगानिस्तान, पर्शिया, तुर्की आदि सब देशोंके मुसलमानोंमें यदि एकता हो जाय तो बंगालसे कास्टेंटिनोपल तक मुसलमानोंका एकच्छत्र राज्य स्थापित करना संभव है; और इसीलिए सिंध प्रान्तका पृथक्करण, बंगाल और पंजाबमें बहुमत प्राप्त करना आदि सब प्रयत्न किये जा रहे हैं।[१]

५२. हिन्दुओंको इस उद्देश्यका पता लग गया है। अपना बहुमत बनानेके लिए अस्पृश्योंको स्पृश्य बना लेनेका तो उनका प्रयत्न जारी है ही, इसके अतिरिक्त बरमा, स्याम, चीन, जापान, आदि देशोंके बौद्धोंकी सहायता प्राप्त करनेके लिए उन्होंने बौद्ध संस्कृतिको भी हिन्दू संस्कृतिमें संमिलित कर लेनेका प्रयत्न आरंभ किया है। हिन्दू सभाका भिक्षु उत्तमको अपना अध्यक्ष चुनना इसका ताजा प्रमाण है।

५३. मुसलमानोंका प्रयत्न जिस प्रकार देशाभिमानके लिए घातक है उसी प्रकार हिन्दुओंका प्रयत्न भी है। हिन्दुस्तानके बाहर जाकर तुम चीन, जापानकी सहायताकी अपेक्षा करने लगे तो उसमें देशाभिमान कहाँ रहा? शुद्ध देशाभिमान तो पाश्चात्यों जैसा होना चाहिए। स्वदेशाभिमानसे जर्मन कैथलिक फ्रेंच कैथलिकोंकी हत्या कर रहे थे। उसी प्रकार फ्रेंचोंसे अपनी पुरानी दुश्मनी भुलाकर उनकी सहायतासे अंग्रेज अपने जर्मन धर्म बंधुओंके प्राण ले रहे थे। वैसा देशाभिमान यदि हिन्दुस्तानमें उत्पन्न हुआ तो हिन्दू-मुसलमान एक होकर एक ओर बौद्धोंको और दूसरी ओर हिन्दुस्तानके बाहरके मुसलमानोंको पददलित कर डालेंगे। अतः यह एक प्रकारसे पास-पड़ोसके देशोंका बड़ा सौभाग्य ही समझना चाहिए कि वैसे देशाभिमानकी दृढ़ स्थापना इस देशमें नहीं हो रही है।

---

१. पाकिस्तानकी योजना भी इसी भावधाराका एक संगठित अङ्ग है।

रशियन क्रान्ति

५४. रशियन तथा हिन्दुस्तानी राजनीतिक आन्दोलनोंमें बहुत संबंध दिखाई देता है। सन् १९०५ के पूर्व रशियामें बमका बहुत प्रचार हुआ था। उस समय रशियामें जार तथा अन्य बड़े-बड़े अफसरोंपर बम फेंककर उनकी हत्या करनेका प्रयत्न करनेवाली बहुत-सी गुप्त समितियाँ उदित हुई थीं। उन्हींकी प्रतिध्वनि बंग-भंगके बाद बंगालमें हुई और आजकल भी सुनाई देती है। बोलशेविकोंका निश्चित मत था कि इस प्रकार हत्याएँ करनेसे पीड़ित जनताकी मुक्ति नहीं होगी। लेनिन जैसे नेता इस मतका जोरोंसे प्रचार कर रहे थे तथापि जारशाहीसे ऊबे हुए युवकोंको उनकी बातें पसन्द नहीं आती थीं। उन्होंने हत्याओंका यह सिलसिला उसी तरह जारी रखा।

५५. सन् १९०५ में रूसो-जेपेनीज युद्धके कारण रशियामें प्रायः अकाल जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई। ऐसे समय बोलशेविकोंने आन्दोलन कर सारे देशमें आम हड़ताल कराई। पीटर्सबर्गके भूखे लोगोंको लेकर अन्नकी याचना करनेके लिए एक पादरी जारके पास गया तो जारने निहत्थे लोगोंपर गोलियाँ चलवाकर उनकी हत्या कराई। फ्रेंचोंने जारको एक बड़ी रकम कर्ज दी, जिससे सेनाको सन्तुष्ट रखकर देशव्यापी हड़ताल दबाई जा सकी। सर्वत्र दमन आरंभ हुआ और गरीब लोगोंके दुःखोंकी सीमा न रही। यह देखकर कि जारशाहीके सामने बोलशेविकोंका कुछ बस नहीं चलता, युवक निराश हो गये और आतंक-वाद परसे उनका विश्वास उठनेके बजाय और बढ़ता ही गया।

५६. पर घाटेके व्यापारसे जारशाहीकी इमारत कमजोर होती जाकर १९१७ में अपने-आप ही भहरा पड़ी। रशियाका नेतृत्व सहसा मध्यमवर्गके हाथमें आया। केरेंस्की उनका अगुआ बना। जारने स्वय इस्तीफा दे दिया। पीटर्सबर्गमें प्रजातंत्र राज्यकी स्थापना हुई। पर वह प्रजातन्त्र टिके कैसे? अमेरिका यदि ऋण न दे तो केरेंस्कीका राज्य चले कैसे? अमेरिका उस समय जर्मनीके विरुद्ध मित्र-राष्ट्रोंसे मिला हुआ था। ऐसी अवस्थामें वह रूसको इसी शर्तपर कर्ज देता कि वह युद्ध-क्षेत्रसे न हटे। फलतः केरेंस्कीको यह शर्त मानकर कर्ज लेना पड़ा। पर रशियन किसान लड़ाईसे बिलकुल ऊब गये थे। जिस प्रकार जार इस्तीफा देकर अलग हो गया, उसी प्रकार वे भी अपनी-अपनी बन्दूक लेकर अपने घर

जाकर लड़ाईसे अलग हो गये और अपनी वक्तृत्वशक्तिके बलपर लड़ाई जारी रखनेका केरेंस्कीका प्रयत्न हास्यास्पद सिद्ध हुआ।

५७. इस अवसरसे लाभ उठाकर लेनिन आगे आया। पीटर्सबर्गपर कब्जा करनेके लिए लेनिनको बिलकुल रक्तपात न करना पड़ा। केवल मास्कोमें जारके दलवालोंने कुछ विरोध किया। बिना अधिक रक्तपातके सारा रूस बोलशेविकोंके हाथ आ गया। यदि यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि 'जमीन किसानोंकी', 'मिलें मजदूरोंकी' और 'लड़ाई बन्द,' इन तीन ही वाक्योंमें लेनिनकी सारी शक्ति भरी थी। लड़ाई तो बन्द हो चुकी थी; लड़ाईके समय मिली बन्दूकों और गोलियोंका उपयोग किसानोंने जमीनपर कब्जा करनेके काममें किया। लेनिनका वाक्य उन्हें अपने बहुत ही अनुकूल और तुरत कार्यान्वित करने योग्य जान पड़ा। अब केवल मिलोंपर मजदूरोंका कब्जा होना बाकी रह गया था। पर इस संबंधमें मजदूरोंके मनमें बिलकुल सन्देह नहीं रह गया कि मिलोंपर उनका कब्जा हो जायगा।

५८. मित्र-राष्ट्रोंपर यह एक बड़ा संकट आ पड़ा। जर्मनी कुछ कब्जेमें आ ही रहा था कि बोलशेविज्मकी उत्पत्तिसे सब राजनीतिज्ञोंको डर लगने लगा कि कहीं यह बोलशिविज्म सारे पूँजीवादको न ग्रस ले। उन्होंने इस नये पंथमें हर तरहसे बाधा डालना आरंभ किया। रशियन क्रान्तिकी हवा जर्मनीमें पहुँचने और अमेरिकाकी सहायता मिलनेसे मित्र-राष्ट्रोंका जोर उत्तरोत्तर बढ़ते जानेके कारण जर्मनी हतवीर्य हो गया और १९१५ में उसने विल्सनकी १४ शर्तोंपर लड़ाई बन्द कर दी। फलतः मित्र-राष्ट्रोंको अपने पूर्वीय मित्रकी ओर विशेष ध्यान देनेका अवसर मिला। उनके पास विपुल युद्ध-सामग्री पड़ी थी। पर सब देशोंके लोग लड़ाईसे बहुत ऊब गये थे। इस कारण रशियामें बड़ी सेना भेजना किसी भी मित्र-राष्ट्रके लिए संभव नहीं था। दूसरा एक डर यह था कि बोल-शेविकोंके प्रचार-कार्यसे यदि सेना विद्रोह कर दे, बिगड़ जाय तो इसका परिणाम आत्मघात ही होगा। मित्र-राष्ट्रोंके सौभाग्यसे रशियासे भागे हुए धनी तथा सरदार घरानेके लोग रशियाके बाहर सर्वत्र फैले हुए थे। उनके अलावा रशियामें जेकोस्लोवाकियाके हजारों सैनिक कैद होकर पड़े थे। ऐसी अवस्थामें मित्र-राष्ट्रोंके धुरीणोंकी यह धारणा होना स्वाभाविक था कि जर्मनीके विरुद्ध लड़नेके लिए

तैयार की गई युद्ध-सामग्री देकर यदि इन लोगोंकी सहायता की जाय, तो वे स्वयं ही बोलशेविज्मको नष्ट कर डालेंगे।

५९. तदनुसार सब मित्र-राष्ट्रोंने आपसमें परामर्श करके गोरे रूसियों[1] तथा बन्दी जेकोस्लोवायिकयन सैनिकोंका नया संघटन किया और बोलशेविकोंपर चारों ओरसे आक्रमण कर दिया। इस संकटसे बच निकलनेकी अधिक आशा बोलशेविक नेताओंको भी नहीं थी; कारण सारा देश पस्त था और गोला-बारूदका बिल्कुल अभाव था। यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि लड़ मरने या फाँसीपर लटकनेके सिवा तीसरा रास्ता न होनेके कारण बोलशेविकोंने लड़कर मरना ही पसन्द किया।

६०. पर ये गोरे रूसी ज्यों-ज्यों मास्को और लेनिनग्राडकी ओर बढ़ते गये, त्यों-त्यों कमजोर होते गये। नये-नये मालिक बने हुए किसानोंकी बिलकुल इच्छा नहीं थी कि इनकी सहायता की जाय। फलतः गोरे रूसियोंको किसानोंपर जोर जबर्दस्ती कर भोजनसामग्री प्राप्त करनी पड़ी और इस कारण उनके आगे-आगे बढ़ते ही पीछे-पीछे विद्रोह होने लगे। मित्र-राष्ट्रोंकी भेजी युद्धसामग्री उन विद्रोहियों या बोलशेविकोंके हाथ लगी और गोरी सेना ग्रीष्मकालीन सूर्यकिरणोंसे पिघलनेवाले बर्फ की तरह वहीं नष्ट हो गई! व्रांगल आदि सेनापतियोंको बचे हुए धनी घरानोंके लोगोंको लेकर भागना मुश्किल हो गया। युद्ध-सामग्री तो हाथसे निकल ही गई, ये गोरे रूसी भी सहायतार्थ मित्र-राष्ट्रोंके द्वारपर आ बैठे। पर अब मित्र-राष्ट्रोंको उनकी क्या आवश्यकता थी?

६१. इस प्रकार अनपेक्षित रूपसे बोलशेविकोंकी विजय हुई। एस्तोनिया, लाटविया, लिथुवानिया, पोलैंड, फिनलैंड और बैसाराबिया प्रान्तोंको छोड़ जारके समस्त साम्राज्यपर बोलशेविकोंका राज्य स्थापित हो गया। पर उसे लेकर किया क्या जाय? रेलवे लाइनें टूट गई थीं, अधिकतर मिलें बन्द होकर मशीनोंको मोर्चा लग गया था और मित्र-राष्ट्रोंने तो चारों ओरसे बोलशेविकोंपर घेरा डाल रखा था (उन्हें किसी प्रकारकी सहायता नहीं मिलने देते थे)। इतनेमें सन् १९२१ का भयंकर अकाल पड़ा। लाखों आदमी बिना अन्न मर गये। गोरे

१. बोलशेविक-विरोधी धनी लोगोंको गोरे (White) और बोलशेविकोंको लाल (Red) कहते हैं।

रूसियोंको पराजितकर अपना राज्य स्थापित करना बोल्शेविकोंके लिए जितना कठिन हुआ होगा उससे दसगुना अधिक कठिन इन सब संकटोंसे पार पड़ना जान पड़ा होगा। पर वे करते क्या? इन सब संकटोंका सामना करनेके सिवा दूसरा रास्ता ही नहीं था। इस समय यदि पूँजीवादी मित्र-राष्ट्र अन्नसामग्री साथ लेकर रूसपर चढ़ जाते तो बिना बड़ी लड़ाईके वे सारे रूसको जीत सकते थे। पर उनके नेताओंको यही एक डर था कि रूसपर चढ़ाई करनेसे कदाचित् अपने ही आदमी अपने विरुद्ध हो जायँ और अपने ही राज्योंमें क्रान्ति हो जाय; और इस डरके कारण उन्हें रूसका आर्थिक बहिष्कार करके ही सन्तोष मानना पड़ा।

६२. इसके बाद बोल्शेविकोंने पंचवर्षीय योजना आरम्भ कर उसमें कितनी सफलता प्राप्त की, किस प्रकार ग्राम-संगठन आरम्भ किया, आदि बातें बिलकुल ताजी हैं और उनमें बोल्शेविकोंको मिली सफलता अथवा विफलताके सम्बन्धमें विभिन्न देशोंमें चर्चा भी हो रही है। यहाँ इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि अत्यन्त संकटके समयमें राज्याधिकार हाथमें आनेपर भी बोल्शेविकोंने उसे मजदूर और किसानोंके बलपर कायम रखा। इतना ही नहीं, असह्य आपत्तियोंका सामना कर और उनपर विजय प्राप्तकर सारे संसारको एक नया सबक सिखाया।

जापानी और रशियन क्रान्तिकी तुलना।

६३. सरदारी सत्तासे निकलकर मध्यमवर्गीय सत्ता स्थापित करनेमें इंग्लैंड, फ्राँस आदि देशोंको सैकड़ों वर्ष लग गये, पर वही काम जापानने केवल तीस-बत्तीस वर्षोंमें कर डाला। यदि यह कहा जाय तो अनुचित न होगा कि सन् १८-५३ तक जापानका अन्य राष्ट्रोंसे बिलकुल ही सम्बन्ध नहीं था। केवल एक डच कंपनीको कड़ी शर्तोंपर जापानसे व्यापार करनेकी अनुमति मिली थी। पर उस अमेरिकन जल-सेनाका अधिकारी कमोडोर पेरो (Commodoro Perry) कुछ जंगी जहाज लेकर जापानके बन्दरगाहमें आया और सन् १८५४ में उसने जापानी शोगनसे जबर्दस्ती व्यापारिक सन्धि करा ली। अनंतर उसका ही अनु-करण कर ब्रिटिशोंने भी १८६३ में जापानमें प्रवेश किया। अन्त में ई० १८६५ में ब्रिटिश, फ्रेंच, डच तथा अमेरिकन राष्ट्रोंने जापानसे पहलेकी सब सन्धियाँ स्वीकार करा लीं। इससे जापानकी अप्रतिष्ठाका कोई ठिकाना नहीं रहा। सन्

१८६६ से जापानके युवकोंने अपने देशकी उन्नति करनेके लिए कमर कसी। अच्छे-अच्छे घरोंके युवकोंने अमेरिका और यूरोपमें जाकर तथा अत्यन्त कष्ट सहन कर सब प्रकारके कलाकौशलमें—विशेषतः युद्ध-कलामें—निपुणता प्राप्त की। इसका परिणाम यह हुआ कि सिर्फ तीस सालके अन्दर जापानने अपनेसे बहुत बड़े चीन देशको पराजित कर फारमोसा द्वीपपर कब्जा जमा लिया और कोरियाको चीनसे अलग करके उसे अपने अधीन कर लिया। उस समयसे जापानकी शक्ति किस प्रकार बढ़ती गई यह बतानेकी आवश्यकता नहीं।

६४. पर जापानी क्रान्ति और रशियन क्रान्तिमें बहुत अन्तर है। जापानी रजवाड़ोंने प्रायः स्वेच्छासे ही अपने अधिकार मिक्याडोके अधीन किये और मिक्याडोने भी अपने अधिकारोंको संकुचित करके मध्यमवर्गके हाथमें अधिकार सौंप दिये। अमेरिकन तथा यूरोपियन राष्ट्रोंने जापानकी राज्य-क्रान्तिका विरोध न करके उसका अभिनन्दन किया तथा शिक्षाके संबंधमें जापानकी यथासंभव सहायता की। बोलशेविकोंकी बात इससे बिलकुल उलटी थी। रशियाके सत्ताधारी जमींदार तथा धनी लोग मित्र-राष्ट्रोंकी सहायतासे ही उनके विरुद्ध खड़े हो गये। सारा संसार उनके विरुद्ध था। इतना ही नहीं, शक्तिशाली मित्र-राष्ट्रोंने उन्हें कहींसे भी किसी प्रकारकी सहायता नहीं मिलने दी। इन सब आपत्तियोंको सहन कर बोलशेविकोंका सफल होना, इतिहासकी बड़ी अद्भुत घटना ही समझनी चाहिए। यदि बोलशेविकोंको अमेरिकन तथा यूरोपियन मजदूर वर्गकी सहानुभूति प्राप्त न हुई होती तो यह अद्भुत घटना घटित होती या नहीं इसमें सन्देह है।

रशियन क्रान्तिका प्रभाव

६५. बोलशेविकोंकी विजयका प्रभाव हिन्दुस्तानपर ही क्या, सारे संसारपर पड़ा है। उनके संबंधमें मजदूर वर्गका मन कलुषित करनेका घोर प्रयत्न पूँजी-पति अपने अधीनस्थ समाचारपत्रों द्वारा बराबर कर रहे हैं। कदाचित् इसी भयसे कि सिर्फ इतनेसे क्रान्ति न रुकेगी, पूँजीपति इटलीमें मुसोलिनीको और जर्मनीमें हिटलरको आगे ले आये। चीनमें च्यांगकाई शेक जैसे किरायेके टट्टू सेनापतिको आगे लाकर उसके द्वारा बोलशेविक क्रान्ति रोक रखनेका यूरोपियन तथा अमेरिकन पूँजीपतियोंका प्रयत्न जारी ही है। हिन्दुस्तानमें बोलशेविज्मका

नाम क्वचित् ही सुनाई देता है। तिसपर भी उसकी छायासे डरकर सर सेमुएल जैसे कंजर्वेटिवों द्वारा तैयार किये गये नये विधानमें राजे-रजवाड़े, जमींदार आदि लोगोंको सम्मिलित कर उनके द्वारा बोल्शेविज्मके विरुद्ध मजबूत किला बनवानेका काम जारी है। पर इस संबंधमें विचारशील अँग्रेजोंको स्वयं सन्देह है कि विचार-क्रान्तिके सामने यह किला कोई काम दे सकेगा या नहीं।

६६. हिन्दुस्तानका हिन्दू मध्यमवर्ग स्वतंत्रताके लिए व्याकुल हो रहा है। अहिंसा द्वारा हो या हिंसा द्वारा, यदि स्वतंत्रता मिलती हो तो वह उसे चाहिए। रोगसे पीड़ित मनुष्य इसका विचार थोड़े ही करता है कि औषधिमें पवित्र वनस्पतियाँ हैं या अपवित्र मांसादिके अर्क। वह चाहता है आरोग्य और वह जितनी जल्दी मिल सके उतना अच्छा। उसने आर्यसमाज, लोकमान्यके गणपति उत्सव और महात्मा गाँधीके अहिंसात्मक विधायक कार्यक्रमकी औषधियाँ खाकर देख लीं; कोई लाभ नहीं हुआ। ऐसी अवस्थामें उत्कंठित युवकोंके मन यदि बोल्शेविक औषधिकी ओर जायँ, तो यह बिलकुल स्वाभाविक है। सारे संसारके विरुद्ध लड़कर, अपने सरदारों और जमींदारोंको पराजितकर, यदि बोल्शेविक रशियन साम्राज्यके सारे मजदूर-वर्गको स्वतंत्र कर सके, तो उसी मार्गसे चल कर हम इस पीड़ित हिंन्द देशको क्यों नहीं स्वतंत्र कर सकते ?

६७. पिछले सत्याग्रहमें लगभग एक लाख आदमी जेल गये। अवश्य ही ये सब मध्यमवर्गके युवक थे। वहाँ यद्यपि काम करना पड़ता था तथापि इस युवकमंडलीको वाचन और विचार करनेका बहुत अवकाश मिला और उनमेंसे बहुतोंने कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगल्स आदिके वे ग्रंथ पढ़ना आरंभ किया, जिनके कारण बोल्शेविज्मका जन्म हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि १९३४ के मई मासमें पटनेमें इन लोगोंकी सभा हुई और इन्होंने कांग्रेस समाजवादी दल नामका एक नया दल स्थापित किया। तबसे इस दलकी बराबर प्रगति हो रही है। हिन्दुस्तानमें कम्यूनिस्ट दल गैरकानूनी करार दिया गया है। इस कारण वह दल प्रकाश्यरूपसे अपने मतका प्रचार नहीं कर पाता। गुप्त रूपसे ये लोग क्या करते हैं, यह केवल खुफिया पुलिस जानती है। अतः हमें जो कुछ जानकारी है, वह इस नये समाजवादी दलकी। इसका यद्यपि मास्कोसे संबंध नहीं है तथापि इसपर रूसी क्रान्तिका बहुत प्रभाव पड़ा है। अधिक क्या, यदि

रूसी क्रान्ति न हुई होती, तो इस दलके अधिकतर नेता मार्क्सकी ओर झाँकते-तक नहीं।

६८. पाश्चात्योंकी संस्कृतिका उदय किस प्रकार हुआ, उसने हिन्दुस्तानमें किस तरह प्रवेश किया और हिन्दू समाजपर उसका क्या प्रभाव पड़ा, इसका संक्षिप्त विवेचन किया जा चुका है। उससे दिखाई देगा कि पाश्चात्योंके सहवाससे उत्पन्न हुए देशाभिमानके कारण पौराणिक संस्कृति लुप्त होती जा रही है। सब लोग यह स्वीकार करने लगे कि किसी भी देश-कार्यके लिए संप्रदाय या किसी भी देवताके उत्सवकी आवश्यकता नहीं। पर इस देशाभिमानका सबसे बड़ा शत्रु मुसलमानी अभिमान है। इसे दूसरा एक भय यह है कि यदि कभी हिन्दुस्तान स्वतन्त्र हुआ तो कहीं बंगाली हिन्दुओं, महाराष्ट्रीय हिन्दुओं, गुजराती हिन्दुओं, राजपूत हिन्दुओं आदिके अनेक अभिमान जागृत होकर एक-दूसरेसे भिड़ न जायँ और पुनः इंग्लिश अथवा ऐसे ही किसी दूसरे बलवान् राष्ट्रकी शरणमें जाकर हिन्दुस्तानमें शान्ति स्थापित करनेकी नौबत न आ जाय। बंगाली और बिहारी, मराठी और गुजराती, आँध्र और तामिल आदि लोगोंमें आजकल जो झगड़ा चल रहा है उसे देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि यह भय अकारण है।

६९. इसपर समाजवादियोंका कहना है कि "यह राष्ट्रीयताका काँटा निकालनेके लिए ही तो हम प्रयत्न कर रहे हैं। हमारे लिए बंगाली क्या और बिहारी क्या, अथवा महाराष्ट्रीय क्या और गुजराती क्या, सारा श्रमजीवी मजदूर वर्ग समान ही है। हम इस मजदूर वर्गके ही बलपर स्वतन्त्रताकी इमारत खड़ी करना चाहते हैं। रूसी साम्राज्यमें अनेक देश और अनेक भाषाएँ हैं। उनका संगठन यदि समाजवादके सिद्धान्तपर किया जा सकता है, तो हिन्दुस्तानमें वैसा क्यों नहीं किया जा सकता?" समाजवादियोंका यह तर्क ठीक जान पड़ता है। पर विचारशील लोग इस सम्बन्धमें संदिग्ध हैं कि जातिभेद और वर्ग-भेदसे ग्रसित इस देशमें उसका कहाँतक प्रचार होगा।

७०. देशाभिमान और समाजवादका एक सुपरिणाम हमें दिखाई दे रहा है और वह यह है कि उनके कारण हम पौराणिक संस्कृतिके तमोयुगसे बाहर निकल रहे हैं, सरल मार्गसे विचार करनेकी हमें आदत लग रही है, सांप्रदायिक पथहीन प्रदेशमें घुसनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। कमसे कम इतनेके लिए तो हमें पाश्चात्योंका कृतज्ञ होना चाहिए।

५—संस्कृति और अहिंसा

वन्य संस्कृति

१. अहिंसाका मानवीय संस्कृतिसे निकट संबंध है। ज्यों-ज्यों अहिंसाका विकास होता जाता है, त्यों-त्यों संस्कृति बढ़ती जाती है। माँ-बापमें अपनी संतति के संबंधमें अहिंसक बुद्धि न होती, तो मनुष्य समाज अथवा पशुओं आदिके समाजोंकी वृद्धि ही न हुई होती। इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है कि प्राथमिक वन्यावस्थामें मानवी माता-पिताओंको अपने बच्चोंके लालन-पालनके लिए कितना कष्टसहन करना पड़ता होगा। ऐसा कहा जा सकता है कि मनुष्य जब अपने तथा अपनी संततिके बचावके लिए एक-दूसरेपर विश्वास रखकर एक नेताके नेतृत्वमें एकत्र होकर शिकार आदि करनेके लिए प्रवृत्त हुए तब कहीं जाकर उनकी वन्य-संस्कृतिका आरम्भ हुआ।

२. ऐसे किसी वन्य-समूहके सम्बन्धमें विचार किया जाय तो दिखाई देगा कि अपने नेतापर उनका पूर्ण विश्वास होता है और उसका किया हुआ न्याय सबको पसन्द आता है। अपनी टोलीके बीमार या जख्मी लोगोंकी सहायता करनेमें वे तत्पर रहते हैं। थोड़ेमें कहना हो तो यों कहा जा सकता है कि उनकी अहिंसात्मक बुद्धि उनकी टोलीतक ही परिमित रहती है। हाथमें आनेपर दूसरी टोलीके लोगोंको वे बालबच्चों सहित मार डालते हैं। उन्हें यदि जीवित रखा जाय, तो उससे इस टोलीका कोई लाभ नहीं होता। उलटे अपना शिकार उन्हें खानेको देकर स्वयं भूखे मरनेकी नौबत आ सकती है। दूसरी टोलीके लोगोंको मारकर उनका खातमा कर देनेसे उनके प्रदेशका शिकार भी इन लोगोंके कब्जेमें आ जाता है और इनके शिकार-साम्राज्यकी अभिवृद्धि होती है। वन्यावस्थाकी प्रायः सब टोलियोंमें ऐसा हुआ और अनेक टोलियाँ कालके गालमें चली गईं। उनके इतिहासका स्मरण होनेपर रोंगटे खड़े हो आते हैं।

साम्राज्य और उसके गुणदोष

३. पर जब ऐसी कुछ टोलियोंके लोगोंको अन्नपर निर्वाह करना आ गया और अन्न उपजानेके साधन मिल गये, तब यह स्थिति एकदम बदल गई। अब दूसरी टोलियोंके, कमसे कम बलवान्, मनुष्योंको मार डालनेकी आवश्यकता नहीं रह गई। उन्हें पकड़कर खेतीके काममें लगा देनेसे इस टोलीको बड़ा लाभ होने लगा। वे परिश्रम करें और ये उनकी संपत्तिका उपभोग कर राज्यशासन अथवा धर्मसंबंधी विचार करें। बाबिलोनियामें प्रथमतः जिन राज्योंका उदय हुआ वे सुमेरियन लोगोंकी बुद्धिमान् टोलियों द्वारा स्थापित किये हुए थे। वहाँ इस पद्धतिका आरम्भ हुआ कि एक टोली कुछ प्रदेशपर अधिकार जमाकर वहाँ एक नगर स्थापित करती और अपनेसे कम दर्जेके लोगोंको दास बनाकर उनसे सारी मेहनत करा लेती। उच्चवर्गके शारीरिक परिश्रमसे मुक्त हो जानेके कारण उसे शिल्पकला, लेखनकला, युद्धकला, धातु-संशोधन-कला आदिका विकास करनेका पूरा अवसर मिला और ये नगर-राज्य उत्तरोत्तर बलवान् होते गये।

४. पर पड़ोसके नगरोंसे टक्कर लेनेके लिए उन्हें सदा तैयार रहना पड़ता था। इस कारण उनमें क्षत्रियोंका वर्ग उत्पन्न हुआ। इस विश्वासके कारण कि देवता की कृपासे अपने नगरकी रक्षा करना संभव होता है, देवताकी प्रार्थना करनेके लिए एक पृथक् पुजारी-वर्ग या ब्राह्मण वर्ग बनाना पड़ा। क्षत्रियोंको तो युद्धकी कवायद आदि सीखनेमें समय लगाना पड़ता था, पर ब्राह्मणोंको देवताकी पूजा करनेके बाद शेष कोई काम नहीं रहता था, इसलिए उन्हें लेखन-कला तथा ज्योतिषका विकास करनेका पूरा अवसर मिला।

५. दो नगर समीप बसे, उनके प्रदेशोंकी सीमाएँ एक-दूसरीसे जा भिड़ीं। तब सीमाके सम्बन्धमें झगड़े खड़े होने लगे और कभी-कभी उनका निपटारा युद्ध द्वारा कर लेना आवश्यक हो गया। इस प्रकार क्षत्रियोंकी वृद्धि होने लगी। अधिक दिनोंतक खाली बैठना उनके लिए असह्य होने लगा। कोई-न-कोई बहाना ढूँढ़कर दूसरे नगरपर आक्रमण कर वहाँके क्षत्रियोंको अपना दास बनाना और वह सारा प्रदेश अपने नगरमें सम्मिलित कर लेना आरम्भ हुआ और इससे साम्राज्य-संस्थाकी उत्पत्ति हुई। छोटे-मोटे नगरोंमें बराबर लड़ाइयाँ हुआ करती

थीं। उन्हें मिटाकर सम्राट् द्वारा सर्वत्र एक-तंत्र राज्य स्थापित किये जानेपर लोगोंको कितना सुख हुआ होगा, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। बाबिलोनियामें विभिन्न नगरोंके विभिन्न देवता थे। एक नगर सूर्यकी तो दूसरा चन्द्रकी उपासना करता। जब साम्राज्य स्थापित हुआ तब इन देवताओंके साथ-साथ सम्राट्की भी पूजा होने लगी।

६. जो बातें बाबिलोनियामें हुईं वे ही सिन्धु प्रदेशमें भी हुईं। अनुमान है कि वहाँ छोटे-छोटे नगर बसे हुए थे और उनमें भयङ्कर वैमनस्य था। पहले भागमें दिखाया ही जा चुका है कि इन्द्रने इन नगरोंको नष्टकर एक-तन्त्र राज्य स्थापित किया और इसलिए उसका पुरन्दर (नगर नष्ट करनेवाला) नाम पड़ा तथा अन्य देवताओंकी भाँति उसकी भी पूजा होने लगी।[1] ऐसी अवस्थामें यदि यह कहा जाय तो अनुचित न होगा कि इन्द्रने कितनी ही क्रूरता क्यों न की हो, उसके साम्राज्यके कारण अहिंसाका अधिक विकास हुआ। बारहों महीने विभिन्न नगरोंमें होनेवाली लड़ाइयाँ बन्द हुईं और लोग सुखपूर्वक आसपासके प्रदेशोंमें घूम फिर सकने लगे। ऐसी स्थितिमें यदि लोग ऐसे सार्वभौम राजाको देवता मानकर उसकी पूजा करने लगे हों, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

७. सार्वभौम राज्य ही क्यों न हो, उसका भी निर्भय रहना सम्भव नहीं। कोई माण्डलिक धीरे-धीरे अपना अधिकार बढ़ाकर स्वयं ही सार्वभौम बन सकता है। सम्राट्की राज्य-सीमाके बाहर जो पिछड़े हुए लोग रहते हैं, उनमें इन सुधरे हुए लोगोंकी देखादेखी एकता स्थापित होती है और शस्त्रास्त्रोंकी अभिवृद्धि होती है। साम्राज्यकी छत्रच्छायामें रहनेवाले क्षत्रिय संपत्तिशाली हो जाते हैं और ऐश-आरामके कारण निरुपयोगी बन जाते हैं। ऐसी परिस्थितिमें सीमान्तप्रदेशकी उदयोन्मुख जंगली टोलियोंके लिए साम्राज्यका विध्वंस करना बिलकुल सहज हो जाता है और नया साम्राज्य स्थापित होता है। इससे सदा सुधार ही होता हो ऐसा नहीं; कभी-कभी अवनति भी होती है। पर प्रायः नया साम्राज्य स्थापित करनेवाले पिछड़े हुए लोग सुधरे हुए लोगोंसे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण करते हैं। बाबिलोनियामें हजारों वर्षतक ऐसा होता रहा।

---

१. बि० १—४७ और ५८ देखिए।

८. प्रथमतः दक्षिण बाबिलोनियामें सुमेरियनोंके राज्य उदित हुए। ऐशो-आरामके कारण उनकी अवनति होते समय पिछड़े हुए अक्केडियन अथवा सेमेटिक लोगोंने उन्हें जीतकर अपना साम्राज्य स्थापित किया। इन्होंने सुमेरियनोंकी संस्कृति ज्योंकी त्यों अपना ली, केवल उनकी भाषा अलग रही। यही हाल केशी लोगोंका हुआ। ये केवल घुड़सवारीमें कुशल थे, पर अन्य बातोंमें बाबिलोनियनोंसे बहुत ही पिछड़े हुए थे। उन्होंने बाबिलोनियामें साम्राज्य स्थापित करनेके कुछ काल बाद वहाँ की संस्कृति ही नहीं, भाषा भी अपना ली। यही हाल रोमनोंका हुआ। ग्रीस देशको जीतकर उन्होंने ग्रीक लोगोंको अपना दास बनाया, पर ये दास उनके गुरु बन बैठे!

९. हमारे देशमें शकोंका भी यही हाल हुआ। उनका केवल महादेव बच रहा, अन्य सब बातोंमें उन्होंने हिन्दुओंकी संस्कृति अपना ली। शकोंके अतिरिक्त हूण, गुर्जर, मालव, आदि जंगली लोगोंकी टोलियोंने इस देशमें प्रवेशकर अपने राज्य स्थापित किये। पर उनके कुछ आचारोंको छोड़कर शेष सब आचार और देवता भी नष्ट हो गये। उन्होंने भारतीय संस्कृति पूर्ण रूपसे अपना ली। हूणों और गुप्त राजाओंमें गहरी लड़ाइयाँ हुईं। हूणोंने उत्तर हिन्दुस्तानमें बहुत अत्याचार किये। पर जब ये लड़ाइयाँ समाप्त हुईं और वे यहाँ स्थायीरूपसे बस गये, तब हूण[१] उपनाम या 'अल्ल'के अतिरिक्त उनमें दूसरा कोई परायापन न रह गया।

१०. पर जब ये पिछड़े हुए लोग उन्नत लोगोंकी संस्कृतिको अपनाना नहीं चाहते, या उनका कोई नया ही धर्मपंथ होता है, तब अवश्य विजित लोगोंपर भयंकर सङ्कट आता है। पहले प्रकारके लोग चंगेज खाँ और उसके वंशज मोगल थे। इन लोगोंने मध्य एशिया और पूर्व यूरोपपर कब्जा किया। पर मुसलमानों अथवा ईसाइयोंकी संस्कृति उन्होंने स्वीकार नहीं की। इस कारण समरकन्द, बुखारा आदि मध्य एशियाके राज्योंकी और रशियाकी अत्यन्त अवनति हुई। इन प्रदेशोंकी संस्कृति प्रायः नष्ट ही हो गई।

११. दूसरे प्रकार के लोगोंका उदाहरण मुसलमानोंका है। वे जब मुहम्मद-प्रणीत धर्मको लेकर दूसरे देशोंमें घुसते, तो वहाँकी संस्कृतिके सम्बन्धमें उनके

१. पंजाबके कुछ लोग अब भी हूण उपनाम धारण करते हैं।

मनमें रत्तीभर भी आदर न रहता। उन्होंने मिस्र और ईरानकी उत्कृष्ट संस्कृति नष्ट कर डाली। हिन्दुस्तानकी संस्कृतिको यद्यपि वे पूर्ण रूपसे नष्ट न कर सके, तो भी उनके राज्य-कालमें वह मृतप्राय बनी रही; हिन्दुओंके कष्टोंकी कोई सीमा नहीं रही।

१२. साम्राज्यका दूसरा दोष यह है कि उसकी छत्रच्छायामें रहनेवाले लोग निर्बुद्धि हो जाते हैं। उनकी यह निश्चित धारणा हो जाती है कि राजाके बिना काम ही नहीं चल सकता। राजा परमेश्वरका अवतार समझा जाता है; वह जो कुछ भी करे उसे सहन कर उसको सन्तुष्ट रखना पड़ता है। उसका देवता महादेव हो, तो महादेवकी और यदि वासुदेव हो तो वासुदेवकी पूजा कर बड़प्पन प्राप्त करनेके लिए ब्राह्मणतक उद्यत हो जाते हैं। इस प्रकार बुद्धिमान्द्य उत्पन्न हो जानेपर यदि मुसलमानों जैसे शत्रु आ जायँ, तो ये लोग बिलकुल किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं।

१३. साम्राज्यका सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह होता है कि बहुसंख्यक जनताको दासतामें रहना पड़ता है। साम्राज्यके कारण यह परिस्थिति उत्पन्न होती है कि राजा अपनी इच्छानुसार चाहे जिसको देवता मानता है, उसके सरदार उस देवताकी पूजा करने लगते हैं, पुजारी (ब्राह्मण अथवा मौलवी आदि) दक्षिणा प्राप्त कर बेकार समय बिताते हैं, और शेष लोग इन मुफ्तखोर ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी दासतामें मेहनत-मजदूरी करते हुए किसी तरह दिन बिताते रहते हैं; और इस स्थितिके कारण दलित श्रमिक लोग स्वदेश तथा अपने भविष्यके सम्बन्ध-में बिलकुल उदासीन बन जाते हैं। उनकी यह धारणा हो जाती है कि स्वराज्य हो तो क्या और पर-राज्य हो तो क्या, किसी भी दशामें हमारे भाग्यकी दासता नहीं छूटेगी। बाहरके संगठित आक्रमण करनेवाले विदेशी लोग ऐसे साम्राज्यको बड़ी सरलतासे जीत लेनेमें समर्थ होते हैं।

व्यापारिक क्रान्तिके गुण-दोष

१४. व्यापारिक क्रान्ति होकर जब चारों ओर मध्यमवर्गका प्रभुत्व स्थापित होने लगा, तब इस दलित श्रमिकवर्गके लोगोंको कुछ सन्तोष हुआ। व्यापारके

लिए शान्तिकी आवश्यकता थी। इससे बार-बार उपद्रव होना बन्द हुआ, अग्निकाण्ड रुक गये और कृषक तथा शिल्पी वर्गोंको अपना उद्योग निर्विघ्न रूपसे करनेका अवसर मिला। इसके अतिरिक्त उन वर्गोंके बुद्धिमान् व्यक्तियोंके लिए स्वयं पूँजीपति बनना सम्भव हो गया। यह कितना बड़ा परिवर्तन था। जिन देशोंमें व्यापारिक क्रान्ति हुई, केवल उन्हीं देशोंके लोगोंको नहीं, हिन्दुस्तान जैसे विजित देशके लोगोंको भी यह परिवर्तन बहुत अनुकूल हुआ। आबाल-वृद्ध जो यह कहने लगे कि 'अंग्रेजोंके राज्यमें आदमी हथेलीपर सोना रखकर काशीसे रामेश्वरतक जा सकता है' इसका कारण भी यही है। ब्राह्म-समाजके नेता तो इस परिवर्तनको ईश्वरी व्यवस्था (Divine Dispensation) तक कहने लगे।

१५. पर लोगोंके इस भ्रमके दूर होनेमें अधिक समय नहीं लगा। सौ वर्षके अन्दर ही इस नयी प्रणालीके दोष सर्वसाधारणको मालूम होने लगे। एक ही नगरके भिन्न केन्द्रोंमें यह परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि एक केन्द्रमें जहाँ कुछ लोग ऐश-आराममें पड़े हुए हैं, वहाँ दूसरे केन्द्रमें ऐसे लोग हैं जिन्हें किसी तरह पेट भरनेके लिए सारा दिन परिश्रम करना पड़ता है। पूर्व युगमें किसानवर्गको कमसे कम खुली हवा तो मिलती थी, पर इन नये गुलामोंको वह मिलना भी संभव नहीं रहा। इस समय हम बंबई जैसे शहरोंमें जाकर मजदूरोंकी बस्तियाँ देखें, तो इसकी ठीक-ठीक कल्पना हमें हो जायगी कि पचास-साठ वर्ष पूर्व इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि देशोंमें और पिछली क्रान्तिके पूर्व रूसमें मजदूरोंकी कैसी स्थिति थी।

१६. पूर्व कालमें राजा लोग जुआ खेलकर अपनी संपत्ति उड़ाया करते थे। पर उनके साथ जुआ खेलनेवाले उनके ही वर्गके सरदार आदि थोड़ेसे लोग होते थे। किन्तु इस व्यापारिक युगमें सट्टा और घुड़दौड़के रूपमें चाहे जो जुआ खेल सकता है। यह सच है कि धर्मराजने जिस प्रकार द्रौपदीको दाँव-पर लगा दिया था उस प्रकार इस जुएमें स्त्रियाँ दाँवपर नहीं लगाई जा सकतीं, पर उन्हें कभी-कभी द्रौपदीसे भी अधिक कष्ट भोगने पड़ते हैं। इसकी तो कल्पना ही कर लेना चाहिए कि किसी मजदूरकी स्त्रीपर उस समय क्या

बीतती होगी, जब उसका पति अपनी महीनेभरकी मजदूरी घुड़दौड़में गँवा आया हो और इस कारण महाजन पठान उसके दरवाजेपर धरना देकर बैठा हो ! इस प्रकार व्यापारिक युगने जुआ खेलनेके भयंकर व्यसनको सार्वजनिक बना दिया है।

१७. यूरोपके मजदूरोंको कमसे कम बेकारीके भत्तेके रूपमें किसी तरह पेट भरने लायक वेतन मिल भी जाता है; पर पिछड़े हुए तथा विजित देशोंके लोगोंकी इस पूँजीवादी शासनमें जो दुर्दशा होती है उसकी तो सीमा ही नहीं है। साधारण अकाल पड़नेपर भी लाखों आदमी दाने-दानेके लिए मोहताज होकर मरते हैं और बहुत अच्छी फसलें होनेपर भी बहुसंख्यक लोगोंको आधा पेट खाकर ही रहना पड़ता है। मनमें यह बात आने लगती है कि इस प्रकार वर्षों दारिद्रयका कष्ट भोगते हुए जीवित रहनेकी अपेक्षा वे लोग मर जायँ तो अच्छा। और मानो इसीलिए उनपर बारंबार इन्फ्लुएँजा, हैजा, प्लेग आदि महामारियोंकी कृपा होती है। पर इनसे भी यह प्रश्न हल नहीं होता। बूढ़ोंकी अपेक्षा हट्टे-कट्टे जवान ही इन महामारियोंके शिकार होते हैं और बचे हुए लोग पहलेसे भी अधिक विकट परिस्थितिमें पड़ जाते हैं।

१८. पूँजीवादी राष्ट्र यद्यपि पिछड़े हुए राष्ट्रोंकी अपेक्षा अधिक संपन्न हैं, तथापि उनपर भी एक बड़ा संकट आया हुआ दिखाई देता है। इन राष्ट्रोंमें इंग्लैंड और फ्रांसने यथासंभव अधिक प्रदेशोंपर कब्जा कर रखा है। जर्मनीके हिस्सेमें अफ्रीकाका थोड़ा-सा प्रदेश आया था पर जर्मनीकी जनसंख्या बराबर बढ़ती ही जा रही थी। जापानकी बढ़ती हुई शक्ति और यूरोपियन राष्ट्रोंकी आपसकी फूटके कारण जर्मनी सारे चीन देशपर कब्जा न कर सका। फलतः जर्मनीकी दृष्टि फ्रांस और इंग्लैंडके उपनिवेशोंपर गई और उसीके कारण पिछले महासमरकी नौबत आई। आज जापान एकके बाद एक चीनका टुकड़ा नोचता जा रहा है और मुसोलिनी अबीसीनियाके सुधारके लिए तैयार हो गया है ! इस लूट-खसोटके कारण पूँजीवादी राष्ट्रोंमें प्रेम उत्पन्न होना असंभव हो गया है और इस कारण सब राष्ट्रोंको युद्धके लिए पूरी तैयारी कर रखनी पड़ रही है। कब कहाँ युद्धकी आग सुलगेगी इसका कोई ठिकाना नहीं रहा। इधर दूसरे

राष्ट्रोंसे युद्ध आरम्भ होनेका भय है और उधर निम्नवर्गके लोगोंको क्रान्ति करनेका भय है। इन दो भयोंकी कैंचीमें ये राष्ट्र आ पड़े हैं। भयभीत राष्ट्र अथवा मनुष्योंको सुख कहाँ?

१९. बोल्शेविकोंको क्रान्तिका भय नहीं है। कारण बोल्शेविक राज्य-व्यवस्थासे रूसके दलितवर्गोंको लाभ बहुत हुआ है। इस समय यदि कहीं बेकारी नहीं है तो रूसमें, अन्य सब देश न्यूनाधिक प्रमाणमें बेकारीसे पीड़ित हैं; और यह बात रशियन मजदूर जानते हैं। तथापि रूस भी भयसे मुक्त नहीं है। पूर्वकी ओर जापानकी दृष्टि बोल्शेविकोंके देशपर है और पश्चिममें तो सारा पूँजीवादी जगत् ही उनके विरुद्ध है। इस परिस्थितिके कारण बोल्शेविक भी सुख-सुविधाके साधनोंका निर्माण करनेके बजाय युद्धके साधन—विशेषतः वायुयान—तेजीसे बढ़ा रहे हैं। रेलगाड़ियाँ ठीक तरहसे न चलनेके कारण रशियाकी मिलोंको समयपर माल नहीं मिलता, खानोंमें पर्याप्त यंत्र-सामग्री न होनेसे कोयला निकालना स्थगित रखना पड़ता है। पर वायुयान तथा दूसरी युद्ध-सामग्री तैयार करनेका काम तेजीसे हो रहा है।

२०. युद्धके इस भावी संकटसे मुक्त होनेकी प्रायः बिलकुल आशा नहीं रह गई है। इतना ही हो रहा है कि राजनीतिज्ञ आजकी बला कलपर टाल रहे हैं। शान्तिपर्वमें एक आदमीकी कथा है। वह एक भयावने जंगलमें जा फँसा। उसमेंसे बाहर निकलनेका उसे मार्ग नहीं मिलता था। सिंह-व्याघ्रादि हिंस्र पशुओंके भयसे वह इधर-उधर दौड़ने लगा। उस जंगलमें लताओं और घाससे ढँका एक बड़ा कुआँ था। दौड़ते-दौड़ते वह आदमी उस कुएँमें जा गिरा और लताओंमें फँसकर बीचमें लटक गया। उस कुएँके किनारे लगे हुए एक पेड़पर शहदकी मक्खियोंका एक छत्ता था। उसमेंसे शहदकी कुछ बूँदें टपकने लगीं और यह भला मानस उन बूँदोंको चाटने लगा।[1] यह उपमा कुछ अंशोंमें यूरोपीय पूँजीपतियोंपर लागू होती है। पूँजीवादसे उत्पन्न हुई लताओंके जालमें वे लटक रहे हैं। एक ओर दूसरे महासमरसे पूँजीवादकी लताओंके टूटनेका भय है और दूसरी

१. कुम्भकोण संस्करण, अ० २०५। हमने यहाँ मूल उपमामें परिवर्तन किया है।

और यह भय है कि मिलरूपी छत्तोंको मजदूररूपी मधुमक्खियाँ खा न जायँ। इन दो भयोंके बीच पड़े रहनेपर भी वे इन छत्तोंसे गिरनेवाली लाभकी कुछ बूँदें चाट ही रहे हैं। इन संकटोंसे बचनेका उपाय उन्हें बिलकुल नहीं सूझ रहा है!

दुःखकी जड़ तृष्णा

२१. शरीरके लिए अत्यावश्यक वस्तुओंके उपभोग करनेको तृष्णा नहीं कहते। जब इन उपभोग्य वस्तुओंकी लालसा बराबर बढ़ती जाती है, तब उसे तृष्णा कहते हैं। यह दुर्गुण मनुष्येतर प्राणियोंमें भी दिखाई देता है। किसी कुत्तेको भरपूर खानेको दिया जाय और यदि उससे वह सब खाया न जाय, तो वह वहीं बैठा रहता है और दूसरे कुत्तोंको समीप नहीं आने देता। मनुष्य-जातिमें इस तृष्णाकी वृद्धि बहुत जोरसे हुआ करती है। जिसे रोज दो आने न मिलते थे उसे यदि प्रतिदिन पाँच रुपये मिलने लगें, तो यह बात नहीं कि उससे उसको सन्तोष हो जायगा। वह बराबर इसका प्रयत्न करता रहेगा कि उसे कम-से कम दस रुपये रोज मिलें, और जितना उसे लाभ होगा उससे दूना उसका लोभ बढ़ता जायगा।

२२. बौद्ध ग्रन्थोंमें यह तृष्णा तीन प्रकारकी बताई गई है:—काम-तृष्णा अर्थात् उपभोग्य वस्तुओंकी तृष्णा, भवतृष्णा अर्थात् परलोकसंबंधी तृष्णा और विभव-तृष्णा अर्थात् विनाश प्राप्त करनेकी तृष्णा। मनुष्यको भरपूर उपभोग्य वस्तुएँ मिलनेपर भी उनसे उसे सन्तोष नहीं होता। इस लिए कि मरनेके बाद भी चिरकालतक उसे स्वर्गीय संपत्तिका उपभोग करनेको मिले, वह श्रमण ब्राह्मणोंको दानादि देता है, यज्ञ-याग करता है, व्रत-उपवास करता है तथा सर्वसंग परित्याग कर तपश्चर्या करनेके लिए भी प्रवृत्त होता है। विभव-तृष्णाका प्रचार अन्य दो तृष्णाओंके बराबर भले ही न हो, पर उसका प्रभाव कम नहीं है। 'आप मरे, जग डूबा' माननेवाले लोग सर्वत्र मौजूद हैं और उन्हें इस तृष्णाके कारण अपना और दूसरेका नाश करनेमें कोई हिच-किचाहट नहीं होती।

२३. कामतृष्णा अथवा विषय-वासनाके कारण कितने अनर्थ होते हैं, इसके विस्तृत वर्णन त्रिपिटक साहित्यमें भरे पड़े हैं। उनमेंसे कुछको यहाँ उद्धृत

करना उचित जान पड़ता है। मज्झिमनिकायके महादुक्खक्खन्ध सुत्तमें भिक्षुओं-को सम्बोधित कर भगवान् कहते हैं—"भिक्षुओ, विषयोपभोगमें दोष क्या है? कोई होनहार युवक गुमाश्तागिरी करके, व्यापार करके या सरकारी नौकरी करके अपना निर्वाह करता है। इस उद्यमके कारण उसको अत्यन्त कष्ट होता है। तिसपर भी वह उपभोग्य वस्तु प्राप्त करनेके लिए दिन-रात मेहनत करता है और उससे यदि उन वस्तुओंकी प्राप्ति न हुई तो शोकाकुल होकर इस विचारसे मूढ़ बनता है कि अपना प्रयत्न व्यर्थ हुआ। यदि उसका उद्यम सफल हुआ और इच्छित वस्तुएँ उसे मिल गईं तो वह इसलिए उनकी रक्षा करनेमें दत्तचित्त रहता है कि राजा और चोर उन्हें लूट न लें, आगसे वे जल न जायँ, पानीमें बह न जायँ या अप्रिय सम्बन्धियोंके अधिकारमें न चली जायँ; और इस कारण उसके मनको अत्यन्त व्यग्रता रहती है। पर इतनी सतर्कता रखते हुए भी राजा लोग या डाकू उसकी सम्पत्तिको लूट लेते हैं, आग या पानीसे उसका नाश होता है अथवा अप्रिय सम्बन्धी उसे छीन लेते हैं। ऐसे अवसरपर उसे अत्यन्त दुःख होता है

२४. "और हे भिक्षुओ, इन विषयोंके लिए ही राजा राजासे, क्षत्रिय क्षत्रियसे, ब्राह्मण ब्राह्मणसे और वैश्य वैश्यसे, माँ बेटेसे और बेटा माँसे, पिता पुत्रसे और पुत्र पितासे, भाई बहिनसे और बहिन भाईसे तथा मित्र मित्रसे झगड़ा करते हैं। उनके झगड़ेका परिणाम कभी कभी यह होता है कि वे हाथ, पत्थर, डण्डे या शस्त्रोंसे एक-दूसरेपर प्रहार करते हैं और उसके फलस्वरूप मरते या मृत्युके समान कष्ट भोगते हैं।...

२५. "भिक्षुओ, कामोपभोगोंकी आसक्ति छोड़ देनेसे ही मनुष्य उनसे मुक्त होता है। (कामोपभोगोंका केवल बाह्य त्याग करनेपर उनसे मुक्ति मिल जाती हो, सो बात नहीं है।)"

२६. दूसरा एक महत्त्वपूर्ण सुत्त सुत्तनिपातमें है जिसे 'कामसुत्त' कहते हैं। वह बहुत प्राचीन है और महानिद्देसमें उसपर विस्तृत टीका मिलती है। इसलिए वह साराका सारा यहाँ दिया जाता है।

कामं कामयमानस्स तस्स चे तं समिज्झति।
अद्धा पीतिमनो होति लद्धा मच्चो यदिच्छति॥ १॥

तस्स चे कामयानस्स छन्दजातस्स जन्तुनो ।
ते कामा परिहायन्ति सल्लविद्धो व रुप्पति ॥ २ ॥
यो कामे परिवज्जेति सप्पस्सेव पदा सिरो ।
सोमं विसत्तिकं लोके सतो समतिवत्तति ॥ ३ ॥
खेत्तं वत्थुं हिरञ्ञं च गवस्सं दासपोरिसं ।
थियो बन्धू पुथू कामे यो नरो अनुगिज्झति ॥ ४ ॥
अबला नं बलीयन्ति मद्दन्ते नं परिस्सया ।
ततो नं दुक्खमन्वेति नावं भिन्नमिवोदकं ॥ ५ ॥
तस्मा जन्तु सदा सतो कामानि परिवज्जये ।
ते पहाय तरे ओघं नावं सित्वा व पारगू ति ॥ ६ ॥

(विषयोंकी इच्छा करनेवालेकी यदि वह इच्छा पूरी हो जाय तो इच्छित वस्तुकी प्राप्तिके कारण उसे सचमुच आनन्द होता है ॥ १ ॥ पर यदि विषयोपभोगोंमें उस प्राणीकी वासना दृढ़मूल हो जाय और वे उपभोग्य वस्तुएँ नष्ट हो जायँ, तो वह बाणविद्धकी भाँति दुःख पाता है ॥ २ ॥ जिस प्रकार हम सर्पमुखसे अपना पैर दूर रखते हैं उसी प्रकार जो दूसरे ही कामोपभोगोंको वर्ज्य करता है, वह स्मृतिमान् इहलोकमें तृष्णाको जीतता है ॥ ३ ॥ जो मनुष्य खेत, बाग, धन, गाय और घोड़े, दास और नौकर, स्त्री और बन्धु जैसे अनेक कामोपभोगोंकी लालसा रखता है उसके अबल प्रतिस्पर्धी सबल होते हैं और उसपर अनेक विघ्न पड़ते हैं। इससे फूटी हुई नावमें पानीकी तरह उसके अन्तःकरणमें दुःख प्रवेश करता है ॥ ४—५ ॥ अतः प्राणीको चाहिए कि सदा सावधानीसे कामोपभोगोंको वर्जित करे। जिस प्रकार नावमें भरा पानी निकालकर पार जाते हैं, उसी प्रकार उसको चाहिए कि कामोपभोगोंको छोड़कर नदीके पार निकल जाय ॥ ६ ॥)

२७. मनुष्यके हृदयमें जिस समय तृष्णाके अंकुर फूटने लगते हैं उस समय वे बहुत सुन्दर दिखाई देते हैं ; पर तृष्णाका जंगल बढ़कर जब वह उसके अन्तःकरणको ग्रसित करता है तब उस मनुष्यके जीवनका समूल नाश होता है। मज्झिमनिकायके चूळधम्मसमादान सुत्तमें इस सम्बन्धमें एक उत्कृष्ट उपमा

मिलती है। वह इस प्रकार है—"ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें मालुवा[1] लतामें फल लगे और एक फल फूटकर उसका बीज एक शाल वृक्षके नीचे गिरा। उस शाल-वृक्षपर रहनेवाले देव[2] भयभीत हुए। तब उसके आप्त-मित्र वनदेवताओंने एकत्र होकर कहा कि 'तुम डरो नहीं। कदाचित् इस बीजको मोर या हिरन खा जायँ, अग्नि जला दे, वनरक्षक बढ़ने न दें, दीमक खा जाय या यह पोला ही निकले।'

२८. "पर उस बीजको भी हानि न पहुँचनेके कारण वर्षाऋतुमें उसमें अंकुर फूटा और उस तरुण, मृदु तथा कोमल लताने उस शाल वृक्षका आलिंगन किया। उस समय शाल वृक्षपर रहनेवाले देवताने मनमें सोचा कि 'मेरे आप्त-मित्रोंने मुझे इतना भय क्यों दिखाया? मुझे तो इस तरुण लताका स्पर्श सुखकर जान पड़ता है। पर धीरे-धीरे मालुवा लता बढ़ती गई, उसने सारे वृक्षको वेष्टित किया और उसकी बड़ी-बड़ी डालोंमें घुसकर उन्हें गिरा दिया। तब वृक्षदेवताने मन-ही-मन कहा—'हाय! मेरे आप्त-मित्रोंको यही भय लगता था, जिसके कारण आज मैं अत्यन्त दुखदाई वेदनाका अनुभव कर रहा हूँ।"

२९. तृष्णासे उत्पन्न होनेवाली कार्यकारणपरंपराका पर्यवसान किस प्रकार अत्यन्त हानिकारक बातोंमें होता है, इसका वर्णन दीघनिकायके महानिदान सुत्तमें किया गया है। वह इस प्रकार है—

"इति खो पनेतं आनन्द वेदनं पटिच्च तण्हं, तण्हा पटिच्च परियेसना, परियेसनं पटिच्च लाभो, लाभं पटिच्च विनिच्छयो, विनिच्छयं पटिच्च छन्दरागो, छन्दरागं पटिच्च अज्झोसानं, अज्झोसानं पटिच्च परिग्गहो, परिग्गहं पटिच्च मच्छरियं, मच्छरियं पटिच्च आरक्खो, आरक्खं पटिच्च आरक्खाधिकरणं दण्डादानसत्थादान-कलह-विग्गह-विवाद तुवंतुवं-पेसुञ्ञ-मुसावादा अनेके पापका अकुसला धम्मा संभवन्तीति॥"

(इस प्रकार, हे आनन्द, वेदनासे तृष्णा, तृष्णासे पर्येषणा, पर्येषणासे लाभ, लाभसे निश्चय, निश्चयसे आसक्ति, आसक्तिसे अध्यवसान, अध्यवसानसे परिग्रह,

---

१. यह लता हिमालयकी तराईमें पैदा होती है और इसके सम्बन्धमें धारणा थी कि यह जिस पेड़पर चढ़ती है उसे समूल नष्ट कर डालती है।

२. यहाँ वृक्षकी आत्मा समझना चाहिए।

परिग्रहसे मात्सर्य[1] मात्सर्यसे आरक्षा, आरक्षासे आरक्षाके कारण दण्डादान, शस्त्रादान, कलह, विग्रह, विवाद, तूतू मैंमैं, पैशुन्य, असत्यभाषण आदि अनेक पापकारक अकुशल बातें होती हैं।)

३०. कोई व्यक्ति जब विषय-वासनाओंसे बद्ध होता है तब उसमें उपर्युक्त तीन उद्धरणोंके विकार स्पष्ट दिखाई देते हैं। बहुत परिश्रम कर थोड़ा-बहुत रुपया बैंकमें रखनेपर यदि वह बैंक टूट जाय, तो इससे वह मनुष्य खिन्न होता है, इतना ही नहीं, कभी-कभी पागल हो जाता है। इस सम्पत्तिके लिए क्षत्रिय क्षत्रिय, ब्राह्मण ब्राह्मण आदिमें किस प्रकार मारपीट होती है, यह बतानेकी आवश्यकता नहीं। कुटुम्बोंमें होनेवाले झगड़ोंका प्रदर्शन आधुनिक न्यायालयोंमें प्रतिदिन होता है। अतः इसपर विशेष टीका करनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि व्यक्तिगत तृष्णाके कारण कितने अपघात होते हैं। उपर्युक्त उद्धरणमें थोड़ा-बहुत संशोधन कर देनेसे वह ज्योंका त्यों आधुनिक परिस्थितिपर भी लागू किया जा सकता है। पर यह तृष्णा अथवा विषयवासना जब सामाजिक रूपमें परिणत होती है, तब उसका वास्तविक स्वरूप जाननेमें विद्वानोंको भी कठिनाई होती है और वह भी पर्यायसे सब घातक बातोंके लिए कारणीभूत होते हैं।

३१. उदाहरणार्थ, भिक्षुसंघकी ही बात लीजिए। भिक्षुकी व्यक्तिगत सम्पत्ति पूछी जाय तो तीन चीवर और एक भिक्षापात्र—वह भी मिट्टीका या अधिकसे अधिक लोहेका। पर उन्हें रहनेके लिए सुरक्षित स्थान स्वीकार करनेकी मनाही नहीं थी; इसलिए श्रद्धावान् लोग विहार बनवाने लगे और भिक्षुओंकी वासना बढ़ती जाकर उसका पर्यवसान परिग्रह में हुआ। अर्थात् विहारकी सेवाके लिए नौकर-चाकर, जमीन-जायदाद आदि सब-कुछ रखना पड़ा और उसकी आरक्षा करनेके लिए राजाओंकी सहायता लेनी पड़ी। तिब्बत ऐसे स्थानमें तो राजाको एक ओर हटाकर भिक्षुसंघने यह काम अपने ही हाथमें ले लिया। केवल शस्त्रसे ही शत्रुका प्रतीकार सम्भव न होनेके कारण भिक्षुओंको सच्ची-झूठी बातें गढ़नी पड़ीं और राजनीतिके रूपमें पैशुन्य भी स्वीकार करना पड़ा। भिक्षुसंघका इतना अधःपात होनेपर भी संघके व्यक्तियोंके लिए यह समझना कठिन

१. मात्सर्यका अर्थ है ऐसी बुद्धि कि मेरी सम्पत्ति अथवा ज्ञानसे दूसरोंको लाभ न पहुँचे।

हुआ कि हमारी अवनति हो रही है। विद्वान् भिक्षु भी सच्ची-झूठी बातें गढ़नेमें इन विचारोंसे प्रवृत्त होते होंगे कि "मैं अपना आचार ठीक रखता हूँ, शीलके नियमोंका पूर्णतः पालन करता हूँ, ध्यान समाधिमें दत्तचित्त रहता हूँ और यदि कभी-कभी दंतकथाकी थोड़ी रचना करता हूँ तो वह केवल संघके लाभके लिए, उसमें मेरा कोई स्वार्थ नहीं है।" अर्थात् उन्हें इसका ज्ञान होना कठिन हो गया था कि सांघिक तृष्णाके कारण हमारा यह अधःपात हो रहा है।

३२. 'ऊँट सुईके छेदमेंसे जा सकता है, पर धनी व्यक्ति स्वर्गमें नहीं जा सकेगा,' ऐसा उपदेश देनेवाले ईसाके भक्त किस प्रकार परिग्रहवान् बने, यह भी बुद्धके भिक्षुसंघके उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि पादरियोंके संघने तो इस मामलेमें भिक्षुसंघको भी मात कर दिया। भिक्षु केवल अपने विहारके रक्षणार्थ ही पुराणोंकी रचना किया करते थे; पर इन पादरियोंने तो सारे संसारका साम्राज्य प्राप्त करनेका षड्यन्त्र रचा और क्रुसेड जैसे भयंकर युद्ध आरंभ किये! तात्पर्य यह कि जो तृष्णा व्यक्तिगत होनेपर शीघ्र ही कुरूप दिखाई देती और हानिकारक होती है, वही सांघिक रूपमें परिणत होनेपर उसका सौन्दर्य शीघ्र नष्ट नहीं होता और उसके भयंकर परिणामको समझनेमें समय लगता है।

३३. पादरियोंके दुष्कृत्योंका भंडा फूटने लगा। प्रसिद्ध फ्रेंच ग्रन्थकार वाल्टेर तो उनके पीछे ही पड़ गया था। उनके संबंधमें जनवर्गकी श्रद्धा नष्ट होने लगी। तब तृष्णाको पादरी संघका आश्रय-स्थान स्थायी वासके लिए खतरेका जान पड़ने लगा और उसने एक नया स्थान ढूँढ़ निकाला। ढलती उमरकी वेश्या जिस प्रकार शृंगाराभूषणोंकी सहायतासे युवती बनती और स्थान बदलकर पुरुषोंको मोहित करती है, उसी प्रकार तृष्णा-ने अपने अभिनव वेशकी सहयतासे लोगोंको मोहित करना आरंभ किया। उसका यह नया वेश राष्ट्रीयत्वका था। यहाँ उसका विशेष प्रभाव पड़ा। पादरी संघ साधारण जनतासे अलिप्त रहता था। अतः उसके संबंधमें जनतामें अनादर उत्पन्न करना सरल था। पर इस राष्ट्रीयताके संबंधमें यह बात नहीं थी। राष्ट्र ठहरा छोटे-बड़े सब लोगोंका। इसलिए तृष्णाको यह स्थान अच्छा मिला और पिछले महायुद्धतक वह इस स्थानपर बड़े आरामसे रही।

३४. महानिदान सुत्तमें वर्णित कार्य-परंपरा आधुनिक राष्ट्रीयतापर किस प्रकार लागू होती है, इसका एक उदाहरण देना उचित जान पड़ता है, और वह हम अपने निकटके संबंधी अँग्रेजोंकी राष्ट्रीयताके आधारपर देना चाहते हैं।

३५. अकाल और महामारियाँ समय-समयपर संसारके सभी राष्ट्रोंमें फैला करती थीं, पर उनका ज्ञान बहुत थोड़े राष्ट्रोंको हुआ करता था। कहा जा सकता है कि इस कष्टका अनुभव प्रथमतः सोलहवीं सदीमें इंग्लैंडको हुआ। इस कष्टके कारण इंग्लैंडके उच्चवर्गोंमें राष्ट्रीय तृष्णा उत्पन्न हुई। उनकी इच्छा होने लगी कि किसी भी उपायसे अपने राष्ट्रकी संपत्ति बढ़ानी चाहिए। इस तृष्णासे पर्येषणा (खोज) का आरंभ हुआ। उधर अमेरिकामें उपनिवेश स्थापित करनेके लिए दौड़ना, इधर ईस्ट इण्डिया कम्पनी स्थापित कर पूर्वके व्यापारसे लाभ उठानेका प्रयत्न करना आदि आरंभ हुआ। इस पर्येषणामें कभी लाभ और कभी हानि होने लगी। अतः इसके लिए यह निश्चय करनेकी आवश्यकता पड़ी कि जहाँ लाभ हो वहीं आगे बढ़ना और जहाँ अलाभ हो वहाँ पीछे हटना। पीछे लाभके स्थानोंको दृढ़ करनेके अध्यवसानने जोर पकड़ा और उससे परिग्रहकी उत्पत्ति हुई—यह मेरी सीमा, वह दूसरेकी सीमा, इस प्रकार अधिकार—क्षेत्रोंका जाल फैलने लगा। इसके कारण अपनी संपत्तिके संबंधमें मात्सर्य उत्पन्न हुआ और आरक्षा करना अनिवार्य हो गया। राष्ट्रीय दृष्टि यह बनी कि समुद्रपर प्रभुत्व रहनेके लिए अँग्रेजोंका जंगी जहाजोंका बेड़ा अन्य सब राष्ट्रोंके जंगी बेड़ोंसे मजबूत रहना चाहिए और इसमें दूसरोंकी थोड़ी भी स्पर्धा दिखाई देते ही उसका प्रतीकार करनेके लिए इस शस्त्र-सामग्रीका प्रयोग होने लगा और कलह, विग्रह, विवाद, तू तू मैं मैं, पैशुन्य या राजनीति और असत्य भाषण या समाचारपत्रों द्वारा प्रचार आदि अनेक पापकारक, अकुशल बातोंका प्रादुर्भाव हुआ।

३६. इंग्लैंडमें बढ़नेवाली इस राष्ट्रीय तृष्णाके बीजसे डरनेवाले लोग न रहे हों, यह बात नहीं। गोल्डस्मिथ कहता है—

'Ill fares the land, to hastening ills a prey,
Where wealth accumulates, and men decay.'

(इस देशकी दुर्दशा हो रही है। शीघ्र आनेवाली आपत्तियोंका वह शिकार बना है। यहाँ सम्पत्ति एकत्र हो रही है पर मनुष्यका ह्रास हो रहा है।) वह और कहता है—

'While thus the land, adorn'd for pleasure all
In barren splendour feebly waits the fall.'

(इस प्रकार सारा देश ऐश-आरामके लिए झूठी सजधजसे सजा हुआ जरूर है पर दुर्बलताके कारण पतनोन्मुख हो रहा है।) गोल्डस्मिथका यह (The Deserted village) सारा काव्य इंग्लैंडको भावी संकटोंका संकेत करने वाले विचारोंसे भरा हुआ है। पर इसे पूछता कौन है ! तरुण मालुवा लतासे आलिंगित शालवृक्षकी भाँति इंग्लैंडकी अन्तरात्मा तरुण राष्ट्रीय तृष्णासे मोहित हो गई थी। बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ भी, जिनका व्यक्तिगत जीवन अनिंद्य होता था, राष्ट्रीय लोभवश राजनीतिक क्षेत्रमें चाहे जो करनेको तैयार रहते थे और उनकी दृढ़ धारणा होती थी कि वैसा करना बुरा नहीं है ! देश कार्यके लिए अर्थात् अपने देशमें अन्य देशोंसे सम्पत्ति लानेके लिए कोई भी कुकर्म सत्कर्म समझा जाता था !

३७. इस राष्ट्रीय तृष्णाका विकास होते-होते उसने प्रथमतः अँग्रेजी साम्राज्य-की उत्तर-अमेरिकारूपी बड़ी शाखा तोड़ डाली। इसी समय इस वृक्षको पूर्वकी ओर भारतीय साम्राज्यके रूप में शाखाएँ निकलने लगीं। इसलिए इंग्लैंडको इस तृष्णाके प्रति घृणा न होकर और भी मोह उत्पन्न हुआ। परिणामस्वरूप पिछले महायुद्धकी नौबत आई। तब इस तृष्णाका कार्य स्पष्ट रूपसे आरम्भ हो जानेकी बात दिखाई देने लगी। उपनिवेश विभक्तप्राय हो गये और आयरलैंड अलग हुआ—इतना ही नहीं, वह मूल वृक्षको कष्टकर होने लगा। तिसपर भी इस तृष्णाको अफ्रीका और पूर्वकी शाखाओंका आश्रय बना ही हुआ है और इसके लक्षण नहीं दिखाई देते हैं कि इन शाखाओंका पूर्ण निर्दलन किये बिना यह तृष्णा स्वयं नष्ट होगी।

३८. स्पेनके जंगी बेड़ेका विध्वंस करनेके बाद अँग्रेजोंकी इस राष्ट्रीय तृष्णाको अवकाश मिला। यूरोपीय राष्ट्र आपसकी लड़ाईमें लगे रहनेके कारण

उनके लिए जंगी बेड़ेके सम्बन्धमें अँग्रेजोंसे प्रतियोगिता करना सम्भव नहीं था। अमेरिका अपना जंगी बेड़ा बढ़ाकर इंग्लैंडको मात कर सकता था, पर वैसा करनेकी उसे बिलकुल आवश्यकता नहीं थी, कारण केवल अमेरिकामें ही चाहे जितनी सम्पति हस्तगत की जा सकती थी। फलतः इंग्लैंडके लिए 'समुद्रकी रानी' का पद प्राप्त करना आसान हुआ। पर कामसुत्तके कथनानुसार आज उनके अबल प्रतिस्पर्धी बलवान् हो रहे हैं (अबला नं बलीयन्ति)। भूमध्य-सागरमें इटली और फ्राँसके जंगी बेड़े मिल जाने और उन्हें उन देशोंके जंगी हवाई जहाजोंकी सहायता मिलनेपर भूमध्य-सागरपरसे इंग्लैंडका प्रभुत्व उठ जानेमें कुछ भी विलंब नहीं लगेगा और एक बार यह जलमार्ग इंग्लैंडके हाथसे निकल जानेपर उसका पूर्वकी ओरका साम्राज्य टिक नहीं सकेगा। अर्थात् इंग्लैंडकी साम्राज्य-तृष्णासे स्वयं इंग्लैण्ड दुर्बल हो रहा है और उसके पड़ोसके दुर्बल राष्ट्र बलवान हो रहे हैं और इस कारण इंग्लैंडके मार्गमें अनेक विघ्न उपस्थित हो रहे हैं (मद्-न्ति नं परिस्सया)।

३९. तात्पर्य यह है कि वैयक्तिक तृष्णासे सांघिक तृष्णा अधिक भयंकर है और सांघिक तृष्णासे राष्ट्रीय तृष्णा और भी अधिक हानिकारक है। आरम्भमें यद्यपि वह अत्यन्त सुकुमार और सुन्दर दिखाई देती है तथापि कुछ काल बाद उसके परिणाम अत्यन्त घातक सिद्ध होते हैं। सांघिक अथवा राष्ट्रीय तृष्णा उन उच्चवर्गोंमें उत्पन्न होती है और बुद्धिमत्तामें पिछड़े हुए लोगोंके मत्थे उसका पोषण होता है। पर जब इन पिछड़े हुए लोगोंकी ओरसे प्रतीकार आरम्भ होता है तब वह उस संघ या राष्ट्रपर ही टूट पड़ती है। इस तृष्णाके कारण स्पेन देशने अनेक पिछड़े हुए लोगोंपर भाँति-भाँतिके अत्याचार किये। फलस्वरूप वे देश स्पेनसे अलग हुए और स्पेन निर्वीर्य तथा हताश हो गया। ऐसा होते हुए भी आज इटली और जर्मनी इसी तृष्णालताका बड़े आनन्दसे आलिंगन कर झूम रहे हैं। यही समस्त यूरोपीय राष्ट्रोंके दुःखकी जड़ है।

अपरिग्रह

४०. पार्श्व और बुद्धका मत यह जान पड़ता है कि तृष्णा या कामवासना-की ओषधि अपरिग्रह है। पार्श्वने तो अपने चार यामों में अपरिग्रहका

समावेश किया और उपर्युक्त चार उद्धरणोंमें ही नहीं, अन्य अनेक स्थानोंपर भी बुद्धका यह उपदेश मिलता है कि उपभोग्य वस्तुओंका त्याग किया जाय। बुद्ध और पार्श्व-परंपराके तत्कालीन तीर्थंकर वर्धमानमें परिग्रहके संबंधमें तफसीलका मतभेद था, सिद्धान्तका नहीं। दोनोंका उपदेश था कि स्त्री, दासी-दास, जमीन आदि सब उपभोग्य वस्तुओंका त्याग करना चाहिए। बुद्धका कहना था कि केवल शरीरके लिए आवश्यक वस्त्रादि अपने पास रखना चाहिए, पर तीर्थंकर वर्धमान कहते थे कि इनका भी त्याग करना चाहिए। परन्तु बौद्धों और जैनोंका यह अपरिग्रह केवल अपने संघोंके लिए ही था। इस अपरिग्रहका परिणाम यह होता था कि इधर पाँच सौ भिक्षु तो अपनी स्त्रियों और दास-दासियोंको छोड़कर संघमें प्रवेश करते थे और उधर एक ही राजा इनसे दूनी स्त्रियाँ और चौगुनी दास-दासियाँ रख लेता था! इस प्रकार अपरिग्रहका क्षेत्र संकुचित होनेके कारण उसका इष्ट परिणाम होनेके बजाय अनिष्ट परिणाम हुआ।

४१. बहुत-से बुद्धिवान् लोग स्त्रियों और दास-दासियोंको छोड़कर भिक्षु या जैन साधु बन गये, फिर भी उन्हें निर्वाह और आश्रय-स्थानकी आवश्यकता तो थी ही और उसे पूरी करना जनसाधारणके लिए सम्भव नहीं था, कारण इन संघोंकी बराबर वृद्धि होती जा रही थी। तब ये संघ राजाओंसे जागीरें प्राप्त करनेके लिए बाध्य हुए। इसके कारण वे परिग्रही बने और परिग्रहसे उत्पन्न होनेवाले सब दोष उनमें आ घुसे। सारांश यह कि जनसाधारणकी भाँति ये संघ भी परिग्रहसे मुक्त न रह सके। केवल उनके उपदेशोंमें ही अपरिग्रह रह गया।

४२. बौद्ध और जैन सब परिग्रहोंमें स्त्री-परिग्रहको बड़ा मानते थे। स्पष्ट ही है कि स्त्रीके आते ही उनके पीछे-पीछे घर-बार, नौकर-चाकर, बाग-बगीचे आदि सब क्रम-क्रमसे आ जाते हैं। अथ च उनके मतमें स्त्री-परिग्रह जैसा दूसरा परिग्रह नहीं था और इसीलिए स्त्रीसे किसी प्रकारका संबंध रखना संघके नियमानुसार सबसे बड़ा अपराध समझा जाता था। भिक्षुणी-संघकी भिक्षुणियाँ भी पुरुषसे किसी प्रकारका निकट संबंध नहीं रख सकती थीं। उनकी धारणा थी कि स्त्री-पुरुषोंका संबंध एक-दूसरेके लिए बाधक है और उससे ही संसारके सब दुःखोंकी वृद्धि होती है। पर अनुभवसे यह दिखाई दिया है कि

इस प्रकार भिक्षुओं और भिक्षुणियोंके संघ स्थापित करनेसे लाभकी अपेक्षा हानि ही अधिक हुई। प्रथमावस्थामें ये संघ यद्यपि नीतिमान् रहे तथापि परिग्रही बननेके बाद उनकी नीतिमत्ता बिगड़ती गई और उनमेंसे ही अनेक तंत्र और लिंग-पूजा आदि बीभत्स पन्थ निकले।

४३. इधर अभी-अभी स्त्री-स्वातंत्र्यका सिद्धान्त निकलनेसे इस विचारकी बराबर अभिवृद्धि होती जा रही है कि स्त्री परिग्रह नहीं है। जबतक किसी समाजमें स्त्रीको परिग्रह समझा जायगा तबतक यह नहीं कहा जा सकेगा कि उस समाज की नैतिक उन्नति हुई। अहिंसा और संस्कृतिकी कसौटी स्त्री-स्वातंत्र्य ही है। मनुष्यकी हिंसक-बुद्धिने स्त्रियोंको दास बनाया। स्त्रियोंके हृदयमें असीम मातृप्रेम न होता तो उन्होंने यह दासता कभी स्वीकार न की होती, आत्महत्या करके समस्त मानव जातिका ही अन्त कर डाला होता। परदे जैसी भयंकर प्रथाओंतकको स्वीकार कर उन्होंने अपने-आपको आजतक यदि जीवित रखा है तो केवल इस मातृ-प्रेमके कारण ही। स्त्रियोंको इस प्रकार बन्द कर रखनेमें पुरुषोंकी हिंसा-बुद्धिकी पराकाष्ठा अवश्य है। अतः अहिंसात्मक संस्कृतिका यदि पूरा विकास होनेवाला हो, तो स्त्रीको परिग्रह न समझकर उसे पूर्ण स्वाधीनता दी जानी चाहिए। स्वाधीन स्त्रियोंकी सहायतासे जिस संस्कृतिका उदय होगा वही अहिंसात्मक, अतः मानवजातिके लिए सुखदायक और हितकर होगी।

४४. आजकल पश्चिमी देशोंमें जो स्त्री-स्वातंत्र्य है वह हमारे विचारमें दिखौआ है। अधिकतर स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टिसे पुरुषोंपर अवलंबित रहनेके कारण स्वतंत्र नहीं होती हैं। पतिके दुर्व्यसनी होते हुए भी, केवल सन्तानके मोहके कारण, वे पतिको तलाक देकर स्वतंत्र नहीं हो सकतीं। पतिको तलाक देकर कोई स्त्री अपना निर्वाह तो किसी तरह कर भी सकती है, पर बच्चोंका क्या होगा इस चिन्तासे—विचारसे वह वैसा नहीं करती और अपने पतिका दुर्व्यवहार चुपचाप सहन करती है। पश्चिमी देशोंमें क्लर्की आदि करके अपना निर्वाह करनेवाली बहुत-सी स्त्रियाँ हैं, पर वे भी स्वतंत्र नहीं हैं। उनमेंसे किसी स्त्रीको यदि प्रबल इच्छा हो कि मुझे एकाध बच्चा रहे तो वह उसे पूरा नहीं कर सकती। इस भयसे कि इसके हेतु उसे सदाके लिए पुरुषकी दासता स्वीकार करनी पड़ेगी, वह अन्ततक अविवाहित रहती और मातृप्रेमसे वंचित होती है।

४५. सोवियेट रूसमें स्त्रियोंको सच्ची स्वाधीनता दी गई है और इससे सब पूँजीवादी देश शोर-गुल मचा रहे हैं। पूँजीवादी समाचार-पत्र चिल्ला रहे हैं कि स्त्रियाँ राष्ट्रीय सम्पत्तिमें सम्मिलित कर ली गईं और उसकी प्रतिध्वनि दिल्लीतक आ पहुँची है।[१] १२ सितम्बर १९३५ को केन्द्रीय व्यवस्थापक सभामें भाषण करते हुए माननीय सरकार महाशयने कहा—"सम्पत्तिकी जब्ती, उत्पादनके साधनोंका राष्ट्रीयकरण या ऐसे ही किसी नये सिद्धान्तके प्रतिपादनके लिए वर्तमान कानूनमें कोई दंड नहीं है और स्त्रियाँ उत्पादनका साधन ही हैं।" (आर्डर आर्डरकी आवाज) श्री सत्यमूर्तिजीने इसपर कहा कि "न्यायमंत्रीको भी सभ्यताके नियमोंका उल्लंघन करनेका अधिकार नहीं है।" माननीय सरकार बोले—"मैंने यह नहीं कहा कि इस सिद्धान्तका हिन्दुस्तानमें प्रतिपादन किया गया। कुछ पुस्तकोंमें इसका प्रतिपादन किया गया है।…"

४६. आधुनिक अधिकारी वर्ग कितनी गैरजिम्मेदारी और गुस्ताखीकी बातें करता है, इसका यह एक अच्छा नमूना है। यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि

---

१. यह रोना बहुत पुराना है कि कम्युनिस्ट लोग स्त्रियोंको राष्ट्रीय सम्पत्ति बनाना चाहते हैं। सन् १८४८ में मार्क्स और एंगल्स द्वारा प्रकाशित कम्युनिस्ट घोषणा-पत्रमें नीचे लिखा मजमून मिलता है—

"पूँजीवादी एक स्वरसे चिल्ला रहे हैं कि तुम कम्युनिस्ट लोग स्त्रियोंको राष्ट्रीय संपत्ति बनाना चाहते हो।

"पूँजीवादियोंको स्त्रियाँ उत्पत्तिका एक साधन जान पड़ती हैं। वे जब सम्पत्तिके साधनोंको सार्वजनिक बनानेकी बात सुनते हैं तब स्वाभाविक रूपसे उनकी धारणा होती है कि अन्य साधनोंकी जो गति होगी वही स्त्रियोंकी भी होगी।

"इस समय स्त्रियोंकी गणना जो केवल साधनोंमें की जाती है वह न की जाय, इस वास्तविक ध्येयकी उन्हें कल्पनातक नहीं होती।"

इस रोनेको आज अस्सी-नब्बे साल हो रहे हैं। कौन जाने और कितने दिनोंतक पूँजीवादी यह रोना रोते रहेंगे।

हमारे इन न्यायमंत्री महोदयने इस विषयपर पूँजीवादी देशोंके सोवियट-विरोधी समाचारपत्रोंके सिवा और कोई साहित्य देखा होगा। वैसा होता तो वे ऐसी बात न कहते। रूसमें सारी सम्पत्तिके मालिक जैसे सब मजदूर पुरुष हैं, वैसे ही सब मजदूर स्त्रियाँ भी हैं। अन्तर इतना ही है कि स्त्रियोंको पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक सुविधाएँ मिलती हैं। मजदूर स्त्री गर्भवती होती है, तो प्रसूतिके पूर्व तीन मास तथा प्रसूतिके पश्चात् तीन मास, इस प्रकार छः मासकी सवेतन छुट्टी उसे नियमानुसार मिलती है, और इसके बाद काम करनेके समयमें सरकारकी ओरसे सुशिक्षित दाइयाँ उसके बच्चेकी देखभाल करती हैं। बच्चेके कुछ बड़े होनेपर उसकी शिक्षाकी सारी जिम्मेदारी सरकार ही अपने ऊपर ले लेती है। इतना ही नहीं, उसको दोपहरका भोजन भी सरकारी स्कूलमें ही मिलता है। जिस देशमें स्त्रियोंको इतनी सुविधाएँ हैं, उस देशके सम्बन्धमें यह कहना कि वहाँ स्त्रियाँ राष्ट्रीय सम्पत्ति बना ली गई हैं, तथा कम्युनिस्ट दूसरे देशोंमें भी वैसा ही करना चाहते हैं, केवल दुष्टता ही समझना चाहिए। वैसा कहनेके बजाय अगर यह कहा जाय तो शायद अधिक ठीक होगा कि रूसमें पुरुषोंका राष्ट्रीयकरण हुआ है, कारण स्त्रियोंको इतनी सुविधाएँ देने और भावी सन्ततिको उत्कृष्ट शिक्षा देनेका भार स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंपर ही अधिक है।

४७. हमने अन्य देशोंके अधिकारियों द्वारा, माननीय सरकारके जैसे वक्तव्यों-का प्रकाशन होते नहीं देखा है; पर सर्वत्र अधिकारी वर्गकी विचार-शैली एक-सी ही है। उन्हें पिछड़े हुए वर्गोंपर ही नहीं, अपने ही वर्गकी स्त्रियोंके ऊपर भी शासन करनेकी आदत पड़ गई है और उनकी दृष्टिमें स्त्री अपने ऐश-आरामका तथा भावी युद्धमें तोपके मुँहमें देनेके लिए नये प्राणी उत्पन्न करनेवाला जीता-जागता यंत्र है! अतः उनकी इच्छा होती है कि अन्य यंत्रोंके समान इस यंत्रपर भी हमारा अधिकार रहना चाहिए और जो स्त्री-स्वातन्त्र्यके लिए उत्सुक दिखाई देते हैं, उनपर वे इस तरह टूट पड़ते हैं।

४८. आजकल संसारमें जो प्राचीन साहित्य मौजूद है उसमें कहीं यह विचार नहीं दिखाई देता कि स्त्रीको परिग्रह मानना ठीक नहीं। अतः उस समय स्त्रियोंको स्वतन्त्रता मिलना सम्भव ही नहीं था। मनुका यह वाक्य

प्रसिद्ध ही है—" न स्त्रीस्वातंत्र्यमर्हति ।"[१] बौद्धों और जैनोंने भिक्षुणियों और साध्वियोंके संघ स्थापित कर स्त्रियोंको बहुत-कुछ स्वतंत्रता दी। पर वह उनके संघोंतक ही सीमित थी और वह भी उन्हें सन्तान-प्रेमका मूल्य देकर प्राप्त करनी पड़ती थी। उनके विवाह-बंधनमें बद्ध होनेपर उनकी गणना उत्कृष्ट संपत्तिमें होती थी। तात्पर्य यह कि वैदिक साहित्यके समान श्रमण साहित्यमें भी स्त्रियोंका समावेश परिग्रहमें ही किया गया है।

४९. मध्ययुगीन भारतीय ग्रन्थकारोंमें केवल एक वराहमिहिर स्त्रियोंका पक्षपाती दिखाई देता है। वह कहता है—

येऽप्यङ्गनानां प्रवदन्ति दोषान् वैराग्यमार्गेण गुणान्विहाय।
ते दुर्जना मे मनसो वितर्कः सद्भाववाक्यानि न तानि तेषाम् ॥ ५ ॥
प्रब्रूत सत्यं कतरोऽङ्गनानां दोषोऽस्ति यो नाचरितो मनुष्यैः।
धाष्टर्येन पुम्भिः प्रमदा निरस्ता गुणाधिकास्ता मनुनात्र चोक्तम् ॥ ६ ॥

बहिर्लोम्ना तु षण्मासान् वेष्टितः खरचर्मणा।
दारातिक्रमे भिक्षां देहित्युक्त्वा विशुध्यति ॥ १३ ॥
अहोधाष्टर्यमसाधूनां निन्दतामनघाः स्त्रियः।
मुष्णतामिव चौराणां तिष्ठ चौरेति जल्पताम् ॥ १४ ॥[२]

(जो वैराग्यमार्गका अवलंबन कर स्त्रियोंके गुण न देखकर दोषोंका वर्णन करते हैं; वे मेरे विचारमें दुर्जन हैं और उनका वैसा कहना सद्धेतुक नहीं है ॥ ५ ॥ सच कहिए कि स्त्रियोंमें ऐसा कोन-सा दोष दिखाई देता है जिसका आचरण पुरुषोंने नहीं किया? केवल धृष्टतासे पुरुषोंने स्त्रियोंपर अधिकार जमाया। मनुने भी कहा है कि वे पुरुषोंसे अधिक गुणवती हैं ॥ ६ ॥ जो स्वपत्नीका अतिक्रमण करता है उसके लिए प्रायश्चित्त यही है कि वह गदहेके

---

१. अस्वतंत्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ॥

मनुस्मृति, अ० ९।२-३

२. बृहत्संहिता, अ० ७४।

चमड़ेको, रोवाँ बाहरकी ओर रखकर ओढ़े और छः मासतक दरवाजे-दरवाजे भीख माँगे ॥ १३ ॥ निष्पाप स्त्रियोंकी निन्दा करनेवाले दुष्टोंका यह कैसा दुस्साहस है ? यह वैसा ही है जैसे चोरी करनेवाले चोरोंका "ठहर रे चोर" कहकर चिल्लाना ॥ १४ ॥)

५०. इस स्त्री-पक्षपातके लिए वराहमिहिरकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी ही है। तथापि वराहमिहिर इस धारणासे मुक्त नहीं थे कि स्त्री एक अमूल्य रत्न है, अतः बड़े यत्नसे उसकी रक्षा की जानी चाहिए।[1] पूँजीवादके शिखरपर चढ़े हुए अमेरिका जैसे देशमें आज दिन भी स्त्रीसंबंधी विचार कमोबेश कुछ-कुछ ऐसे ही हैं। उच्च वर्गोंके लोग उसके सुख और ऐशआरामके लिए अत्यन्त परिश्रम करते हैं और इतना करनेपर भी अनगिनत तलाक होते ही हैं। इसका कारण यह है कि अमूल्य रत्नकी भाँति बहुत यत्नसे रखी जानेसे स्त्रियोंकी स्वातंत्र्य-तृप्ति नहीं होती। स्त्रियाँ तबतक सच्ची स्वाधीनता मिलनेका अनुभव नहीं करेंगी, जबतक उन्हें अपनी कमाईपर अवलंबित रहना नहीं आवेगा और आधुनिक पूँजीवादी संसारमें मातृपद प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाली स्त्रियोंके लिए यह संभव नहीं है कि अपनी कमाईपर अवलंबित रह सकें।

५१. इस सिद्धान्तका प्रतिपादन कार्ल मार्क्सने किया कि आर्थिक स्वतंत्रताके बिना स्त्रियोंको सच्ची स्वतंत्रता नहीं मिलेगी और आज उनके अनुयायी बोल-शेविक नेता उस विचारको कार्यान्वित करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनके मार्गमें बहुत-सी बाधाएँ हैं। उनमें मुख्य विघ्न स्त्रियोंका संस्कार है। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है कि हजारों वर्षोंसे परतन्त्रता की अँधेरी कोठरीमें बन्द स्त्रियोंको स्वतंत्रताके प्रखर सूर्यप्रकाशमें आना धोखेका काम जान पड़ताहो ! यहाँ हमें उस स्त्रीकी बात याद आती है, जो पेरिसके बास्तिल किलेमें तीस वर्षतक बन्द कर रखी गई थी। फ्रेंच राज्यक्रान्तिके आरभमें जनवर्गने यह किला जड़से खोद डाला। उस समय उस किलेमें बन्द कर रखे गये राजनीतिक

---

१. इसी अध्यायमें वे कहते हैं—

श्रुतं दृष्टं स्पृष्टं स्मृतमपि नृणां ह्लादजननं।
न रत्नं स्त्रीभ्योऽन्यत् क्वचिदपि कृतं लोकपतिना॥

कैदियोंके साथ-साथ इस स्त्रीको भी स्वतंत्रता मिली। पर वह सूर्यप्रकाश देखकर घबड़ा गई और उसने कहा कि 'यदि तुम लोग मुझे मेरी अँधेरी कोठरीमें न पहुँचाओगे तो मैं किसीकी हत्या करके फाँसीपर लटक जाऊँगी!' देखिए, चिरकालसे अभ्यस्त घातक संस्कार भी मनुष्यको कितने प्रिय हो जाते हैं!

५२. इस प्रकार यह बात नहीं है कि केवल आर्थिक स्वतन्त्रतासे ही स्त्री-स्वातन्त्र्यका प्रश्न हल हो जाय। इसके लिए स्त्री-पुरुषोंको अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिए। स्त्रियोंको अपने मातृपदकी महत्ता समझनी चाहिए और पुरुषोंमें यह भाव उत्पन्न होना चाहिए कि स्त्रियाँ उपभोग्य वस्तु नहीं, किन्तु भावी पीढ़ीकी मातायें हैं, अतः पूज्य हैं। बोलशेविकोंने पहली अर्थात् स्त्रियोंकी आर्थिक स्वतन्त्रताकी सीढ़ीको मजबूत कर लिया है और उस मजबूत सीढ़ीपर शिक्षाकी दूसरी सीढ़ी बनानेका वे प्रयत्न कर रहे हैं। इस बीच स्त्री-पुरुषोंके हाथसे कुछ नैतिक अपराध हो जायँ तो वे क्षम्य हैं। मजाक उड़ाकर बोलशेविकोंके प्रयत्नोंसे घृणा करना अक्षम्य अपराध है। मानव जातिको स्त्री-परिग्रहसे मुक्त करनेका यदि सचमुच किसीने प्रयत्न किया है, तो मार्क्सके अनुयायी बोलशेविकोंने ही, और और इसलिए हम हृदयसे उनका अभिनन्दन करते हैं।

५३. बुद्धकालमें स्त्री-परिग्रहसे उतरकर दूसरा परिग्रह दास-दासियोंका समझा जाता था। बाबिलोनिया, इजिप्त, ग्रीस आदि सब प्राचीन राष्ट्रोंमें दास-दासियोंकी संस्था थी ही। अधिक क्या, इस संस्थापर ही उन राष्ट्रोंकी सारी संस्कृति अवलम्बित थी। हमारे देशमें इस वर्गके लोग शूद्र हैं। वैदिक कालमें उनकी दासोंकी ही भाँति खरीद-बिक्री हुआ करती थी। धीरे-धीरे उनकी गिनती निकृष्ट जातिमें होने लगी, कारण उनकी संख्या इतनी बढ़ती गई कि उन्हें दास बनाकर अपने यहाँ रखना उच्च वर्गोंके लोगोंके लिए असम्भव हो गया। यही बात यूरोपमें हुई। दासोंकी संख्या बढ़नेपर उनकी गणना असामियों (Serf) में करना अनिवार्य हुआ। ये असामी जमीन के साथ ही बेचे जा सकते थे। यह प्रथा रूसमें तो १८६१ तक प्रचलित थी।

५४. उत्तरी अमेरिकामें इंग्लिश उपनिवेशोंकी वृद्धि होने लगी तब इस दास-संस्थाका जोरोंके साथ पुनरुज्जीवन हुआ। दस-बारह अँग्रेजी कम्पनियोंने दासोंका लाभजनक व्यापार करना आरम्भ कर दिया। ये कम्पनियाँ अफ्रीकाके

हृष्टपुष्ट स्त्री-पुरुषों तथा बालक-बालिकाओंको सशस्त्र आदमियोंकी सहायतासे पकड़कर जहाजों द्वारा अमेरिका ले जाती थीं और वहाँके बड़े-बड़े बाजारोंमें उन्हें खुलेआम बेचती थीं। यह अत्यन्त क्रूर व्यापार बहुत वर्षोंतक होता रहा और अमेरिकाके जमींदारोंको इसमें कुछ भी बुराई न दिखाई दी। अमेरिकाकी स्वतन्त्रताकी नींव डालनेवाले जॉर्ज वाशिंग्टनके पास भी सैकड़ों दास-दासियाँ थीं।

५५. दासताकी इस संस्थाको अमेरिकासे उखाड़ फेकनेका श्रेय ॲब्राहम् लिंकनको मिला। इसका कारण यह था कि दासताके कारण गोरे लोगोंपर ही संकट उपस्थित होनेके लक्षण दिखाई देने लगे और उत्तर तथा पश्चिमके दास्य-विरोधी राज्योंके सब श्वेतांगोंका नेतृत्व सहसा लिंकनको मिल गया। उत्तरके श्वेतांगोंके खेत छोटे-छोटे थे और वे भी उपजाऊ नहीं थे। अतः उनके लिए सम्भव नहीं था कि दासोंकी सहायतासे बड़े पैमानेपर खेती करनेवाले दक्षिणके लोगोंसे प्रतियोगिता कर सकते। दासों के मालिक अपना अन्न सस्ते भावमें बेच सकते थे और इस कारण उत्तरके खेतिहरोंको अपने अन्नकी बहुत थोड़ी कीमत मिलती थी। अतः दक्षिणके जमींदारों और उत्तरके खेतिहरोंमें वैमनस्य बढ़ता जाना स्वाभाविक था।

५६. आयोवा आदि पश्चिमके राज्य हालमें ही श्वेतांगोंने बसाये थे। और दासोंके मालिक अपने दासोंको लेकर इन राज्योंमें प्रवेश करनेका प्रयत्न कर रहे थे। वहाँ परती पर उपजाऊ जमीनकी कमी नहीं थी। परन्तु वहाँ जाकर बसे श्वेतांगोंको यह डर लगा कि दक्षिणके जमींदार अगर एक बार यहाँ घुस आवेंगे तो अपने दासोंकी सहायतासे सब राज्योंको निगल जायँगे। इस कारण उनमें और उत्तरके खेतिहरोंमें मित्रता हुई। इस परिस्थितिमें उत्तरी और पूर्वी राज्योंके लेखक दक्षिणके दासोंके मालिकोंपर जबरदस्त हमला करने लगे और दिन प्रति दिन विरोध बढ़ता गया। इन्हीं दिनों सहसा एक गरीब खेतिहरका लड़का उत्तर और पश्चिमके श्वेतांगोंके बहुमतसे अध्यक्ष निर्वाचित हुआ। यही अमेरिकाका सुप्रसिद्ध अध्यक्ष अब्राहम् लिंकन था। उसने पहले-पहल यह प्रयत्न आरम्भ किया कि दास्यप्रथा दक्षिणके ग्यारह राज्योंके अन्दर ही सीमित रहे। पर दक्षिणके लोगोंको यह प्रयत्न दास्य-विनाशकी पहली सीढ़ी जान पड़ने लगा और उन्होंने स्वाधी-

नता का झण्डा फहराया। चार वर्ष युद्ध होकर उत्तर और पश्चिमकी विजय हुई और अमेरिकाकी ही नहीं, सारे सभ्य संसारकी दास-संस्थाका सदाके लिए अन्त हुआ।

५७. इस प्रकार सभ्य राष्ट्रोंमेंसे प्राचीन दास्य-प्रथाका अन्त अवश्य हो गया है पर दास-परिग्रहकी मनोवृत्ति अभी नष्ट नहीं हुई है। अमेरिकाके नीग्रो लोग यद्यपि विधानतः दासतासे मुक्त हो गये हैं तथापि उनकी स्थिति उनके दास-पूर्वजों जैसी ही विकट है। छोटी-छोटी बातोंपर दिनदहाड़े नीग्रो लोग श्वेतांगोंके बड़े जनसमूहके सामने जीते जलाये जाते हैं। इसे अमेरिकामें लिंचिंग (Lynching) कहते हैं। इस लिंचिंगमें श्वेतांग स्त्रियाँतक सम्मिलित होती हैं। अन्य प्रकारसे भी निग्रो लोगोंको कष्ट भोगने पड़ते हैं। इतने कष्ट सहन करके भी नीग्रो लोगोंकी दिन-दिन अभिवृद्धि हो रही है और श्वेतांगोंको भय लग रहा है कि कभी-न-कभी वे अपना बदला लेंगे।

५८. यूरोपीय श्वेतांगोंकी दास-परिग्रहकी लालसा अफ्रीकी तथा पिछड़े हुए एशिया महाद्वीपकी नोंच-खसोटके रूपमें परिणत हो गयी है। सब काले आदमियोंको पकड़कर उन्हें अपना दास बनानेकी जिम्मेदारी वे अपने ऊपर लेना नहीं चाहते। उनकी नीति यह है कि काले आदमियोंके देशमें जाकर उनपर प्रभुत्व स्थापित किया जाय, उनसे कच्चा माल पैदा कराकर वह यूरोपमें लाया जाय और अपने कारखानोंमें पक्का माल तैयार कर खूब लाभ उठाया जाय। काले आदमी केवल कच्चा माल पैदा करनेका काम ही करते हों, सो बात नहीं, यदि उन्हें आधुनिक सभ्यताकी लत लगाई जाय तो वे गोरे मालिकों का तैयार किया हुआ पक्का माल खरीदते भी हैं। अर्थात् ये पिछड़े हुए लोग एक साथ ही दास और ग्राहक दोनों बन जाते हैं और इनके पालन-पोषणकी जिम्मेदारी भी गोरे मालिकोंपर नहीं रहती।

५९. इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस प्रकार अमेरिकन जमींदारोंके लिए दास-परिग्रह घातक हुआ उसी प्रकार उसकी यह नई आवृत्ति भी यूरोपीय श्वेतांगोंके लिए घातक सिद्ध होनेवाली है। केवल दक्षिणके राष्ट्रोंको ही नहीं, समस्त संयुक्तराष्ट्र अमेरिकाको अपने नवयुवकोंके रक्त-प्रवाहसे दासताके पापका प्रक्षालन करना पड़ा। यह बात इतिसासप्रसिद्ध है कि दास्य-विमोचनके युद्धोंमें लाखों

गोरे अमेरिकन युवक मारे गये। यूरोपके श्वेतांगोंने पिछले महासमरसे महान् रक्तपात करके अपने पाप-क्षालनका आरंभ किया है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि उनका रक्त-स्नान कब समाप्त होगा। काले लोगोंपर प्रभुत्व स्थापित करनेकी उनकी लालसा अभी कम नहीं हुई है और जबतक उनकी यह दास-परिग्रह-वासना ऐसी ही बनी रहेगी तबतक उन्हें उत्तरोत्तर अधिकाधिक रक्त-स्नान कर उस पाप-वासनाका प्रक्षालन करना पड़ेगा।

६०. इस अभिनव दास-वासनासे केवल एक रशिया मुक्त हुआ है। समरकन्द, बुखारा आदि स्थानोंके पिछड़े हुए लोगोंपर जारशाहीमें जो अत्याचार हुआ करते थे, वे वर्तमान कम्यूनिस्ट राज्यमें बिलकुल बन्द हो गये हैं। इतना ही नहीं, बोलशेविक इनको अपनी बराबरीके पदपर बिठानेकी बेहद कोशिश कर रहे हैं। इन मुस्लिम देशोंकी स्त्रियाँ परदेमें पड़ी सड़ रही थीं। बोलशेविकोंने उन्हें परदेसे एकदम बाहर निकाला और उनकी शिक्षाकी सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली। जिन पाठकोंके लिए संभव हो वे इस संबंधमें अमरिकन विदुषी Anna L. Strong की 'The Red Star in Samarkand' पुस्तक अवश्य पढ़ें और उसकी तुलना मिस मेयोकी 'Mother India' पुस्तकसे करें।

६१. पर मिस मेयोकी तारीफ करनेवाले पूँजीवादियोंको बोलशेविकोंका यह कार्य कैसे अच्छा लग सकता है? वे बराबर चिल्ला रहे हैं कि बोलशेविक अपना लाल साम्राज्य (Red Empire) सर्वत्र फैलाना चाहते हैं। आधुनिक दासोंको मुक्त करना यदि लाल साम्राज्यशाही हो, तो नीग्रो लोगोंको दासतासे मुक्त करनेवाले लिंकनको काली साम्राज्यशाहीका संस्थापक क्यों न कहा जाय? बात यह है कि इस आधुनिक दासताके दुष्परिणामोंकी जानकारी अभी यूरोपके पूँजीवादियोंको नहीं हुई है। जबतक वे अपने देशके बेकार लोगोंको थोड़ा-बहुत वेतन देकर शान्त रख सकेंगे, तबतक उनके लिए यह दासता जारी रखना सम्भव हो सकेगा। पर उनके आपसके झगड़े कैसे बन्द होंगे? इंग्लैंड और फ्रांसके पास प्रचुर दास हैं, फिर इटलीके पास दास क्यों न रहें? और जर्मनीके हाथसे निकलकर जो दास इंग्लैंड और फ्रांसके हाथमें चले गये, वे जर्मनीको वापस क्यों न मिलें?

६२. इस आधुनिक दासताके दुष्परिणामोंको इतनी जल्दी समझ लेनेके लिए रशियन नेताओंकी सचमुच प्रशंसा की जानी चाहिए। यद्यपि सारे संसारको इस दासतासे मुक्त करनेमें वे समर्थ नहीं हैं, तथापि उन्होंने अपने साम्राज्यसे उसे निकाल बाहर किया है और वे इसके लिए उत्सुक दिखाई देते हैं कि चीन देशको भी उससे छुटकारा मिल जाय। इसमें उनका स्वार्थ हो सकता है। दक्षिण अमेरिकाके छोटे-मोटे राष्ट्रोंको यूरोपीय राजाओंके चंगुलसे छुड़ानेमें संयुक्त राष्ट्र अमेरिकाके नेताओंका स्वार्थ था ही। पर वह ऊँचे दर्जेका स्वार्थ था। उन्हें यह भय था कि अपने इर्दगिर्द यदि राजतंत्र बढ़ता गया तो अपने प्रजातन्त्रका लोप हो जायगा और इसीलिए उन्होंने दक्षिण अमेरिकाके राष्ट्रोंको यूरोपीय राजाओंसे स्वतन्त्र होनेमें सहायता दी। बोलशेविकोंका स्वार्थ भी इसी प्रकारका है। चीन देश उनकी सीमासे सटा हुआ है। उन्हें यह भय है कि यदि चीनमें जापानी पूँजीवादियोंका प्रभुत्व स्थापित हुआ तो वह हमारे समाज-तन्त्रके लिए घातक होगा और केवल अपने समाज-तन्त्रकी रक्षाके लिए वे चीनमें भी समाजतन्त्रकी स्थापना करना चाहते हैं। ऐसे स्वार्थको ऊँचे दर्जेका स्वार्थ कौन न कहेगा?

६३. ऊपर किये गये विवेचनसे यह दिखाई देगा कि स्त्रियों अथवा दास-दासियोंको परिग्रहोंमें संमिलित करनेसे मानव-जातिपर अनेक संकट उपस्थित होते हैं। उन्हें पूर्ण स्वाधीनता देकर उनके साथ समानताका व्यवहार करना मानव-जीवनके विकासके लिए अत्यन्त आवश्यक है। इतिहासका अनुभव है कि बौद्धों या जैनोंके विचारानुसार स्त्री, बच्चों और दास-दासियोंको छोड़कर संन्यास लेनेसे इन परिग्रहोंसे मानव जातिको छुटकारा न मिलेगा। सारी मानव जातिको जाने दीजिए, ये श्रमणतक इन परिग्रहोंसे छुटकारा नहीं पा सकते। दूसरे विभागमें[1] दिखाया जा चुका है कि श्रमणोंने आरामिक और विहार-सेवकोंके रूपमें दास-परिग्रह स्वीकार किया और उसके लिए झूठे पुराण रचकर अतिपरिग्रही राजा लोगोंकी चापलूसी करनेकी उनपर नौबत आई। अतः इस सम्बन्धमें वही मार्ग उचित जान पड़ता है जो कार्ल मार्क्स और उसके अनुयायी दिखाते हैं।

---

१. वि० २। १०२—११९ देखिए।

६४. स्त्री और दासके बाद खेती-बारीके परिग्रहका प्रश्न आता है। यदि सब स्त्रियोंको स्वाधीनता मिल जाय और काले-गोरेका भेद मिटकर सब मनुष्योंको समान पद प्राप्त हो जाय, पर भूमि तथा उत्पादनके अन्य साधनोंपर लोगोंका निजी स्वामित्व बना रहे, तो स्त्रियों और दास-दासियोंकी स्वाधीनता अल्पकाल भी न टिकेगी। कारण स्पष्ट है कि इस दशामें भूमि जोतने-बोनेका परिश्रम करके पेट पालनेवाले सब असामियोंका जीवन जमींदारोंके और मिलोंमें काम करनेवाले सब मजदूरोंका जीवन मिल-मालिकोंके हाथमें रहेगा। ऐसा न होने देनेके लिए बोलशेविकोंके कथनानुसार भूमि, मिलें और उनके लिए उपयोगी बैंक, रेल आदि सब साधनोंपर समाजका स्वामित्व स्थापित किया जाना चाहिए।

६५. बौद्धों और जैनोंका इस सम्बन्धका उपाय निरुपयोगी सिद्ध हो चुका है। बहुसंख्यक लोग खेतीबारी छोड़कर संन्यास ले लें तो इससे सारे समाजकी और कुछ काल बाद इन संन्यासी संघोंकी भी हानि होती है। जमीन जोतने-बोनेके लिए कोई तो चाहिए ही। सब स्त्री-पुरुष खेतीबारी छोड़कर यदि संन्यास ले लें तो शीघ्रही सबपर भूखों मरनेकी नौबत आवेगी। दूसरे और तीसरे भागमें हम विस्तारपूर्वक दिखा चुके हैं कि भोजनकी व्यवस्था करनेके लिए इन संन्यासी संघोंको राजाओंसे जागीरें लेनी पड़ीं और इस कारण उनका किस प्रकार अधःपात हुआ। अर्थात् खेतीबारी आदिका त्याग करके यह अपरिग्रह सफल होना सम्भव नहीं है। यदि सबको जीवित रहना है तो सबको ही परिश्रम करना चाहिए। राजाओं तथा अमीरोंके बेहद ऐशोआराम तथा श्रमण-ब्राह्मणोंके घोर आलसमें दिन बितानेसे श्रमजीवी वर्गपर बहुत परिश्रम पड़कर उसका नाश होता है और इसके दुष्परिणाम सबको समान रूपसे भोगने पड़ते हैं। अतः समाजवादियोंका यह सिद्धान्त ही मानव जातिकी उन्नतिके लिए हितकर है कि खेतीबारी आदिके परिग्रहका त्याग इस परिग्रहपर समाजका स्वामित्व स्थापित करके किया जाय।

सत्याग्रह

६६. सत्याग्रहका अर्थ है सत्य और अहिंसा इन दो यामोंके आधारपर खड़े होकर बुरे कानूनोंका विरोध करना और इसके लिए जो कष्ट भोगने पड़ें उन्हें सन्तोषपूर्वक भोगना। पर यह बहुतोंको मालूम नहीं है कि इस सत्याग्रहसे

हम जो स्वराज्य प्राप्त करेंगे वह कैसा होगा और सत्याग्रहके आचार्य महात्मा गाँधी भी इसका विस्तृत स्पष्टीकरण नहीं करते। इससे बहुत-से लोग भ्रममें पड़े हुए हैं और बारबार महात्मा गाँधीसे स्पष्टीकरण चाहते हैं। उदाहरणार्थ, जुलाई १९२४ में महात्मा गाँधीके संयुक्तप्रान्तके दौरेके समय वहाँके जमींदारोंने उनसे पूछा कि आप जो स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं, उसमें हमारा क्या स्थान होगा ? इसपर महात्माजीने उत्तर दिया कि 'यदि आप अपनेको जनताका पालक समझकर तदनुसार व्यवहार करेंगे, तो स्वराज्यमें आपको किसीका भय न रहेगा।' इसी प्रकार जब गाँधीजी प्रसंगवश किसी राजाके अतिथि होते हैं, तो उसे यही उपदेश देते हैं कि 'राजाओंको राम राज्यका उदाहरण अपने सामने रखकर तदनुसार व्यवहार करना चाहिए।'

६७. महात्माजीके इस उपदेशसे बड़े आदमियोंका भले ही समाधान हो जाता हो, पर हम जैसे साधारण व्यक्तियोंको यह नहीं जँचता। इतिहासके परिशीलनसे हमारी यह धारणा हुई है कि उपरिनिर्दिष्ट अपरिग्रहके बिना सत्य और अहिंसा कभी टिक नहीं सकती। राजा या जमीदारोंसे हम द्वेष नहीं करते। परिस्थितिने उन्हें उत्पन्न किया है, पर उन्हें हमारा पालक कहना सर्वथा अनुचित है। उनके पूर्वजोंने केवल हिंसात्मक बुद्धि-सामर्थ्यसे संपत्ति प्राप्त की और हिंसाके बलपर ही आजतक उसकी रक्षा की जा रही है। इस प्रकार हिंसा जिनके रोम-रोममें भिनी हुई है ऐसे लोगोंको सत्य और अहिंसाका रक्षक बनाना चोरके हाथमें तिजोरीकी चाबियाँ देनेके समान हास्यास्पद होगा !

६८. ईसाके पास एक धनी युवक आया और उसने पूछा—'सद्गुरु, मैं चिरजीवी होनेके लिए कौन-सा सत्कर्म करूँ ?' ईसाने कहा—'मुझे तू सद्गुरु क्यों कहता है ? सत् तो केवल परमेश्वर है। तथापि तुझे यदि जीवनमें प्रवेश करना हो तो परमेश्वरकी आज्ञाओंका पालन कर।' तब उस युवकने पूछा—'वे कौन-सी हैं ?' ईसाने कहा—'हत्या न कर, परदारागमन न कर, चोरी न कर और असत्य भाषण न कर। माता-पिताका सम्मान कर तथा पड़ोसियोंपर प्रेम कर।' तब उस युवकने कहा—'इन सब नियमोंका पालन तो मैं बचपन-से ही करता हूँ। अब मुझमें कमी कौन-सी रह गई है ?' ईसाने कहा—'यदि तू निर्दोष होना चाहता है तो जा और अपनी सारी सम्पत्ति बेचकर जो धन मिले वह गरीबोंको बाँट दे। इससे तुझे दिव्य निधि प्राप्त होगी। फिर मेरे पास

आकर मेरा अनुयायी बन।' यह सुनकर वह युवक लज्जित हो वहाँ से चल दिया। कारण उसका परिग्रह बहुत बड़ा था। तब ईसाने अपने अनुयायियोंसे कहा—'मैं कहता हूँ कि धनी मनुष्यका स्वर्गमें प्रवेश पाना कठिन है। और मैं तुम्हें फिर बताता हूँ कि एक बार सुईके छेदमेंसे ऊँट निकल जा सकेगा, पर धनी मनुष्य ईश्वरके राज्यमें प्रवेश न कर सकेगा।' (Matthew 19, 16-24)

६९. आजकलके राजाओं और जमीदारोंको इसी प्रकारका उपदेश देना महात्माजीके लिए उचित है और ऐसा उपदेश करनेमें वे समर्थ भी हैं। वे कह सकते हैं, "भाइयो, तुम्हारे पूर्वजोंने यह सम्पत्ति हिंसात्मक बुद्धि-सामर्थ्यसे प्राप्त की और उसकी रक्षा तुम आज हिंसात्मक बलका आश्रय लेकर ही कर रहे हो। हिंसात्मक बल अंग्रेजोंके हाथोंमें केन्द्रीभूत हुआ है और इसलिए अँग्रेजोंका आश्रय लेना तुम्हारे लिए अनिवार्य हो रहा है। ऐसी सम्पत्ति साथ ले कर अहिंसा और सत्यके साम्राज्यमें तुम कैसे आओगे? ऊँट सुईके छेदमें एक बार निकल जायगा पर तुम्हारे लिए अहिंसात्मक साम्राज्यमें प्रवेश कर सकना संभव नहीं है। तथापि हमारा यह आग्रह नहीं है कि तुम आज ही अपनी संपत्ति बेचकर गरीबोंको बाँट दो, पर समय आनेपर अहिंसा और सत्यका साम्राज्य स्थापित करनेके हेतु अपनी सारी सम्पत्तिका त्याग करनेके लिए तुम्हें सहर्ष तैयार रहना चाहिए।

७०. "हमारे स्वराज्यमें तुम जैसे परिग्रही लोग प्रवेश कर सकेंगे, तो उसमें अहिंसा और सत्य एक दिन भी न टिक सकेगा। तुम्हारे परिग्रहकी रक्षा करनेके लिए हमें आठों पहर हिंसा करनेके लिए तैयार रहना पड़ेगा। और उतनेसे काम न चलनेके कारण जिस प्रकार श्रमण ब्राह्मणोंको झूठे पुराण रचने पड़े वैसे ही हमें भी रचने पड़ेंगे या आजकलके अधिकारी वर्गकी तरह संरक्षणयुक्त विधानों-की रचना और राष्ट्रसंघोंकी स्थापना करनी पड़ेगी। अर्थात् पुनः असत्य और हिंसाके महापंकमें लोटनेकी हमपर नौबत आयेगी। इसलिए हम अपने स्वराज्यमें परिग्रही लोगोंको स्थान देना नहीं चाहते।"

७१. इसपर आजकलके हमारे सुसम्पन्न लोग कहेंगे कि—'ऐसी बात है तो हम अँग्रेजोंका ही पल्ला क्यों न पकड़े रहें?' इसपर कहा जा सकता है—"लेकिन भाइयों, यह तुम्हारा भ्रम है कि अँग्रेजोंका आश्रय लेकर तुम अपने

राज्य और रियासतें सदा अपने हाथमें रख सकोगे। ज़ार और रूसी अमीर-उमराकी शक्ति अँग्रेजोंसे कई गुना अधिक थी। पर वह कहाँ गई? जो ज़ार करोड़ों आदमियोंको युद्ध-क्षेत्रमें भेजकर मृत्यु-मुखमें डाल सका, वह स्वयं बाल-बच्चोंसहित असहाय दशामें मरा! रशियाके वे उन्मत्त अमीर-उमरा आज कहाँ हैं? वे आज पेरिस, न्यूयार्क आदि नगरों में दरबान या मोटर-ड्राइवरका काम कर किसी तरह अपना निर्वाह कर रहे हैं! पाश्चात्य पूँजीवादियोंने उन्हें इतना तो भी आश्रय दिया है, पर तुम्हें वह भी मिलना संभव नहीं है। यदि तुमपर हिन्दुस्तान छोड़कर भागनेकी नौबत आई तो तुम एशियावासी होनेके कारण अमेरिकामें तो प्रवेश ही न पा सकोगे और यूरोपमें यदि प्रविष्ट भी हो सके तो दरबानका भी काम तुमको कोई न देगा क्योंकि यूरोपियन मजदूर ही बेरोज-गारीसे ग्रस्त हैं। ऐसी परिस्थितिमें तुम अँग्रेजोंकी शरण जाकर कुछ दिन भले ही आत्मरक्षण कर सको, पर निर्भय नहीं रह सकते, और सदा भयग्रस्त दशामें रहना तो शुद्ध नरकवास है। इससे तुम्हें मुक्त होना हो तो अपने परिग्रहकी वासना छोड़ो और हमारे साथ आओ। सब लोगोंकी सेवा करनेमें जो अप्रतिम आनन्द है उसमें तुम भी साझेदार बनो।[१]" कौन कह सकता है कि महात्मा गाँधी के मुखसे ऐसा उपदेश शोभा न देगा?

---

१. विनय पिटकके चुल्लवग्गमें शाक्योंके राजा भद्दियकी कथा है। वह युवा-वस्थामें ही, अन्य पाँच शाक्य कुमारों और उपाली नाईके साथ, भिक्षु बनकर एकान्तवास करते समय उच्चस्वरसे "अहो सुखं, अहो सुखं" कहा करता था। यह सुनकर कुछ भिक्षुओंको सन्देह हुआ कि उसे अपने राज्य-सुखका स्मरण हो आता है। भगवान्‌को यह बात मालूम हुई और उन्होंने भद्दियको बुलवाकर "इस संबंधमें पूछताछ की। तब भद्दियने कहा—भगवन्, जब मैं राजा था, उस समय मेरी रक्षाके लिए राजप्रासादमें और राजप्रासादके बाहर, नगरमें और नगरके बाहर, और देश के बाहर कड़ा प्रबंध रखा जाता था। ऐसा होते हुए भी मैं भयभीत, उद्विग्न, सशंक और त्रस्त वृत्तिसे रहा करता था पर अब मैं अरण्यमें अथवा एकान्तस्थानमें निर्भय, अनुद्विग्न निःशंक और निस्त्रस्त वृत्तिसे संचार करता हूँ और इसी कारण मेरे मुखसे 'अहो सुखं, अहो सुखं' ये उद्गार निकलते हैं"

७२. इसपर परिग्रही सम्पन्न लोग पूछेंगे कि—'क्या तुम हमारी जमीनें और राज्य जबर्दस्ती छीननेवाले हो?' इसपर यह उत्तर है कि—यह तुमपर अवलंबित रहेगा। यदि तुम्हारे अंतःकरणमें जनताके प्रति व्यथा उत्पन्न होकर पार्श्व और बुद्धके समान तुम्हें परिग्रहोंसे भय लगने लगेगा तो तुम्हारी जमींदारियाँ छीन लेनेका कारण ही न रह जायगा। जापानमें बहुतसे मांडलिक राजा थे और वे अपने अधिकारके लिए आपसमें लड़ते थे। पर जब उनमें राष्ट्र-प्रेमकी ज्योति जाग्रत् हुई तब उन्होंने मिकाडोके द्वारा अपने सब अधिकार स्वदेशको अर्पण कर दिये। हमारी यह धारणा नहीं है कि तुम उनसे हीन हो। हम ऐसा नहीं समझते कि जिस देशमें पार्श्व और बुद्ध जैसे त्यागी तत्त्वज्ञों और प्राणिमात्रकी सेवामें तत्पर रहनेवाले अशोक जैसे राजाओंने जन्म लिया, उसी देशके तुम राजे-रजवाड़े और जमींदार ऐसी महान् विभूतियोंका अनुकरण करनेमें असमर्थ हो। केवल स्वदेशके लिए ही नहीं, वरन् समस्त मानव-जातिकी उन्नतिके लिए अपने इस यःकश्चित् परिग्रहका त्याग करनेके लिए तुम्हें उत्सुक होना चाहिए। यदि तुम इस त्यागको कार्यान्वित कर दिखाओगे तो तुम्हारी कीर्ति संसारके इतिहासके अन्ततक अजर-अमर होकर रहेगी। पर यदि तुम स्वार्थी बनकर अपनी रियासतोंकी रक्षा करने बैठोगे, तो

यह हुआ राज्य-सुखके त्यागका आनन्द। और देखिए शांतिदेवाचार्य अपने बोधिचर्यावतारमें कहते हैं—

सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थि च मे मनः।
त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं वरं सत्वेषु दीयताम्॥

(सर्वस्वका त्याग वही निर्वाण है और उसकी मैं इच्छा करता हूँ। यदि मुझे सर्वस्व छोड़ना है तो वह प्राणिमात्रके हितके लिए देना अच्छा।)

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥

(प्राणिमात्रके दुःखोंसे मुक्त होनेपर जो आनन्दसागर मिलेगा, उतनेसे ही *क्या तृप्ति न होगी? अरसिक मोक्ष किसलिए चाहिए?)*

मानव-जातिके लिए अपनी छोटी-मोटी रियासतोंका त्याग करनेसे हमारे धनी लोग क्या ऐसे अप्रतिम आनन्दमें साझेदार न होंगे?

तुम्हारे प्रति किसे आदर होगा ? तुम यह हीनवृत्ति छोड़ो और महात्मा गाँधीके कथनानुसार हिन्दुस्तानके सच्चे पालक अथवा मार्गदर्शक बनो। इसके लिए हम तुम्हें जागृत करनेका यथासंभव प्रयत्न करेंगे और यह आशा करते हुए अपने कार्यमें अग्रसर होंगे कि हमारा यह प्रयत्न सफल होगा।

७३. राजे-रजवाड़ों, जमींदारों तथा अन्य धनिकोंके संपत्ति-परिग्रहकी ही भाँति, अथवा उससे भी अधिक, साधारण लोगोंका सांप्रदायिकता-परिग्रह हमारे देशके लिए घातक हो रहा है। समाजवादियोंका जो यह कहना है कि साम्प्रदायिकता अफीम है, उसकी सत्यताका अनुभव हम खूब कर रहे हैं। पर साम्प्रदायिकताका व्यसन घटानेके लिए राष्ट्रीयताका नया व्यसन लगा लेना उचित नहीं है। साम्प्रदायिकता यदि अफीम है तो राष्ट्रीयता शराब है, और यह हम देख ही रहे हैं कि पाश्चात्य देशों और जापानमें उसका कैसा दुष्परिणाम-हो रहा है। अतः हमारे नेताओंका यह प्रमुख कर्तव्य है कि धनिकोंको संपत्ति-परिग्रहसे, जनसाधारणको साम्प्रदायिकता परिग्रहसे, तथा अनुकरणशील शिक्षित वर्गको राष्ट्रीयता-परिग्रहसे मुक्त करें। कमसे कम उनको स्वयं इन सब परिग्रहोंसे मुक्त होना चाहिए। स्वयं ही परिग्रहोंमें फँसे रहकर वे उनसे (परिग्रहोंसे) दूसरोंका उद्धार कर सकें, यह सम्भव नहीं। सत्याग्रह सफल होनेके लिए इन परिग्रहों और इनसे मुक्त होनेके साधनोंका ज्ञान तथा तदनुरूप आचरण अत्यावश्यक है।

प्रज्ञा और अहिंसा

७४. पशु-पक्षी आदिमें एक प्रकारका ज्ञान होता है, पर उसे प्रज्ञा नहीं कह सकते। पूर्वानुभवसे जिस ज्ञानका विकास होता है उसे प्रज्ञा कहते हैं। वह केवल मनुष्य जातिमें ही दिखाई देती है। हाथी आदि पशु पाँच हजार वर्ष पूर्व जैसे दल बाँधकर रहते थे, वैसे ही आज भी रहते हैं। विभिन्न जातियोंके पक्षी पाँच हजार वर्ष पूर्व जिस प्रकार अपने घोंसले बनाते थे उसी प्रकार आज भी बनाते हैं। *अर्थात् इन पशु-पक्षियोंके ज्ञानकी उनके पूर्वानुभवसे अभिवृद्धि नहीं होती। पर मनुष्यका ऐसा नहीं है। उसे अपने पूर्वानुभवका अत्यन्त उपयोग होता है।* मनुष्यके पास अपने संरक्षणके लिए सींग, नख आदि साधन नहीं हैं। तथापि

केवल इस प्रज्ञाके बलपर मनुष्य विभिन्न शस्त्र तैयार कर अपना संरक्षण करनेमें समर्थ होता है। प्रज्ञाका विकास होनेके लिए पूर्वानुभवकी भाँति सामाजिक घटनाकी भी आवश्यकता होती है। एक ही मनुष्यके अनुभवसे ज्ञानका विकास नहीं हो सकता। उसके अनुभवसे समकालीन अथवा उसके बाद आनेवाले लोग लाभ उठाते हैं और इससे मनुष्य-समाजकी प्रज्ञाका बराबर विकास होता जाता है।

७५. पर यदि प्रज्ञाके साथ ही उसी अनुपातमें अहिंसाका भी विकास न हो तो प्रज्ञासे उतना लाभ नहीं होता, जितना होना चाहिए। मान लीजिए कि एक टोलीको नये शस्त्रोंका पता लगा और उस टोलीके लोग उन शस्त्रोंकी सहायतासे शिकार आदि कर अपना निर्वाह करने लगे। पर यदि उनकी अहिंसा या दयाबुद्धिका उसी अनुपातमें विकास न हुआ तो वे जैसा व्यवहार पशुओंसे वैसा ही अन्य टोलियोंके मनुष्योंसे भी करने लगते हैं, अर्थात् अन्य दुर्बल टोलियाँ हाथमें पड़ जानेपर वे उनके मनुष्योंको मार डालते हैं, और कुछ टोलियोंके लोग तो अपने शत्रुओंका मांसतक खाते हैं! तात्पर्य यह कि प्रज्ञा मनुष्य समाजकी उन्नतिके लिए कारणीभूत अतः तारक अवश्य होती है, पर वह दयाके साथ-साथ न चले तो मारक भी हो जाती है।

७६. यह बात आधुनिक मनुष्य समाजमें भी दिखाई देती है। गोरे लोगोंने आस्ट्रेलिया और अमेरिकामें जाकर वहाँके मूल निवासियोंका प्रायः नाश ही कर डाला है। अफ्रीकाके नीग्रो लोगोंका उन्होंने संहार तो नहीं किया तथापि उनपर अत्यन्त अत्याचार किये हैं। इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं कि वे लाखों नीग्रो लोगोंको पकड़कर अमेरिका ले गये और वहाँ उन्हें बेच डाला।[1] हिन्दुस्तानमें वे इतना अत्याचार नहीं कर सके तथापि धन-शोषणके रूपमें उन्होंने यहाँ भी बहुत अत्याचार किये हैं। और यह सब क्यों? अपनी प्रज्ञाके सहारे वे आगे बढ़े, पर उनकी दया-बुद्धि अपने देशतक ही सीमित रही। इन दोनों गुणोंमें जो समत्व होना चाहिए था वह उत्पन्न न कर सकनेके कारण उनके हाथसे ये अत्याचार हुए और आज भी हो रहे हैं।

---

१. वि० ५।५४.

७७. सामाजिक विकासका उत्कृष्ट ज्ञान रखनेवाला कार्ल मार्क्स जैसा दूसरा तत्त्ववेत्ता क्वचित् ही हुआ होगा, पर उसे भी यूरोपियनोंकी संकुचित वृत्ति बाधक हुई। उसने शास्त्रीय रीतिसे सिद्ध कर दिखाया कि सारे संसारके पीड़ितोंके संघटनसे पीड़कोंको हटाकर अत्यन्त सुखकर सामाजिक संगठन किया जा सकता है। पर इस कार्यमें अहिंसाका उपयोग किया जा सकता है, यह बात उसके भी ध्यानमें नहीं आई। उसका कहना था कि सारे संसारके पीडित लोगोंको एक होकर पीड़कोंका संहार करना चाहिए। और इसके अनुसार ही रूसकी क्रान्ति हुई है।

७८. सब पीड़ित अथवा मजदूर यदि एकताबद्ध हो जायँ तो पीड़कोंको मारनेकी आवश्यकता ही न रह जायगी। परंतु जिस संस्कृतिमें मार्क्सका जन्म हुआ, उसकी परंपरा ही ऐसी है कि बिना किसी विरोधीके उसे चैन ही नहीं पड़ता। पाश्चात्य संस्कृतिके आद्य प्रवर्तक ग्रीक थे। उनकी सारी संस्कृति अपने नगरतक परिमित थी, अर्थात् अन्य नगरोंके लोगोंसे उनका पूर्ण विरोध था। आधुनिक यूरोपमें उस संस्कृतिका पर्यवसान राष्ट्रीयतामें हुआ है। यूरोपियन राष्ट्रोंके लोगोंकी धारणा है कि अपने राष्ट्रके लिए कोई भी कुकृत्य करना उचित है। ग्रीक लोग जैसे अन्य नगरोंको विरोधी समझते थे, वैसे ही ये राष्ट्र अन्य-राष्ट्रोंको विरोधी समझते हैं और उनके नेता यह प्रतिपादन करते हैं कि ऐसी प्रतियोगिताके बिना संस्कृतिकी उन्नति न होगी। इसपर कार्ल मार्क्सने जो उपाय निकाला है वह यह है कि मजदूरवर्गको एकताबद्ध कर उसे पूँजीवादियोंके विरुद्ध खड़ा किया जाय, अर्थात् राष्ट्र-राष्ट्रमें जो विरोध है, वह पूँजीपतियों और मजदूरोंमें डाला जाय। एक बार पूँजीवाद नष्ट हो जानेपर यह विरोध अपने आप ही नष्ट हो जायगा। यह तरकीब काँटेसे काँटा निकालनेकी तरह है।

७९. पर इस तरकीबमें एक डर है और वह यह कि काँटेसे काँटा निकालते समय पहला काँटा निकलनेके पहले ही यदि दूसरा काँटा टूटकर उसकी अनी अन्दर ही रह जाय तो पहलेसे भी अधिक कष्ट होगा। यह स्थिति आज इटली और जर्मनीमें उत्पन्न हुई है। समाजवादके काँटेसे राष्ट्रीयताका काँटा निकालनेका प्रयत्न किया गया पर पहला काँटा न निकलकर दूसरा काँटा भी अन्दर ही रह गया।

८०. "सशस्त्र क्रान्ति कर पूँजीपतियोंको मारो," यह कहनेकी अपेक्षा टॉलस्तायका यह उपदेश अधिक हितकर था कि "पूँजीपतियोंके लिए शस्त्र न ग्रहण करो" । यही उपदेश रूसी क्रांतिके सफल होनेका अंशतः कारण हुआ। जार लोगोंको युद्ध-क्षेत्रमें जबरदस्ती भेजवा सका पर जब लोगोंने लड़नेसे इनकार किया तब जारशाही अपने आप ही ढ़ह पड़ी । पिछले महासमरके आरंभमेंही यदि सब पाश्चात्य राष्ट्रोंके मजदूरोंने इस प्रकार सत्याग्रह किया होता, तो वह युद्ध एक सप्ताहमें ही समाप्त हो गया होता और पूँजीवादी सत्ताधीशोंका वर्ग जारशाहीके समान अपने-आप ही नष्ट हो गया होता। कार्ल मार्क्सकी प्रज्ञाको महात्मा गाँधीकी अहिंसाका सहयोग प्राप्त हुआ होता, तो पाश्चात्य राष्ट्र महासमरके घोर संकटमें पड़े ही न होते ।

८१. हमारे देशमें पार्श्वनाथ और बुद्धदेवने अहिंसाके प्रवाहको बहुजनहितकी ओर मोड़ा, पर राजनीति क्षेत्रमें उसका प्रवेश न होनेके कारण वह साम्प्रदायिकताके गर्तमें जाकर रुक गया और उसके चारों ओर पुराणोंका जंगल बढ़ गया। उस प्रवाहको पुनः गति देकर उसे राजनीतिक क्षेत्रकी ओर मोड़नेका महात्मा-गाँधीका प्रयत्न सचमुच अभिनन्दनीय है। पर दिशाभ्रम होनेके कारण वह बीचमेंही रुक गया। यह एक प्रकारसे अच्छा ही हुआ। कारण वह उसी प्रकार बढ़ता जाता तो राष्ट्रीयता के गर्तमें गिरकर हानिकारक हुआ होता। जब अहिंसाको समाजवादियोंकी प्रज्ञाका सहयोग प्राप्त होगा तभी उसका यह प्रवाह उचित दिशामें बढ़ेगा और मानव-जातिके कल्याणके लिए वह कारणीभूत होगा ।

समाप्त